प्रबन्ध-पयोधि

[भाग २]

लेखक

डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, एम० ए०, पी-एच० डी०

आगरा

दमदमजी एण्ड कं० (रजि०)

प्रकाशक एवम् पुस्तक-विक्रेता

प्रकाशक :—
दमदमजी एँड कं० (रजि०)
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

मुद्रकः—
प्रियम्वदा प्रेस,
नौबस्ता, आगरा।

सादर समर्पित

पूज्य गुरुदेव श्री पंडित जगन्नाथजी तिवारी

को

(जिनके चरणों में बैठकर मैंने हिन्दी का ज्ञान प्राप्त किया)

विषय-सूची

प्रस्तावना

निबन्ध गद्य रचना का एक भेद है। अन्य कला कृतियाँ अथवा साहित्यिक रचनाओं की भाँति निबन्ध भी एक अभिव्यक्ति है। फ्रांस देश के मौनटेन नामक लेखक ने सर्व प्रथम निबंध को एक स्वतन्त्र सम्मानित पद प्रदान किया था। मौनटेन के निबंध ऐसे Essay नाम से लिखे गए थे और यही नाम आज तक चला आ रहा है। ऐसे Essay शब्द का अर्थ होता है व्यक्तिगत प्रयास। "प्रयास" ही साहित्य का एक पृथक अंग बन गये। साहित्य के अन्य अंगों की भाँति ये भी पुष्ट होते रहे, और आज तो साहित्य का यह अग संभवतः अन्य सभी अंगों की अपेक्षा विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है। हिन्दी के निबंध इन्हीं प्रयोगों का रूपान्तर हैं। अथवा हिन्दी का निबंध साहित्य पश्चिम की देन है। हिन्दी का निबंध युग 'भारतेन्दु युग" के साथ प्रारंभ होता है।

व्यक्तिगत प्रयास होने के कारण प्रारंभ से ही निबंधों में स्वाभाविक और तर्क सम्मत भावनाओं तथा विचारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ और आगे चलकर वे रूढ़ियों के आन्दोलन करने वाले और बुद्धि सम्मत अनुभूतियों को प्रकट करने वाले प्रमुख साधन सिद्ध हुए।

निबंध वह गद्य रचना है जिसके द्वारा किसी विषय पर आकर्षक सरस, रुचिर तथा विवेचना पूर्ण ढङ्ग पर किसी व्यक्ति (लेखक) के विचार प्रकट किए गए हों, इस प्रकार निबन्ध के मुख्यतया दो अंग ठहरते हैं (१) विचार समूह और (२) शैली अंग्रेजी में इन्हें क्रमशः matter और mannerकहते हैं। निबन्ध लेखन की अधिकांश सफलता शैली पर निर्भर है। इसी आधार पर अंग्रेजी की यह लोकोक्ति Style is the man

चल पड़ी है । परन्तु विचार समूह का भी अपना स्थान है। बिना उसके निबन्ध निर्जीव अथवा व्यर्थ ही समझा जाएगा। विचार समूह निबंध की आत्मा है और शैली शरीर अथवा वाह्य परिधान।

निबंध लिखने के लिए हमारे पास विचार हों और साथ ही हो शैली पर अधिकार। हमारे पास विचार हों और आता हो उन्हें व्यक्त करना विचारों को जितनी ही अच्छी तरह व्यक्त किया जायगा, निबन्ध उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा। शैली विचारों की अनुगामी होनी चाहिए।

निबन्ध लिखने के लिये सर्व प्रथम आवश्यकता है "मन के संकल्प की" यदि हम निबन्ध लिखना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि मन में संकल्प करलें कि हमें निबन्ध लेखक बनना है। इसके बाद आपको अपने निबंध का चुनाव करना चाहिए।

किसी भी लेख पर लेखनी उठाने से पूर्व हमें चाहिए कि उस विषय पर खूब मनन करें। उसका उसके सम्बन्ध में उपलब्ध समस्त सामग्री एकत्रित करलें। और उसका खूब मनन करें उसे अपने मस्तिष्क में भरकर बार बार पढ़ें और वह जब एक प्रकार से बाहर छलकने लगे तब उस विषय पर लिखना प्रारम्भ करें।

यह काम एक दिन का नहीं है इसके लिए आवश्यक है विस्तृत अध्ययन व्यापक अनुभव एवं निरीक्षण। हमें चाहिए कि पुस्तक समाचार पत्र आदि, जो कुछ भी पढ़े, केवल मनोविनोद के लिए ही न पढ़ें उन्हें अपने ज्ञान भण्डार की दृष्टि से पढ़े। हमें चाहिए कि प्रत्येक क्षण नवीन, विचार एवं नवीन प्रेरणायें ग्रहण करते रहे हैं। और जो भी उपयोगी अथवा मतलब की बात दिखाई दे उसे तुरन्त नोट करलें, सच्चा अध्ययन वही है जो हमें नई बातें बतावे। तथा हमारे ज्ञान भंडार में अभिवृद्धि करे। सारांश यह है कि अपना ज्ञानवर्द्धन करने तथा विचारों को परिपक्व बनाने के लिए हमें तीन काम करने चाहिए। (१) हम नित्य नियमित रूप से अध्ययन करें (२) जो भी मतलब नई अथवा उपयोगी बात दिखाई दे, उसे तुरन्त अपनी नोट बुक में नोट करलें (३) अपने अध्ययन को अपने पाठ्य

पुस्तकों तक ही सीमित न रखें हमें चाहिये कि अपने रुचिकर विषयों से सम्बन्धित विभिन्न पुस्तकें पढ़ें तथा पत्र पत्रिकायें पढ़ते रहें।

अध्ययन के अतिरिक्त अनुभव एवं निरीक्षण की भी आवश्यकता होती है। अध्ययन द्वारा हम दूसरों के अनुभवों और विचारों से कुछ सीखते हैं। अनुभव और निरीक्षण द्वारा हम स्वयं अपने अनुभव द्वारा कतिपय धारणायें निर्धारित करते हैं। व्यक्तिगत अनुभव का परिणाम वास्तविक और स्थायी होता है। और निरीक्षण के द्वारा सचाई हमारे सम्मुख आ जाती है। मान लीजिए कि हम ताजमहल पर निबन्ध लिखना चाहते हैं। हम उसके सम्बन्ध में चाहे जितना पढ़लें अथवा चाहे जितने व्यक्तियों से सुनलें, परन्तु जब तक हम स्वयं न देखलें तब तक उसके विषय में कलम चलाने के अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि हमारे सम्मुख उसकी तसवीर तो होगी ही नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि निबन्ध लेखन में अनुभव और निरीक्षण का विशेष महत्व है। एक बार उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने यह बात कही थी कि अविवाहित पुरुषों को विधवा विवाह जैसी समस्या पर लेखनी उठाते देखकर मुझे आश्चर्य भी होता है और हंसी भी आती है। अतः हमें चाहिए कि अपने सम्मुख घटने वाली प्रत्येक घटना को आंखें खोलकर देखें, हम जहां कहीं भी जांय वहां सब तरह चौकन्ने और सावधान रहें, वहीं के रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान आदि में यथा शक्ति पूरा पूरा परिज्ञान प्राप्त करें, आदि।

इस प्रकार विषय का अध्ययन और प्रत्यक्ष दर्शन के द्वारा हमारे प्रयास के लिए सामग्री इकट्ठी है। हम उसकी सहायता से निबंध लिखना चाहते हैं। हमने अपना विषय भी चुन लिया है। किन्तु लिखना क्यों कर प्रारम्भ हो? विचार चारों ओर बिखरे पड़े हैं और निबंध में विचारों को क्रमबद्ध एवं विवेचना पूर्ण ढंग पर व्यक्त करना आवश्यक है। इनका सीधा सा उपाय है कि निबंध का एक ढांचा तैयार कर लिया जाय। इसको निबन्ध की रूप-रेखा कहते हैं। निबन्ध की रूप-रेखा बना लेने से तीन बहुत बड़े लाभ होते हैं। (१) निबन्ध में अनावश्यक बातें नहीं आती। (२) लिखते समय कोई आवश्यक बात छूटने नहीं पाती तथा

(३) विचारों की शृंखला बन जाती है अथवा विचारधारा का एक क्रम निश्चित हो जाता है।

'रूपरेखा' के विचारों में एक-एक को लेकर लिखते चला जाना चाहिए। प्रत्येक नये विचार के लिए नया पैराग्राफ प्रारम्भ करना चाहिए ""इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिये कि निबंध की सीमा के बाहर की कोई बात न लिखी जाय अथवा निबंध से विषयान्तर न हो तथा किसी बात की पुनरावृत्ति न हो जाय। विचारों की संगति निबंध का सबसे बड़ा लक्षण है।

रचना के बाह्य रूप का नाम शैली है। बाबू श्यामसुन्दर दास के शब्दों में "रचना चमत्कार को शैली का नाम दिया जाता है। × × कवि या लेखक की शब्द योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है। एक विद्वान के मत में "शैली" विचारों का परिधान है। शैली को विचारों का परिधान न कह कर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा। इसका सारांश यह हुआ कि शैली साहित्य की वह शक्ति है कि जिसके द्वारा भावों, विचारों और कल्पनाओं को प्रभावोत्पादक ढंग पर व्यक्त करके संसार के ज्ञान भण्डार की अभिवृद्धि की जाती है।

निबंध के अन्तर्गत एक सीमित क्षेत्र में लेखक को किसी विषय पर अपने विचार प्रकट करने पड़ते हैं अतः उसे चाहिये कि अपने भावों और विचारों को थोड़े ही शब्दों में व्यक्त करे।

अर्थात् संक्षेप में विचार प्रकट करना बुद्धिमता का अनिवार्य गुण है वाली लोकोक्ति निबंध रचना के सम्बन्ध में अक्षरशः चरितार्थ होती है। निबन्ध की प्रत्येक बात मार्मिक अथवा चुटीले ढंग पर कही जाय। वह इस तरह लिखी जाय कि सीधी हृदय को प्रभावित करे और पाठक का सिर डोल जाय।

निबंध में सबसे अधिक महत्त्व भाषा का है। भाषा शुद्ध, सुबोध स्पष्ट एवं निबंध के विषय के अनुरूप है। पाठक को निबन्ध के विषय में अनुराग हो। पाठक को निबंध का प्रतिपाद्य विषय समझने में कहीं कठिनाई न हो। यदि विषय सरल है, तो भाषा भी सरल और चलती हुई होनी चाहिये....यदि निबंध दर्शन आदि जैसे किसी गंभीर विषय पर लिखा जा रहा है तो भाषा भी कठिन अथवा अपेक्षाकृत अधिक जटिल शब्दों से युक्त हो जाती है क्योंकि पारिभाषिक और संस्कृत शब्दों के प्रयोग के बिना विषय का सम्यक विवेचन न हो सकेगा। कुछ लेखकों की यह धारणा बन गई है कि संस्कृत बहुला भाषा का प्रयोग निबंध को आकर्षक बना देती है! हमारे विचार में यह धारणा भ्रांतिमय है।

निबंध में छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग किया जाय, ताकि अर्थ की दुरुहता न आने पावे तथा व्याकरण सबंधी त्रुटियां न हों। वाक्य आपस में एक लड़ी की कड़ियों की भाँति एक दूसरे के साथ जुड़े हों और प्रत्येक वाक्य अपने परवर्ती वाक्य पर सरकता सा चला जाय। वाक्यों की इस स्वाभाविक संबद्धता का ही नाम प्रवाह है। यह प्रभाव भाषा का आवश्यक गुण है। निबंध की भाषा एक नदी की धारा के समान प्रवाहपूर्ण होनी चाहिए और पाठक को कहीं किसी प्रकार की रुकावट नहीं होनी चाहिए।

निबंध रोचक ढंग से लिखा जाना चाहिये ताकि पाठक का मन उसमें रमा रहे उसकी भाषा सशक्त और सजीव हो। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा भाषा को सजीव एवं सशक्त बनाया जाता है। वाक्य के जिस अंश पर बल देना है उसे वाक्य के अन्त में रख देने से और बल देने के विचार से वाक्य को प्रश्नवाचक अथवा विस्मयादि बोधक बनाकर लिखने से भाषा में जान पड़ जाती है। लोकोक्तियों तथा मुहावरों के संबध में एक बात भली भाँति समझ लेनी चाहिए। विदेशी भाषा की लोकोक्तियां मुहावरों तथा लाक्षणिक पदावलियों के प्रयोग में विशेष सावधानी बरती जाय....बहुत से लेखक इसका हिन्दी में अनुवाद ही करके रख देते हैं। इससे भाषा में अस्वभाविकता आ जाती है....यदि विदेशी भाषा मे लाभ

ही उठाना है तो अनुवाद इस प्रकार किया जाय कि वह हमारी भाषा के आत्मा के अनुकूल हैं। जैसे—

To play with life

मुहावरे का शब्दानुवाद होता है—"प्राण से खेलना" परन्तु इसके स्थान पर "हथेली पर जान लिए फिरना" हमारी भाषा के अधिक अनुकूल रहेगा''''''बीच बीच में यथा स्थान शिष्ट एवं स्मित हास्य उत्पन्न करने वाले विनोद अथवा परिहास का पुट भाषा शैली में "सोने में सुहागे" का काम करता है।

अलंकारों के द्वारा भाषा के सौन्दर्य अथवा चमत्कार की वृद्धि होती है। स्वाभाविक ढंग पर आजाने वाले अलंकारों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। दिमाग खुरच खुरच कर अथवा सोच-सोच कर अलकार ढूंढ़ने से भाषा पर अनावश्यक बोझ लद जाता है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि सादृश्य मूलक अलंकार भाषा को ललित, रोचक और रमणीय बनाने के हेतु होते हैं।

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दे देना काफी सहायता करता है। सूक्ष्म विचार प्रकट करने के दो ही उपाय हैं (१) कठिन शब्दों के द्वारा उस भाव को व्यक्त किया जाय अथवा (२) उदाहरण देकर सरल और सुबोध भाषा द्वारा विषय को स्पष्ट कर दिया जाय। आप सहमत होंगे कि द्वितीय मार्ग का अवलम्बन ही हितकर है.. शब्द जाल में तो पाठक उलझ जायगा और बहुत सम्भव है कि प्रति पाद्य विषय को हृदयंगम करने से वंचित रह जाय। अपने कथन की पुष्टि करने अथवा अपने तर्क को विशेष बल प्रदान करने के लिए अन्य विद्वान लेखकों अथवा प्रसिद्ध कवियों की उक्तियां उद्धृत कर देना विशेष उपयोगी सिद्ध होता है।

निबन्ध के मुख्यतया तीन भाग होते हैं (१) आदि (२)मध्य और (३) अन्त। निबंध के आदि भाग पर निबंध की बहुत कुछ सफलता निर्भर रहती है। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए अभ्यास चाहिए। निबंध का आरम्भ इस प्रकार किया जाय कि पाठक उसकी ओर आकर्षित हो और उसे आद्योपान्त पढ़ डालने के लिए इच्छुक हो जाए। अतएव निबंध का

प्रारम्भ अत्यन्त सावधानी के साथ किया जाना चाहिए । डा० सत्येन्द्र ने निबन्ध प्रारम्भ करने के तेरह तरीके बताए हैं। १. स्तुत्यात्मक । २. आवेगात्मक । ३. अन्तरस्थ सुक्ति उल्लेखात्मक ४. सूक्ति आरम्भ । ५. उद्धरणात्मक ६. कथात्मक ७. परिभाषात्मक ८. घटनात्मक ६. प्रश्नात्मक १०. तुलनात्मक ११ ऐतिहासिक १२. फलागमात्मक १३. आकस्मिक आरम्भ । (निबंध रत्नाकर पृष्ठ संख्या २६ से २१ तक) सारांश यह है कि अपनी योग्यता, साधना तथा रुचि के अनुसार लेखक निबंध का आरम्भ करते हैं । कोई लेखक विषय की परिभाषा देकर लेख प्रारम्भ करता है। कोई लेखक किसी उक्ति के प्रयोग अथवा किसी दृश्य को उपस्थित करके निबंध प्रारम्भ करता है, आदि । प्रारम्भ करने का ढङ्ग निबंध के विषय और लेखक की व्यक्तिगत रुचि अथवा उसके व्यक्तित्व, इन दो बातों पर निर्भर रहता है ।

निबंध का मध्य भाग निबंध का वास्तविक कलेवर है। इसके अन्तर्गत विषय का सविस्तार विवेचन किया जाता है ।

आरम्भ की भाँति निबंध का अन्त अथवा उपसंहार करना अत्यन्त कठिन होता है। इसके सम्बन्ध में कोई विशेष नियम नहीं बनाया जा सकता। बस एक बात ध्यान रखने की है । अन्त इस प्रकार किया जाय कि निबन्ध का उद्देश्य पूरा हो जाए निबंध का उपसंहार विभिन्न प्रकार से किया जाता है। जैसे १ अन्त में उसका सारांश दे दिया जाय २. निबंध के लिए किए गए विवेचन का अन्त में निष्कर्ष दे दिया जाय (३) अन्त में अपना निश्चित निर्णय) दे दिया जाए (४) किसी कवि या लेखक की उक्ति देकर निबंध समाप्त कर दिया जाए (५) विषय का भविष्य बता दिया जाए अथवा उसके सम्बध में सुधार करने के सुझाव दे दिये जायँ। आदि। तात्पर्य यह है कि निबंध का उपसंहार बहुत सोच समझ कर किया जाना चाहिए ।

× × × +

निबंध-लेखन एक कला है। निरन्तर अभ्यास और सतत प्रयत्न के द्वारा ही इस दिशा में सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए

अपेक्षित हैं अध्ययन, निरीक्षण; अध्यवसाय और मनन विभिन्न विषयों की पुस्तकों और पत्रिकाओं को पढ़े तथा गुरुजनों की सेवा किये बिना निबन्ध-लेखन में कुशल बनने की बात सोचना केवल बाल-हठ ही समझा जाएगा।

\+ + + +

सामान्यरूप से अधिकांश विद्यार्थी निबंध-लेखन से जी चुराते हैं। उनके हृदय में निबंध लेखन के प्रति रुचि उत्पन्न करने के विचार से मैंने "प्रबन्ध-पयोधि" की रचना करने का सङ्कल्प किया था। "प्रबंध-पयोधि" (भाग १) 'इण्टर' तथा 'विशारद' के परीक्षार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखा गया था। एम० ए०; बी० ए०; साहित्यरत्न आदि उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लाभार्थ प्रस्तुत पुस्तक (प्रबंध-पयोधि, भाग २) की रचना की गई। साहित्यिक लेखों के अतिरिक्त अन्त में बीमा व्यवसाय सम्बंधी एक परिच्छेद जोड़ दिया गया है मैंने यह कौमर्स के विद्यार्थियों के हित की दृष्टि से किया है।

पुस्तक के लिखने में मैंने अनेक पुस्तकों से सहायता ली है। उन पुस्तकों के लेखकों के प्रति आभार प्रदर्शित कर देना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

पुस्तक कैसी है, इसका निर्णय तो पाठक वृन्द ही कर सकेंगे।

शीतला गली
आगरा
दीपावली, संवत् २००६

विनीत—
राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी

१ : साहित्य में सत्यं, शिवं और सुन्दरम्

रूप-रेखा

१—सत्यं, शिवं सुन्दरम् का प्रचार
२—साहित्य और सत्य
३—साहित्य और शिवत्व
४—साहित्य और सौन्दर्य
५—उपसंहार—सत्साहित्य का स्वरूप

सत्यं, शिवं और सुन्दरम् अँगरेज़ी के The True, The Good and the Beautiful शब्दों के अनुवाद हैं। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने सर्वप्रथम बँगला भाषा में इनका प्रयोग किया था। वहाँ से हिन्दी के साहित्यिकों ने इसे ग्रहण किया। पदावली अनुवादित होने पर भी मौलिक सदृश आकर्षक सिद्ध हुई, और अब जब कभी काव्य अथवा साहित्य की चर्चा होती है इनका उल्लेख करना आवश्यक-सा बन गया है।

साधारण समीक्षक की दृष्टि में तीनों गुण अभिन्न हैं, परन्तु गम्भीरता-पूर्वक विचार करने वालों में इस सम्बन्ध में मतभेद है। सौन्दर्य और सत्य को एक स्वर से काव्य के अनिवार्य अङ्ग स्वीकार किया जाता है, परन्तु उसके 'शिवत्व' वाले अङ्ग के सम्बन्ध में मतभेद है! इस विषय को लेकर आधुनिक यूरुप में अनेक वाद उठ खड़े हुए। यथार्थवाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद आदि। कुछ विद्वानों ने 'लोकहित' को काव्य से बहिष्कृत कर दिया और धार्मिक प्रकृति के कुछ लोगों ने लोकहित को काव्य का सर्वस्व ही बना दिया, उनकी दृष्टि में काव्य, नीति का उपदेशक मात्र बन गया। इन दो परस्पर विरोधी मतों के बीच में कितने ही अन्य मत खड़े हुए! अस्तु!

कवीन्द्र रवीन्द्र ने लिखा है कि "सत्य की पूजा सौन्दर्य में है, विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है।" साहित्य और कला की अधिष्ठात्री—हैं देवी सरस्वती। उनका ध्यान हंस-वाहिनी और वीणा-पुस्तक-धारिणी के रूप में किया जाता है। नीर-क्षीर-विवेक में समर्थ होने के कारण हंस सत्य का प्रतीक है और वीणा 'सुन्दरम्' का प्रतिनिधित्व करती है। सामंजस्य स्थापित करने के लिए पुस्तक सत्य और हित दोनों की साधिका कही जा सकती है। उदाहरणार्थ एक दोहा देते हैं—

हमारे विचार से कर्त्तव्य-पथ पर आकर 'सत्यं' 'शिवं' बन जाता है और भावना से समान्वित होकर 'सुन्दरम्' के रूप में दर्शन देता है। इस प्रकार 'सुन्दरम्' 'सत्य' का परिमार्जित रूप ठहरता है। बाबू गुलाबराय के शब्दों में "सौन्दर्य सत्य को ग्राह्य बनाता है" यथा—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप
लोकसेवा में शिवं अविकार

—सुमित्रानन्दन पन्त

अँगरेज़ कवि कीट्स ने इसी प्रकार कविता में सत्य और सौन्दर्य का तादात्म्य स्थापित किया है—

Beauty is truth, truth beauty. That is all
Ye know on earth, and all ye need to know
(An ode)

अतः स्पष्ट है कि 'सत्य' को 'सुन्दरम्' के शासन में रखना कवि गण क्यों आवश्यक समझते हैं?

साहित्य और सत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु साहित्य का 'सत्य' इतिहास अथवा विज्ञान के सत्य से भिन्न होता है। इतिहास का सत्य घटनाओं के इतिवृत्तात्मक वर्णन में सीमित होता है, विज्ञान का सत्य वस्तुओं के विश्लेषणात्मक एवं वास्तविक वर्णन में सन्निहित है अथवा इतिहास और विज्ञान हमें यह बताते हैं कि कौन-कौन सी

घटनाएँ किस प्रकार घटीं, जीवन और संसार में कौन-कौन-सी वस्तुएँ हैं आदि। साहित्य का सत्य इस सत्य से भिन्न होता है। साहित्यकार का लक्ष्य इतिवृत्तात्मक वर्णन करना नहीं अपितु रसोद्रेक द्वारा आनन्द की सृष्टि करना होता है। वह यह न कह कर कि जीवन कैसा है, वह यह बताता है कि जीवन कैसा होना चाहिए अथवा जीवन कैसा हो सकता है।" वैज्ञानिक अथवा इतिहासकार किसी वस्तु को देखकर केवल लिखता है कि वह वस्तु कैसी है साहित्यकार यह लिखता है कि उस वस्तु को देख कर उसके हृदय में कौन-कौन से भाव उत्पन्न हुए। वैज्ञानिक अथवा इतिहासकार सत्य के शरीर की रक्षा करते हैं, और साहित्यकार उसकी आत्मा की!

कहलाने एकत बसत. अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो. दीरघ दाघ निदाघ॥

—बिहारी

इस दोहे में ६ वस्तुओं का उल्लेख है—सर्प, मोर, हिरण, सिंह, तपोवन तथा जेठ मास की कड़ी धूप। छओं बातें सत्य हैं। साहित्यकार ने सोचा कि यदि एक दूसरे के शत्रु सर्प और मोर तथा हिरण और सिंह, एक साथ रहना सीख जायें, तो तपस्वी का आश्रम सार्थक हो। इसके लिए उसने जेठ मास की कड़ी धूप का अध्याहार किया और उपर्युक्त छन्द की रचना कर डाली। काव्य-क्षेत्र में इसी को 'सत्य' के साथ 'कल्पना' का मेल कहा जाता है। यही कारण है कि काव्यगत 'सत्य' केवल वास्तविकता की कसौटी पर कसा जाने वाला 'सत्य' नहीं होता, वह सम्भाव्य सत्य भी हो सकता है। बाह्य जगत् से स्वतन्त्र चित्रों की सृष्टि करने वाली हमारे मन की शक्ति का ही दूसरा नाम 'कल्पना' है। इसी की सहायता से प्रतिभाशाली लेखक एवं कवि अपनी अमर रचनाएँ लिखने में समर्थ होते हैं।

'कनकभूधराकार शरीरा' कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि कुम्भकर्ण का शरीर सचमुच सोने के पहाड़ के आकार का था; वरन् तात्पर्य यह है कि सोने के पहाड़ को देखकर जो भाव-चित्र हमारे मन में अंकित होता है, उस शरीर को देखकर, उसकी लम्बाई, चौड़ाई, तथा ऊँचाई का भी हमारे

हृदय-पटल पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'कल्पना-शक्ति' पूर्वसंचित अनुभवों के सम्मिश्रण द्वारा हृदय के सम्मुख एक मनोहर चित्र उपस्थित करती है और कवि की 'शाब्दिक शक्ति' उस चित्र का ऐसा सुन्दर एवं मनोहारी वर्णन करने में समर्थ होती है कि पाठक अथवा श्रोता उसे काल्पनिक न समझकर वास्तविक ही समझने लगता है। साधारण सुख का आधार हमारी सहज प्रवृत्तियाँ और इन्द्रियाँ होती हैं और उसमें 'लोक' का प्राधान्य रहता है। अलौकिक आनन्द में पहले 'कल्पना' आती है और फिर उस मानसिक अनुभव का स्थूल इन्द्रियों पर प्रभाव पड़ना है। लौकिक आनन्द का अनुभव करने के लिए अभ्यास और ज्ञान अनिवार्य नहीं है, परन्तु अलौकिक आनन्द के लिये उन्हें अनिवार्य माना गया है। काव्यानन्द अलौकिक कोटि का आनन्द है और इसी अलौकिक आनन्द की सृष्टि करना कवि या साहित्यकार का लक्ष्य रहता है।

इसका सारांश यह है कि 'साहित्य' के 'सत्य' का अभिप्राय कवि अथवा साहित्यकार की उस निष्कपटता एवं ईमानदारी से है जिसके आधार पर वह अपने भावों को ज्यों का त्यों व्यक्त कर देता है। परिस्थिति विशेष में अथवा वस्तु विशेष को देख कर साहित्यकार पर जो प्रभाव पड़े, उसे यदि वह ज्यों का त्यों अभिव्यक्त कर देता है, तो समझ लेना चाहिये कि साहित्यगत सत्य का पूर्ण निर्वाह होगया। "साहित्य का सत्य भावानुभूति की यथातथ्य अभिव्यक्ति है।"

'रामचरित-मानस' के अन्तर्गत वर्णित 'लक्ष्मण-शक्ति' के प्रसंग को लेते हैं। शक्ति लगने पर लक्ष्मण मूर्च्छित एवं मृतप्राय हो जाते हैं। रामचन्द्र विलाप करते हैं—

जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥

× × × ×

अस बिचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥

× × × ×

निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥

उपर्युक्त विलाप की दो बातें असत्य हैं (१) राम ने लक्ष्मण को सहोदर भ्राता बताया है तथा (२) लक्ष्मण अपनी माता सुभद्रा के इकलौते बेटे थे। शोक के प्रवाह में मर्यादा पुरुषोत्तम राम मर्यादा के विरुद्ध भी एक बात कह गए—'यदि ऐसा जानता तो पिता की आज्ञा मान कर वन को न आता, अथवा पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर डालता।" सम्भव है कुछ लोगों के मन में यह शंका उठे कि यदि राम किसी परिस्थिति विशेष में पिता की बात टाल सकते थे, तब फिर वे मर्यादा पुरुषोत्तम कैसे थे ? इस स्थल पर कवि का उद्देश्य केवल भ्रातृ प्रेमी राम के शोक को प्रदर्शित करना है। स्नेहार्द्र एवं बन्धु-वियोगी राम के शोक की तीव्रता प्रदर्शन करने के लिए ही उनके श्रीमुख से उपर्युक्त बातें कहलाई गई हैं। कवि केवल यही बताना चाहता है कि करुणा के प्रवाह में मर्यादा बह जाती है, अपने स्नेहियों की मृत्यु के समय बड़े बड़ों का धैर्य टूट जाता है और मानसिक सन्तुलन भग हो जाता है। बस यही साहित्य का 'सत्य' है।

साहित्य के 'शिवत्व' के सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद है। कुछ लोगों के मतानुसार साहित्य का जीवन से सम्बन्ध है, परन्तु सदाचार अथवा नीति के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका कथन है कि साहित्य में जीवन का वास्तविक, यथा तथ्य स्वरूप ही अङ्कित होना चाहिए। साहित्यकार को चाहिये कि जो देखे वही कहे अथवा लिखे। जीवन में हमें जब निराशा, पाप एवं कष्ट का साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है, तब साहित्य-निर्माता अपनी कृतियों में आशा, पुण्य और सुख का संचार करे। हमारे विचार से उक्त मत के प्रतिपादक महानुभाव दो बातें भूल जाते हैं। साहित्य और जीवन का अटूट सम्बन्ध है। साहित्यकार जीवन का विवेचन और विश्लेषण करता है। वह जीवन के अनुभवों को अपने व्यक्तित्व की छाप के साथ व्यक्त करता है। जहाँ जीवन की विवेचना होगी, वहाँ किसी-न-किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त अवश्य रहेंगे। नीति और सदाचार जीवन के आवश्यक अङ्ग हैं। अतएव नीति और सदाचार को साहित्य से पृथक करना केवल बालहठ ही कहा जाएगा। दूसरे संसार में केवल दुःख और निराशाएँ ही तो नहीं हैं। उसमें सुख और आशा भी

है। जीवन का सम्यक निरूपण करने के लिए हमें उसके उभयपक्षों को चित्रित करना ही पड़ेगा। अतः साहित्य के अन्तर्गत जीवन के शिव पक्ष की चर्चा निर्विवाद ही ठहरती है। अब शेष रह जाता है यह प्रश्न कि विजय किसकी दिखाई जाए, निराशा की अथवा आशा की, पाप की अथवा पुण्य की, दुःख की अथवा सुख की ? उत्तर में हम केवल इतना ही निवेदन करेंगे कि मनुष्य निराशा पर नहीं आशा पर जीवित रहता है, वह पापात्मा नहीं पुण्यात्मा बनने की कामना करता है, वह सुख प्राप्त का करने इच्छुक रहता है दुःख का नहीं। तब फिर यदि साहित्यिक उसे आगे की ओर बढ़ने की, ऊपर की ओर देखने की तथा कल की बात सोचने की प्रेरणा प्रदान करे, तो इसमें हानि ही क्या है ? इस सम्बन्ध में आचार्य श्यामसुन्दरदास के विचार उल्लेखनीय हैं—"साहित्य की कृति में दुहरी गंगा बहती है। एक पृथ्वी की प्रत्यक्ष धारा और दूसरी आकाश की स्वर्ग-गंगा। आँख ऊपर उठाते ही वह छिपी हुई ज्योतिर्मयी आकाश-गंगा भी प्रत्यक्ष हो जाती है। जब तक दृष्टि पार्थिव शरीर पर रहती है, वह प्रकाश की अमर धारा सुदूर आकाश की छाया-मय वस्तु रहती है, पर दृष्टि ऊपर उठते ही वह चन्द्र-तारकमयी स्वर्ग-गंगा आपसे आप चमक उठती है। अब वाद-विवाद का प्रश्न नहीं रह जाता। आँख के सामने ही दोनों धाराएँ आ जाती हैं। दोनों ही गंगा हैं। दोनों ही सुन्दर हैं। दोनों ही सत्य हैं। दोनों से ही हमारा भला होता है। दोनों ब्रह्म-कमण्डल से निकली हैं। दोनों ही शिव की जटा पर ठहरी हैं। दोनों ही हमें पवित्र करती हैं, सुख देती हैं, रसमय बनाती हैं, पर अन्तर केवल इतना ही है कि एक पृथ्वी पर बहती है, उसका हम स्पर्श करते हैं और दूसरी स्वर्ग में बहती है, उसका हम दर्शन करते हैं—अनुभव करते हैं। अनुभव इन्द्रिय-प्रधान है और द्वितीय ज्ञान-प्रधान अथवा भाव-प्रधान।"

शाश्वत और पूर्ण सत्य की रक्षा करना साहित्य का धर्म है। धर्मात्माओं की असफलता, दुष्टों की मौज, सज्जनों पर पड़ने वाले कष्ट, धूर्तों की समृद्धि अथवा सदाचारियों की अवनति एवं निर्धनता न पूर्ण सत्य हैं और न शाश्वत क्रम ही। साहित्य के अन्तर्गत मानव-जीवन का

आदर्शमय लोकोपयोगी भव्य-रूप चित्रित किया जाना चाहिए। जीवन के प्रति आशा और आस्था उत्पन्न करना ही साहित्य का चरम लक्ष्य है। अतीत के अमर साहित्यकारों की कृतियाँ आज भी इसी कारण आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं।

पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य को 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' कहा है। सुन्दर बात का सुन्दर ढंग पर वर्णन करना ही काव्य का मुख्य लक्षण ठहरता है। अतएव स्पष्ट है कि साहित्यकार सौंदर्य का उपासक होता है। जीवन अथवा प्रवृत्ति में, जहाँ कहीं भी वह सुन्दरता को देखता है, वह उसकी ओर आकृष्ट होता है और उसके द्वारा अपने मन में उत्पन्न भावों को व्यक्त करने में अपने उद्देश्य की पूर्ति एवं काव्य-सृजन की सफलता मानता है। यही कारण है कि हमें साहित्य में आन्तरिक और बाह्य दोनों ही प्रकार की सुन्दरता मिलती है। मानव-हृदय की पवित्रतम् वृत्ति का उद्घाटन, आचरण के श्रेष्ठतम् स्वरूप का दिग्दर्शन तथा मर्यादा के भव्यतम् चित्र का चित्रण करके साहित्यकार अपनी वृत्ति के आन्तरिक सौन्दर्य की सृष्टि करता है। अलंकार-योजना, सुन्दर शब्द-विधान, उपयुक्त पद-विन्यास, भाषा सौष्ठव आदि के द्वारा वह सौन्दर्य के बाह्य पक्ष का सृजन करता है।

सौन्दर्य अनन्त आनन्द प्रद है। सौन्दर्य का सम्बन्ध रूप-विधान से है। "मीठौ काह? जो जाहि भावै" के अनुसार "नीकौ काह? जो जाहि भावै" इसी कारण कतिपय विद्वान् सौन्दर्य को विषयीगत (Subjective) मानते हैं।

समै समै सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होइ॥—बिहारी

हमारे विचार से विषयीगत होने के अतिरिक्त सौन्दर्य उभयगत भी है—"रूप रिझावन हार वह, ऐ नैना रिझवार" (बिहारी) विश्वकवि रवीन्द्र ने रमणी के सौन्दर्य में आँशिक सौदर्न्य और आंशिक

स्वप्न का मेल देखा है। कविजन सौन्दर्य वर्णन के साथ-साथ उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव का भी विवेचन करते हैं।

सौन्दर्य की विभिन्न परिभाषाएँ तथा व्याख्याएँ हैं। कुछ लोग सामंजस्य, संतुलन और एकरसता को प्रधानता प्रदान करते हैं, कुछ पूर्णता में सौन्दर्य का दर्शन करते हैं, कुछ आचार्यों ने सौन्दर्य की व्याख्या करते समय उपयोगितावाद (Pragmatism) को महत्त्व दिया है- तथा कतिपय विद्वानों ने अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल वस्तु को 'सुन्दर' कहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सौन्दर्य की प्रभाव-संबंधी सुन्दर व्याख्या की है, "कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। जिस वस्तुके प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।"

भवभूति ने सौन्दर्य और रमणीयता को पर्यायवाची मानकर सौन्दर्य की इस प्रकार परिभाषा की थी, "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" अर्थात् क्षण क्षण में जो नवीनता धारण करे वही रमणीयता का रूप है। बिहारी की नयिका भी प्रतिक्षण नवीन रूप धारण करने वाली रमणी थी—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि-गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

साहित्य-शास्त्र में काव्य के आभ्यान्तर सौन्दर्य के एक अंग माधुर्य गुण को चित्त को द्रवीभूत करने वाला आह्लाद बताया गया है। यथा—

"चित्त द्रवी भावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते" (साहित्यदर्पण)।

महाकवि कालिदास के मतानुसार सौन्दर्य में सात्त्विकता उत्पन्न करने की शक्ति निहित है—"यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः" (कुमार सम्भव)।

माधुर्य जहाँ स्थायी रूप में रहेगा, वहाँ रमणीयता आ ही जाएगी। इसी रमणीयता का प्रतिपादन करना काव्य का मुख्य लक्षण है। रमणीयता में माधुर्य का भाव मिल जाने से सौन्दर्य विषयगत और विषयीगत दोनों ही बन जाता है।

साहित्य सौन्दर्य के साथ सात्त्विकता को लेकर चलता है, क्योंकि सौन्दर्य केवल बाह्य-रूप तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसका आन्तरिक पक्ष भी है। उसमें पूर्णता तभी आती है जब आकृति गुणों की परिचायिका हो। इसी आधार पर सामुद्रिक की यह लोकोक्ति चल पड़ी, "यत्राकृति तत्र गुणा वसन्ति"। 'सौन्दर्य' का यह आन्तरिक पक्ष ही 'शिवं' बनता है। प्रतिभा के आलोक से मंडित करके साहित्यकार सौन्दर्य को लोक के लिए सुलभ और ग्राह्य बनाने में समर्थ होता है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट है कि साहित्य, सत्य, शिवं और सुन्दरम् से युक्त होता है। भारतवर्ष के आर्ष पण्डितों की भाषा में इसे 'चारुता' और 'शिवत्व' कहा जाता है। प्रिय का सुहाग प्राप्त होने पर ही सुन्दरता सफल होती है—'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'। भारतवर्ष के कवियों ने अपने तपोवन में 'चारुता' का 'शिव' के साथ विवाह कराया था। इसी का नाम है रूप और अर्थ अथवा लोक-सौन्दर्य और लोक-मंगल का योग। भारतीय कवि अपनी कविता को भी तपस्या द्वारा पार्वती के समान मृदु और सारवान् बनाना चाहता है। यही आदर्श सौन्दर्य और उत्तम सौकुमार्य है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १७।१५।

अर्थात् "सत्य, प्रिय, हितकर तथा वेदशास्त्रों के अनुकूल वाक्य बोलना वाणी का तप है।" इस कारण यह साहित्य का भी आदर्श है। किरातार्जुनीय में 'हित' और 'सुन्दरम्' का योग अति दुर्लभ बताया गया है, "हितंमनोहारि च दुर्लभं वचः।" काव्य अथवा साहित्य का ध्येय इसी दुर्लभ को सुलभ बनाना है।

लोक-रंजन और लोक-मंगल की कसौटी पर ही प्रत्येक काव्य कसा जाता है। स्वर्ण-पद्म की भाँति जो सुन्दर और साथ ही सारवान् होता है, वही खरा उतरता है, उसे ही सरस्वती अपनाती है, और उसी का संसार में आदर होता है।" "ध्रुवं वपुः कांचनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या संसारमेव च।" (कुमार सम्भव ५। १६)।

---

२ : कविता के उपकरण

रूपरेखा—

१—कविता का लक्षण

२—काव्य के मुख्य उपादान तीन—बुद्धितत्त्व, रागात्मक तत्त्व तथा कल्पना तत्त्व।

३—कविता के उपकरण

(क) भाव

(ख) कल्पना

(ग) सौन्दर्य तथा रमणीय अर्थ

(घ) रस

(ङ) मानव जीवन तथा प्रकृति

(च) भाषा

(छ) अलंकार

(ज) छन्द

(झ) उपसंहार—सारांश, समस्त उपकरणों के योग द्वारा उच्चकोटि की कविता की सृष्टि सम्भव।

कविता क्या है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से दिया है। कविता की परिभाषाएँ देश, काल तथा पात्र के अनुसार परिवर्तित होती जा रही हैं। अर्थात् विभिन्न देशों के विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकार से काव्य और कविता के लक्षण निर्धारित किए हैं।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत तीन आलोचना ग्रन्थ सर्वमान्य रहे हैं—मम्मटाचार्य का 'काव्य-प्रकाश' विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' और पंडितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर।' इनमें कविता के लक्षण इस प्रकार निर्धारित किए गए हैं।

"तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती क्वापि"—काव्य-प्रकाश

अर्थात् 'ऐसे शब्द और अर्थ को कविता कहते हैं जिसमें दोष न हों, गुण हों, अलंकार हों और कभी-कभी अलंकार न भी रहें।

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"—साहित्य-दर्पण

अर्थात् "रस-भरी (कलात्मक आनंदानुभूति से पूर्ण) भाषा को कविता कहते हैं।"

"रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दः काव्यम्"—रसगंगाधर!

अर्थात्—रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं।" तात्त्विक दृष्टि से तीनों परिभाषाओं में कोई अन्तर नहीं है; परन्तु तीनों में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। सारांश यह कि शब्द और अर्थ अभेद रूप से काव्य के आधार होते हैं।

विभिन्न आलोचकों के मतों के सारांशरूप बाबू श्यामसुन्दर दास ने काव्य के तीन मुख्य उपादान निर्धारित किए हैं—"(१) बुद्धितत्त्व अर्थात् वे विचार जिन्हें लेखक या कवि अपने विषय-प्रतिपादन में प्रयुक्त और अपनी कृति में अभिव्यक्त करता है। (२) रागात्मकतत्त्व अर्थात् वे भाव जिनको उसका काव्य-विषय स्वयं उसके हृदय में उत्पन्न करता है और जिनका वह पाठकों के हृदय में संचार करना चाहता है तथा (३) कल्पना-तत्त्व अर्थात् मनमें किसी विषय का चित्र अङ्कित करने की शक्ति जिसे वह अपनी कृति में प्रदर्शित करके पाठकों के हृदय-चक्षु के सामने भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है।'

कविता का उपर्युक्त निर्धारित लक्षण तथा इन तीन उपादनों के आधार पर हम कविता के उपकरणों का विवेचन करेंगे।

आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की विशद विवेचना करके उसकी अत्यन्त व्यापक परिभाषा निर्धारित की है। उनके मतानुसार

"कविता के द्वारा जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है।......इसके द्वारा हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है × ×" कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य के हृदय का सामञ्जस्य स्थापित करना ही कविता का मुख्य लक्ष्य है। जिस प्रकार जगत के विविध रूप हैं, उसी प्रकार हमारे हृदय में अनेक भाव भरे रहते हैं। इन भावों का जगत के विभिन्न रूपों, व्यापारों तथा तथ्यों के साथ प्रकृत सामञ्जस्य स्थापित करना ही सच्ची कविता का लक्षण है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम भावों को मूलरूप और मूल व्यापार कह सकते हैं।

सृष्टि के असंख्य रूप हैं, भाव भी अगणित होते हैं। परन्तु स्थायित्व के विचार से साहित्य-शास्त्रियों ने मुख्य नौ भाव ही स्वीकार किये हैं। यथा-रति (प्रेम), शोक, क्रोध, उत्साह, हास्य, भय, जुगुप्सा, आश्चर्य और निर्वेद। इन्हें 'स्थायी भाव' कहा जाता है। ये स्थायी भाव चिरकाल तक स्थित रहकर हृदय को तन्मय कर देते हैं। बिना इनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति के कविता निर्जीव, नीरस तथा निष्फल ही समझी जाएगी। भाव-व्यंजना के कारण कविता सजीव, मर्मस्पर्शी तथा प्रभावोत्पादक बन जाती है। लक्ष्मण को मूर्छित देखकर शोकातुर राम की भावाभिव्यंजक मर्मस्पर्शिनी यह उक्ति देखिये—

"जैहउँ अवध कौन मुख लाई।
नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥
× × × ×
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई।
उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥"

भाव को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कवि को कल्पना का सहारा लेना पड़ता है जीवन में जो कुछ होता है, उसके आधार पर कवि यह व्यक्त करने का प्रयत्न करता है कि क्या हो सकता है "अथवा क्या होना चाहिए।" जिस शक्ति द्वारा कवि यथार्थ को आदर्श की ओर

उठाकर तथा आदर्श को यथार्थ की ओर खींचकर, आदर्श और यथार्थ की सन्धि-निर्माण का प्रयत्न करता है, बस उसी का नाम कल्पना है। विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में दृष्टि है, कविता में वही कल्पना बन जाती है। कवियों की कल्पना-शक्तिके महत्त्व का प्रतिपादन करने के हेतु समाज में यह लोकोक्ति चल पड़ी—'जहाँ न जाए रवि, तहाँ जाय कवि' 'अर्थात् जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँच सकती हैं, कवि उस स्थल की भी कल्पना कर लेता है !

कवि कल्पना क्यों करता है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देते है। भगवान राम अनन्त शक्ति एवं शील से सम्पन्न थे। केवल इतना कह देना था कि 'राम की शक्ति और शील अनन्त थे; अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त न होता। उनकी शक्ति का परिचय देने के लिए कवि ने यह कल्पना की कि उनका विरोधी रावण इतना अधिक बलशाली था कि वह अपने हाथों पर कैलाश पर्वत को उठा सकता था तथा उसके चलते समय पृथ्वी कांप उठती थी। इसी प्रकार राम के शील का प्रदर्शन करने के लिए कवि ने लक्ष्मण में क्रोध की अवतारणा की। एक ही माता-पिता से उत्पन्न दो भाइयों का समान परिस्थितियों में समान व्यवहार होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता है। परन्तु ऐसा नहीं किया गया। राम के शील का निरूपण करने के लिए कवि ने राम को पानी और लक्ष्मण को अग्नि के रूप में चित्रित किया। इसी प्रकार राम को शील-संकोच व्यक्त करने के लिए कवि ने यहाँ तक कह डाला कि "जिस सम्पत्ति को शिवजी ने रावण को उसके दस सिरों के बदले में दिया था, उसी त्रैलोक्य-वैभव को राम ने विभीषण को यों ही दे दिया और फिर भी उनके मन में संकोच था कि इतनी सी सम्पत्ति लंकेश को कैसे दूँ। उन्हें संकोच इस बात का था कि मैंने इसे कुछ नहीं दिया।' यथा—

जो सम्पदा शिव रावनहिं दिए दीन्ह दस माथ
सो सम्पदा विभीषनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ।

यहाँ एक बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिए। केवल दूर की थोथी कल्पना अथवा ऊँची उड़ान भरना 'कविता' नहीं 'सूक्ति' है। यदि

कोई इस तरह की बात कहने लगे कि 'भैंस बबूल पै चढ़ गई और लप-लप गूलर खाइ', तो उसका यह कथन तमाशा बन कर थोड़े बहुत विनोद का कारण भले ही बन जाए, वह कविता की श्रेणी में कदापि नहीं हो सकता। कविता का आधार वास्तविकता है और उसका लक्षण है रस-सञ्चार !

सौन्दर्य; काव्य का ही क्या किसी भी आकर्षक वस्तु का सर्वप्रथम गुण है। कोई वस्तु जब तक हमें अच्छी न लगेगी, तब तक हम उसकी ओर देखेंगे तक नहीं। जिस गुण के कारण कोई वस्तु हमें अच्छी लगती है, उसी का नाम सौन्दर्य अथवा सुन्दरता है। 'अच्छे लगने' अथवा सौंदर्य के विभिन्न माप-दण्ड हो सकते हैं। सुन्दरता और असुन्दरता सापेक्ष भाव हैं। विभिन्न देशों में अपने-अपने आदर्शों, सभ्यता तथा संस्कृति के अनुरूप इनकी कसौटी निर्धारित की गई है। भवभूति न "सुन्दरता" अथवा 'सौंदर्य' का अत्यन्त व्यापक लक्षण दिया है—क्षणेक्षणेयन्नवतामु पैतितदेव रूपम् रमणीयताया,,। अर्थात जो वस्तु क्षण क्षण पर नवीन प्रतीत हो, वही सुन्दर है।" इसका तातपर्य यह है कि जिस कविता के अन्तर्गत चिरकालीन एवं चिर नवीन सत्य कहा जाता है, वही कविता सौंदर्ययुक्त समझी जाती है। 'सौंदर्य' वास्तव में सत्य को ग्राह्य बना देता है। रसगंगाधरकार ने इसी आधार पर काव्य की यह परिभाषा निर्धारित की थी कि 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है'। इस प्रकार 'रमणीयता' और 'सुन्दरता' अन्योन्याश्रित ठहरते हैं। एक आत्मा है और दूसरा शरीर। काव्य की व्याख्या करने वालों ने ठीक ही कहा है कि. "काव्य के अन्तर्गत वे ही पुस्तकें आनी चाहिए जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की विशेषताके कारण मानव-हृदय को स्पर्श करने वाली हों और जिनमें रूप-सौष्टव का मूल तत्त्व तथा उसके कारण आनन्द जो उद्रेक होता है उसकी सामग्री विशेष प्रकार से वर्तमान हो।" कहना न होगा कि यहाँ व्याख्याकार का संकेत 'अर्थ की रमणीयता' का ओर ही है।

कथन की कोई शैली, विचारों की कोई उड़ान जब हृदय की घुण्डी खोल देती है और किसी प्रबल मनोवेग से चित्र चमत्कृत हो उटता है तब रस की निष्पत्ति होती है। दोहराने की आवश्यकता नहीं यह 'रस की

निष्पत्ति' का अनिवार्य तत्त्व ठहरता है। साहित्य के मर्मज्ञों ने उसे काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है।

रस का अर्थ है आस्वाद्य—"आसाद्यत्वाद्रसः।" जिस प्रकार भोजन का स्वाद लिया जाता है उसी प्रकार कविता का भी स्वाद लिया जाता है। जिस काव्य से, चाहे वह दृश्य हो या श्रव्य, यह आस्वाद न मिले, वह कदापि काव्य नहीं कहा जा सकता है। भरतमुनि ने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि 'काव्यार्थ रसहीन होना ही नहीं चाहिये'—

'न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते।"

—नाट्यशास्त्र

---

३ : रस-निष्पत्ति

रूप-रेखा—

१—काव्य के विभिन्न लक्षण।

२—काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में ५ मुख्य मत—
(क) रसमत (ख) अलंकारमत (ग) रीतमत (घ) ध्वनिमत तथा (ङ) वक्रोक्तिमत।

३—रसमत की सर्वमान्यता है।

४—रस शब्द का अर्थ।

५—रस की कल्पना।

६—रस के काव्यशास्त्रोक्त विभिन्न अर्थ,—४ मत मुख्य हैं:—
(क) भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद।
(ख) श्री शंकुक का अनुमतिवाद।
(ग) भट्ट नायक का भुक्तिवाद, अभिनव।
(घ) गुप्त का अभिव्यक्तिवाद।

७—उपसंहार—रस की परिभाषा।

भिन्न-भिन्न आचार्यों ने काव्य के भिन्न-भिन्न लक्षण दिये हैं। यथा।

मम्मटाचार्य के मत में शब्दों और अर्थों का निर्दोष एवं गुणयुक्त होना काव्य है उसमें अलकार हों चाहे न हों।

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

(काव्य प्रकाश)

भोजदेव की सम्मति में निर्दोष, गुण और अलंकारयुक्त रसात्मक वाक्य काव्य है।

निर्दोष गुणवत्काव्य मलंकारै रलंकृतम्

रसात्मकं कवि कुर्वन् कीर्ति न विन्दति।

(सरस्वती कंठाभरण)

पंण्डितराज जयदेव कहते हैं कि निर्दोष लक्षणवती रीति एवं गुण अलंकार समन्वित सरस वाक्य ही काव्य है।

निर्दोषा लक्षणवती सरीति गुण भूषिता

सालंकार रसानैक वृत्तिवाक काव्यनाम भाक।

(चन्द्रलोक)

आचार्य भामह के मत में निर्दोष, गुण एवं अलंकार सहित शब्दार्थों को काव्य माना गया है।

अदोषौ सगुणो सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यम्।

(काव्यालंकार)

वाग्भट्टाचार्य काव्य उसे मानते हैं जिसके शब्द और अर्थ सरल हों और जो गुण, अलंकार एवं रीति युक्त तथा सरस हो।

साधु शब्दार्थ सन्दर्भ गुणालंकार भूषित

स्फुट रीति रसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीतये।

(वाग्भट्टालकार)

कविराज विश्वनाथ की सम्मति में रसात्मक वाक्य ही काव्य है।

"रसात्मकं वाक्यं काव्यं"

(साहित्य दर्पण)

पंण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है।

"रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम् ।"
(रसगंगाधर)

उपर्युक्त लक्षणों में काव्य की रमणीयार्थ प्रतिपादकता प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार की है। सौन्दर्यपूर्ण विषय का सौन्दर्यपूर्ण वर्णन, जिसे पढ़कर अथवा सुनकर मनुष्य मुग्ध होजाये, काव्य है। ठीक ही है—

किं कवेरतेन काव्येन
किं काण्डेन धनुष्मतः ।
परस्य हृदये लग्नं
न घूर्णयति यच्छिरः ।

अथच् –

जाके लागत तुरत ही सिर ना डुलै सुजान
ना वह गीत न कवित रस ना वह तान न बान ।

धनुर्धर का वह बाण और कवि की वह कविता ही क्या जो, हृदय में लगकर सिर न डुलादे ।

इस सुन्दर अर्थ और 'सुन्दर वर्णन' के अर्थ में समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। शब्द और अर्थ को काव्य के शरीर रूप में सबने स्वीकार किया, परन्तु उसकी आत्मा क्या है, जो काव्य-शरीर को जीवित रखती है, इस विषय में मत-भेद रहा है। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार काव्य-सौन्दर्य को सबने पृथक-पृथक दृष्टिकोणों से देखा है। नीलकंठ दीक्षित इस विषय को बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं।

रसं रसज्ञा, कलयन्ति वाचि
परे पदार्थो न परे पदानि ।
वस्त्रं कुविन्दा वणिजो विभूषां
रूपं युवानश्च यथा युवत्याम् ।

रसज्ञ (रसिक) कविता में रस ढूँढते हैं, दूसरे विषय को देखते हैं, तीसरे पदलालित्य पर दृष्टि देते हैं। जिस प्रकार किसी युवती को देखकर युवा उसके स्वरूप को सराहते हैं, जुलाहे वस्त्र के व्यापारी

की प्रशंसा करते हैं और सर्राफ उसके आभूषणों पर परख की दृष्टि डालते हैं।

इस सम्बन्ध में मुख्यतया पाँच मत हैं।

(१) रसमत—प्रवर्तक श्री भरतमुनि एवं मुख्य प्रतिपादक आचार्य विश्वनाथ, भोज, जयदेव तथा वाग्भट्ट।

संक्षेप में यह मत इस प्रकार है। "रस्यते आस्वादते इति रस।" जिसका आस्वादन किया जाय वह रस है। इस आस्वादन में आनन्द लक्षित रहता है। ये रस को काव्य की आत्मा मानते हैं।

२—अलंकार मत— इस मत के मुख्य प्रतिपादक हैं उद्भट, दंडी तथा रुद्रट। इनके मत में काव्य के लिये अलंकार ही सब कुछ हैं।

३—रीति मत—इस मत के प्रतिपादकों में दंडी तथा वामन मुख्य हैं। वामन के मत में "रीतिरात्मा-काव्यस्य" रीति ही काव्य की आत्मा है। रीति की व्याख्या 'विशिष्टा पद रचना रीति।' करके की गई है।

४—ध्वनि मत—अभिनव गुप्त इस मत के प्रमुख प्रणेता हैं। प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यंगार्थ को ध्वनि कहते हैं। जहाँ पर वाच्यार्थ से व्यंगार्थ की प्रधानता हो, वही उत्तम काव्य है।

काव्य-प्रकाश के रचयिता आचार्य मम्मट ने भी इसी मत को मानकर काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है।

इदि मुक्तममतिशायिनि व्यंगये वाच्याद्धविबुधे कथितः।

अर्थात्—उत्तम काव्य वही है जिसमें व्यंगार्थ वाच्यार्थ से प्रधान हो, इसको बुद्धिमान पुरुष ध्वनि कहते हैं। "कैसे तू अकेली दधि बेचनि को जाति है।"

५—वक्रोक्ति मत—इस मत के प्रवर्त्तकों में अचार्य कुन्तक (कुन्तल) मुख्य हैं। इनके मत में 'वैदग्ध भंगी भणितिः।' अर्थात् इसे विदग्ध पुरुषों की वाणी कहा है। वक्रोक्ति साधारण जनों की सरलोक्ति से भिन्न होती है। इसमें श्लेषावद अलंकारों की प्रधानता रहती है।

इन समस्त मतों को साररूप में ग्रहण करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य की यह प्रामाणिक परिभाषा प्रस्तुत की। यथा—

"जिस तरह आत्मा की मुक्तावस्था का नाम ज्ञान-दशा है अथवा सिद्धावस्था है ठीक उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था का नाम, रस-दशा है। इस रस-दशा की प्राप्ति के लिए मनुष्य की वाणी समय-समय पर जो शब्द विधान करती आई हैं, उसी का नाम कविता है।"

रस शब्द का अर्थ—रस शब्द अनेकार्थ है। यह रस धातु से बना है। जिसका अर्थ आस्वादन करना है अथवा स्वाद लेना है। स्वाद आनन्द दायक वस्तु में ही आता है। अतः आस्वादन का अर्थ केवल चखना ही नहीं, वरन् चखकर आनन्द लेना है।

'रस' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'रस्यते इति रसः' जिसका अर्थ है जिसका स्वाद लिया जाये, वह रस है। किसी वस्तु का आस्वादन करने पर जो आनन्द मिलता है, वह रस है, रस शब्द को हम सब लोग विभिन्न एवं अनेक अर्थों में प्रयुक्त करते हैं, जैसे (१) अमुक सज्जन की बातों में बड़ा रस आया। (२) अमुक की कथा में बड़ा रस आया, (३) कानों में रस पड़ रहा है, (४) वे बड़े रसिक हैं, (५) स्वच्छ शीतल चाँदनी देखकर हम कह उठते हैं रस बरस रहा है, (६) आम, अंगूर खाकर हम कह देते हैं कि इनमें बड़ा रस है, (७) हरे पत्तों को निचोड़ने पर उनमें से हरे रंग का पानी की तरह जो पदार्थ निकलता है, उसे भी रस पत्तों का रस ही कहा जाता है। (८) इसी प्रकार वैद्यक में रस शब्द, अपना विशेष अर्थ रखता है (९) खट्टा, मीठा, नमकीन, कड़ुआ; तीखा, कसैला इन छः रसों को कौन नहीं जानता, (१०) जल को भी रस कहते हैं, (११) वेद में परमात्मा को रस कहा गया है 'रसो वै सः तथा (१२) रस का अर्थ उमंग और मौज भी है।

जैसे रस शब्द अनेकार्थक है, उसी प्रकार उसकी रसन प्रणाली भी भिन्न-भिन्न हैं। कान ने जैसे 'सरस' बातों को सुना, आखों ने मयंक को रस बरसाते देखा, जीभ ने पदार्थों का रस चाखा। अतएव आस्वादन प्रणाली की विभिन्नता स्पष्ट है। साहित्य में रस शब्द का प्रयोग सर्वथा

भिन्न अर्थ में ही होता है। नाटक देखने में दर्शक को तथा काव्य पढ़ने और सुनने में क्रमशः पाठक और श्रोता को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, उसे 'रस' कहते हैं। रस का यह स्वरूप आलौकिक है, अतः अनिर्वचनीय है, किन्तु सहृदय जनों द्वारा उसका आस्वादन या अनुभव किया जा सकता है।

रस की कल्पना—रस के अर्थ को संसार में सर्वप्रथम भारतवर्ष के ऋषि मुनियों ने ही समझा था। 'रस' की कल्पना संस्कृत में ही हुई है। अँग्रेजी अथवा अरबी, फारसी में इसका पर्यायवाची कोई शब्द नहीं। अन्य भाषाओं में भाव के पर्यायवाची शब्द ही मिलते हैं। अँग्रेजी में भाव को इमोशन तथा फारसी में जज़बा कहते हैं।

रंगमंच पर अभिनेताओं के कलापूर्ण अभिनय अवलोकन के समय जो तन्मयता दर्शकों में देखी जाती है, तथा दर्शकों के चित्त में जिन आनन्ददायक भावों की अनुभूति होती है, उसी का मार्मिक विश्लेषण ही रस की कल्पना का कारण ज्ञात होता है। महामुनि भरत के कथनानुसार 'द्रुहिण नामक' किन्हीं आचार्य द्वारा इसका आविष्कार हुआ था।

"एतेह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना"

(नाट्यशास्त्र)

हालांकि भरतमुनि को इस विषय का आविष्कारक तो नहीं कहा जा सकता है, परन्तु फिर भी संसार में इस प्रकरण के सर्वप्रथम संकलयिता और विवेचक वे ही हैं। शास्त्र के रूप में तत्सम्बन्धी विधिवत् वर्णन करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। इस प्रकार भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र ही इस विषय का प्राचीनतम ग्रन्थ ठहरता है। भरतमुनि के पश्चात् भगवान व्यासदेव ने अपने अग्निपुराण में इसका वर्णन किया है।

इन दोनों मुनिवरों, भरतमुनि तथा व्यासदेव के पश्चात् संस्कृत साहित्य के अनेक आचार्यों ने इस प्रकरण का अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण विशद विवेचन किया है। संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर ही हिन्दी साहित्य में भिन्न-भिन्न आचार्यों एवं कवियों द्वारा इस विषय को उठाया गया और विवेचना एवं समालोचना की गई।

रस का काव्यशास्त्रोक्त अर्थ—काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य की परिभाषा करते हुए रसात्मक शब्द समूह को काव्य माना है। यद्यपि यह परिभाषा सर्व सम्मत स्वीकार नहीं हुई, तथापि 'काव्य' में रस का महत्वपूर्ण स्थान स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हुई। इस प्रकार "काव्य" के उस आस्वाद को "रस" कहते हैं जिसके अनुभव से चित्त चमत्कृत हो उठे। पंडितराज विश्वनाथ ने रस की व्याख्या इस प्रकार की है।

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा
रसतामेति इत्यादि स्थायिभाव सचेतसाम्।

—साहित्यदर्पण

अर्थात् सहृदयों के हृदयों में स्थित वासनारूप रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस रूप को प्राप्त होते हैं।

रस और भाव—भाव से रस की उत्पत्ति मानी गई। सर्व प्रथम वस्तु भाव है।

भावहिं ते रस होत है, समझि लेउ मन माँहि,
यातें पहिलै भाव सब, बरनत सुकवि सराहि।

—रस प्रबोध

अमरकोश में मन के विकार को भाव कहा है, "विकारो मानसो भाव" यह मन का विकार क्या है, इसे आचार्य सोमनाथ ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

चितकिहि है तुहि जब होय और तै और,
ताको नाम विकार कहि, बरनत कवि सिरमौर।

—रसपीयूषनि

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने मानसिक विकार अथवा वासना को ही भाव माना है। आचार्य भरतमुनि के मतानुसार भाव और रस अन्योन्याश्रित हैं, एक के बिना दूसरे की स्थिति सम्भव नहीं। "न भाव ही नोस्ति रसो ना भावो रस-वर्जितः।"

—नाट्यशास्त्र

भावों की परिपक्वता: ही रस है। रस सिद्धान्त के मूल प्रवर्त्तक भरत मुनि ने इस सम्बंध में निम्न सूत्र लिखा है।

विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत मुनि ने उक्त सूत्र की "काव्य प्रकाशकार" आचार्य मम्मट ने इस प्रकार व्याख्या की है।

कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणी यानि च
इत्योदि स्थापिनी लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो।
विभावा अनुभावश्च कथ्यते व्यभिचारिणः।
व्यक्त-सतैर्विभावाद्यै: स्थायी भावो रसस्मृतः।

लोक व्यवहार में रति आदि चित्त वृत्तियों के या मनोविकारों के जो कारण कार्य और सहकारी कहे जाते हैं, नाटक और काव्य में से ही रति आदि स्थायी भावों के कारण कार्य और सहकारी कारण न कहे जाकर क्रमशः विभाव और अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं और उन विभावादिकों द्वारा स्थायी भाव होकर "रस" कहा जाता है।

वास्तव में वासना रूप बीज आलम्बन रूप हृदय क्षेत्र में पड़कर स्थायी भाव रूप में अंकुरित होता है और उद्दीपन रूप जलवायु एवं गर्मी से बढ़ता है। पीछे यही अंकुर अनुभाव रूप वृक्ष दिखाई देता है, और फिर उस पर संचारी भाव रूप अनेक फूल खिलते हैं, जिनसे मकरन्द रूप रस पैदा होता है।

जिस प्रकार पृथ्वी में गन्ध समाई रहती है, उसी प्रकार हमारे हृदय में वासनात्मक संस्कार सुप्त पड़े रहते हैं। जल सिंचन द्वारा जिस प्रकार पृथ्वी की सुगन्ध प्रकट हो आ जाती है, उसी प्रकार विभावादि का संयोग प्राप्त होते ही हमारे वे वासनात्मक संस्कार उद्बुध होकर चमत्कृत आनन्द उत्पन्न कर देते हैं।

रस निष्पत्ति सम्बन्धी भरतमुनि के 'विभावानुभाव व्यभिचार संयोगाद्रसनिष्पत्ति वाले' सूत्र में संयोग और निष्पत्ति के विभिन्न अर्थों को लेकर इस सूत्र की अनेक व्याख्यायें चल पड़ीं। इन व्याख्याकारों में चार

आचार्य मुख्य हैं। १—भट्ट लोल्लट, २—श्री शंकुक, ३—भट्ट नायक तथा ४—अभिनव गुप्ताचार्य। इन चारों विचारधाराओं का यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

१—भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद—भट्ट लोल्लट का दार्शनिक-यात मीमांसा का मत है। यह 'संयोग' का अर्थ कार्य कारण भाव तथा "निष्पत्ति" का अर्थ उत्पत्ति मानते हैं। उनका मत है कि रत्यादि स्थायी भाव नायिकादि विभावों द्वारा उत्पन्न होकर तथा उद्यान-चन्द्र ज्योत्स्नादि उद्दीपनों द्वारा उद्दीप्त होकर एवं कटाक्ष, अश्रु, रोमांच अनुभावों अथवा बाह्य व्यञ्जकों द्वारा प्रतीत योग्य अथवा जानने योग्य बनकर (व्यक्त होकर) और उत्कण्ठादि व्यभिचारियों द्वारा पुष्ट होकर दुष्यन्त रामादि अनुकार्यों में (उन मूल पात्रों में जिनका कि नट अनुकरण करते हैं) रस रूप से रहता है। रूप की समानता के कारण नट में वह रस आरोपित होकर सामाजिकों (दर्शकों) को अभिनय कौशल द्वारा चमत्कृत अथवा प्रसन्न कर देता है।

इस मत के अनुसार मूल रूप से रस की उत्पत्ति कार्य कारण भाव से रामादि अनुकार्यों में होता है। रूप की समानता के कारण नटों में उसका आरोप होता है। फिर अनुकरण के चमत्कार से सामाजिक के मन में उत्पन्न चमत्कार रस बन जाता है। सामाजिकों में रस स्थिति गौण रूप से मानी गई है। इस मत को आरोपवाद भी कहते हैं।

२—श्री शंकुक का अनुमितिवाद—यह नैयायिक थे। इनके मतानुसार उत्पत्ति का अर्थ अनुमिति तथा संयोग का अर्थ गम्य गमक भाव अथवा अनुमाप्य अनुमापक भाव है। इन्होंने रस की निष्पत्ति गम्य गमक भाव से मानी है। नट जब नाटकादि में रामादि अनुकार्यों के भावों का ज्ञान प्राप्त कर अपनी शिक्षा और अभिनय के अभ्यास द्वारा रंगमंच पर कारण, विभाव, कार्य अनुभाव, सहचारी, संचारी भाव को अपनी कला में प्रदर्शित करता है, तब वे विभाव, अनुभाव, कृत्रिम होते हुये भी ऐसे नहीं माने जाते और इन नामों से पुकारे भी जाते हैं। अर्थात् नट को रामादि विभाव कहते तथा उनके अश्रु, भ्रूनिक्षेप आदि अनुभावों को राम के ही अनुभाव कहते हैं। उन्हीं विभावादि के संयोग से अर्थात् गम्य गमक भाव

से अथवा अनुमेयानुमापक भाव से, विभावादि गमक या अनुमान कराने वाले हैं और इत्यादि स्थायी भाव गम्य है अर्थात् उनका अनुमान किया जाता है, स्थायी भाव का अनुमान किया जाता है। अर्थात् नट के अभिनय को देखकर दर्शक अनुमान करते हैं कि उसमें रति या क्रोध का उत्साह है। यद्यपि रत्यादि भाव अनुमित मात्र हैं और वास्तव में वे नट में होते भी नहीं हैं तथापि वे सामाजिकों की वासना, पूर्वानुभवजन्य, द्वारा चर्व्यमाण हो कर सामाजिकों में रस का रूप धारण कर लेते हैं।

जिस प्रकार रज्जु के सर्प को देखकर भय हो जाता है, और उस भय के कारण कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है, उसी प्रकार सामाजिकों का अनुमान मिथ्या होते हुए भी नितान्त निरर्थक नहीं होता है। उसमें अर्थ क्रियाकारित्व अथवा व्यावहारिक उपयोगिता रहती है।

संक्षेप में इस मत के अनुसार नट का चित्रतुरंग न्याय दुष्यन्त से तादात्म्य कर उसके अनुभावादि द्वारा गम्य गमक का अनुमाप्य अनुमापक भाव से सामाजिकों द्वारा रस की अनुमति होती है। यह अनुमान ही रस की अवस्था को पहुँचता है।

विशेष—तसवीर का घोड़ा ही कागज होते ही घोड़ा कहा जाता है और घोड़ा न होते हुए भी उसके घोड़ेपन से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

३—भट्टनायक का मुक्तिवाद—यह सांख्यवादी थे। इनके मतानुसार "संयोग" का अर्थ भोज्य भोजक भाव तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ मुक्ति, आस्वाद, है।

भट्टनायक ने काव्यादि द्वारा रस निष्पत्ति में तीन व्यापार माने हैं। पहिला अभिधा जिसके द्वारा शब्दार्थ का ज्ञान होता है, दूसरा भावकत्व व्यापार जिसके द्वारा विभावादि तथा रत्यादि स्थाई भाव साधारणी कृत होकर, मेरे व पराए, शत्रु के वा मित्र के, ऐसे बन्धनों से मुक्त होकर, उपभोग योग्य बन जाते हैं। सीताजनक तनया अथवा राम की पत्नी न रहकर रमणी मात्र बन जाती है। इनके मतानुसार साधारणी कृत भाव का उपभोग होता है। भोग का यह व्यापार भोजकत्व है। यही तीसरा व्यापार

है। भाव में तीनों व्यापार रहते हैं किन्तु नाटक में केवल दो, भावकत्व एवं भोजकत्व ही रहते हैं। भोजकत्व में रजोगुण और तमोगुण का नाश होकर जो दुःख और मोह के कारण होते हैं, शुद्ध सतोगुण का उद्रेक होने लगता है। चित्तवृत्तियों के शान्त होजाने के कारण वही आनन्द का कारण होता है।

भट्ट नायक के मत के व्याख्याओं में से किसी-किसी ने संयोग का अर्थ साधारणीकृत विभावादि के सम्यक योग लिया है।

संक्षेप में इस मत के अनुसार काव्य नाटक के विभावादि अभिधा द्वारा बोध गम्य होते हैं। उसके पश्चात् विभावादि भावकत्व द्वारा साधारणी कृत होकर सहृदय के उपभोग बनते हैं। विभावादि की भोज्य भोजक भाव से भुक्ति ही रस है।

४—अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—यह वेदान्ती थे। इनके मतानुसार "संयोग" का अर्थ व्यंग व्यंजक भाव तथा "निष्पत्ति" का अर्थ अभिव्यक्ति है।

अभिनवगुप्त के अनुकूल रति आदि स्थायी भाव सहृदय सामाजिकों के अन्तःकरण में वासना या संस्कार रूप से अव्यक्त दशा में वर्तमान रहते हैं। काव्य में वर्णित विभावादि के पठन-श्रवण से अथवा नाटकादि के दर्शन से वे संस्कार रूप स्थायी भाव उद्‌बुध अवस्था को प्राप्त होकर अथवा अभिव्यक्त होकर विघ्नों के, जैसे वर्ण्यवस्तु असम्भावना, प्रभाव में सहृदयों के आनन्द का कारण होता है।

सतोगुण के प्रभाव को अभिनव गुप्त ने भी माना है। संक्षेप में इस मत के अनुसार सामाजिकों के हृदय में वासना रूप में स्थित स्थायी भाव विभावादि द्वारा व्यंग्य व्यंजक भाव से अभिव्यक्त हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मिट्टी की अव्यक्त गन्ध जल के छींटे पड़ने से व्यक्त हो जाती है।

अभिनव गुप्त की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह रस की निष्पत्ति, स्थिति सामाजिक में मानते हैं। उनके मत को अनुवर्ती आचार्यों में से अधिकांश ने स्वीकार किया है।

धनञ्जय का मत है—

विभावैरनुभावैश्च सात्विकै र्व्यभिचारिभि ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ।

अर्थात्, स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी भावों द्वारा आस्वाद्य होकर रस बन जाता है। यह मत एक प्रकार से अभिनवगुप्त के मत का स्पष्टीकरण ही है।

रस की परिभाषा—इतना विवेचन कर चुकने के बाद अब हम संक्षेप में रस की परिभाषा यों कर सकते हैं—"स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सहित चमत्कृत होकर मनुष्यों के हृदय में अलौकिक और विलक्षण आनन्द का स्वरूप धारण करता है, तब वह रस कहलाता है।

---

४ : शृंगार रस में विप्रलम्भ शृंगार की प्रधानता तथा विरह के विभिन्न तत्त्व

रूपरेखा—

१—विप्रलम्भ शृंगार शृंगार रस का महत्त्वपूर्ण अंग।
२—वियोग की दस अवस्थाएँ
३—विप्रलम्भ शृंगार में प्रेम का पूर्ण प्रकर्ष
४—उपसंहार-विरह प्रेम का पोषक।

वियोगी होगा पहिला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान॥

(पंत)

व्यापकता एवं प्रभाव की दृष्टि से विप्रलम्भ शृंगार निश्चय ही शृंगार रस का अत्यधिक महत्वपूर्ण अंग है। सम्भोग शृङ्गार की अपेक्षा उसका महत्व निर्विवाद है। साहित्यदर्पणकार का स्पष्ट मत है।

"नहिना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते
कषायिते हिवस्त्रादो भयान्रोगो विवर्धतः।"

अर्थात् बिना वियोग के संयोग शृंगार परिपुष्ट नहीं होता। कषायित वस्त्रादि पर ही अच्छा रंग चढता है। (रंगने से पहले अनार के छिलके काढ़े में वस्त्र को भिगोना 'कषायित' करना कहाता है।) प्रखर सूर्य की किरणों से तप्त होने के बाद ही वृक्ष की शीतल छाया के वास्तविक सुख का अनुभव प्राप्त होता है। महाकवि सूरदास ने भी विरहिणी ब्रजांगनाओं के मुख द्वारा उद्धव के सम्मुख इसी प्रकार की बात कहलाई है।-

ऊधौ, विरही प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुटपट गहै न रंगहि, पुट गहि रसहि परै।
जो आवों पट दहत अनल तनु पुनि तौ अमिय भरै।
(भ्रमरगीतसारः)

विप्रलम्भ शृंगार पाँच कारणों से होता है। अभिलाषा हेतुक, ईर्ष्या हेतुक, विरह हेतुक, समीप रहने पर भी गुरुजनों की लज्जा के कारण समागम न हो सकना, प्रवास हेतुक, तथा शाप हेतुक। तात्पर्य यह है कि मिलन के पूर्ण, मिलन के समय तथा मिलन के पश्चात् प्रत्येक अवस्था एवं दशा में विरह शृंगार का हेतु होता है। यहाँ तक कि संभोग समय भी पुष्टि हेतु प्रणयमान का सहारा लिया जाता है। यह प्रणयमान साहित्यदर्पणकार ने प्रिय वियोगजनित एकादश दरशाये मनी हैं।

(१) अगों में असौष्ठव, (२) सन्ताप, (३) पांडुता, (४) दुर्बलता (५) अरुचि। (६) अधीरता, (७) अस्थिरता (८) तन्मयता (९) उन्माद, (१०) मूर्च्छा, (११) मरण,

वियोग जनित दस दशाएँ—हिन्दी कवियों ने वियोग जनित दस दिशाओं का ही वर्णन किया है। उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है। वे इस प्रकार हैं।

अभिलाषा शुचिन्ता गुण कथन स्मृति उद्वेग प्रलाप
उन्माद व्याधि जड़ता भये होत मरण पुनि जाय।

(१) अभिलाषा—वियोगावस्था में नायक नायिका के परस्पर मिलने की इच्छा को अभिलाषा कहते हैं। यह अवस्था पुर्वानुराग में विशेष रूप से पाई जाती है।

(२) चिन्ता—प्रिय प्राप्ति अथवा चित्त शान्ति साधन विचार को चिन्ता कहते हैं। अहितकारी विचार या प्रिय पदार्थ के ध्यान को चिन्ता कहते है।

(३) स्मरण—वियोग समय में प्रिय के संयोग समय की पिछली बातों, चेष्टाओं और समागम सुखों को याद करने को स्मरण कहते हैं।

(४) गुण कथन—वियोग काल में प्रिय के गुणों का वर्णन करना गुण कथन कहलाता है।

(५) उद्वेग—प्रिय वियोग व्याकुल होकर किसी विषय में चित्त न लगने का नाम उद्वेग है।

(६) प्रलाप—वियोग में अत्यधिक व्यथित होकर प्रिय की अनुपस्थिति में भी उसे उपस्थित मानकर अनर्गल किम्वा निरर्थक वार्त्तालाप एवं चेष्टा करने को 'प्रलाप' कहते हैं।

(७) उन्माद—वियोग जनित व्यथा के कारण बुद्धि विपर्य्य होजाने से विरही द्वारा वृथा व्यापार करने, जड़ चेतन विवेक रहित होने और व्यर्थ हँसने, रोने आदि को उन्माद कहते हैं।

(८) जड़ता—वियोग जनित दुःखातिरेक के कारण शरीर के स्तब्ध हो जाने का नाम जड़ता है। इसमें व्यक्ति सुध-बुध भूल कर निश्वस और निश्चष्ट हो जाता है। अंगों तथा मन के चेष्टा शून्य होने और इन्द्रियों की गति के अवरोध को 'जड़ता' कहते हैं।

(९) व्याधि—वियोग व्यथा से उत्पन्न संताप के कारण शरीर के रोग ग्रस्त पांडु अथवा कृश हो जाने को व्याधि कहते हैं।

(१०) मरण—प्राण परित्याग का नाम मरण है। परन्तु साहित्य में वियोगावस्था जनित नैराश्य की पराकाष्ठा को ही मरण कहते हैं।

इसीलिये कविगण मरण का स्पष्ट वर्णन न करके उसके स्थान पर मूर्च्छा, अथवा मृत व्यक्ति के सुयश, वीरता आदि गुणों का वर्णन करते हैं।

विप्रलम्भ शृंगार में प्रेम का पूर्ण प्रकर्ष—विरहावस्था में शृंगार रस का पूर्ण प्रस्फुटन एवं परिपाक होता है। विरहावस्था में पूर्ण मानसिक मिलन रहता है। मिलने की इच्छा ज्यों-ज्यों तीव्र होती जाती है, त्यों-त्यों प्रेम की अधिकता तथा प्रेम की गहराई बढ़ती जाती है। प्रेम की इसी तीव्रता के कारण फिर प्रेमियों को कोई भी पृथक नहीं कर पाता है। विरह वह नौका है जिस पर बैठकर प्रेमी प्रेमसागर में उठती हुई लहरों में झूला झूलते और अन्तरिक्ष तक फैले हुए प्रेम पयोधि का पूर्ण दर्शन करते हैं। विरहाग्नि में तप कर प्रेमी का स्वरूप निखर उठता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार अग्नि में तपने के बाद ही स्वर्ण की निकाई निखरती है। अग्नि-परीक्षा के बाद ही तप्त कांचन वर्ण निखर पाता है—स्वर्ण और विरही दोनों का।

विरहावस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत मानसिक पक्ष तो प्रबल रहता है और ऐन्द्रिकता न्यूनातिन्यून हो जाती है। सच्चे विरह में इन्द्रिय जन्य सुख-प्राप्ति की कामना तो प्रायः नष्ट हो जाती है। इसमें केवल प्रिय-दर्शन की इच्छा ही शेष रह जाती है। आगे चलकर वह भी जाती रहती है। फिर तो केवल एक ही उत्सुकता रह जाती है कि प्रेमी का प्रेमपात्र का कुशल समाचार मिलता रहे। प्रेमपात्र कहीं भी रहे सुखी रहे। इस प्रकार प्रेम क्रमशः चपल क्रीड़ा वृत्ति छोड़ कर शान्त आराधना के रूप में परिणित हो जाता है।

अग्नि-परीक्षा के बाद ही आप जान सकते हैं कि स्वर्ण विशुद्ध है, अथवा उसमें मिलावट है या नहीं। ठीक यही बात आप प्रेमी पर भी लागू समझ लीजियेगा। विरहावस्था में ही प्रेमी की वास्तविकता और उसके प्रेम का वास्तविक स्वरूप विदित हो पाता है। विरह के कष्ट झेल कर भी जो विचलित न हो, जिसे अपने प्रियतम में कोई दोष न दिखाई दे, मिलन की इच्छा लिये हुए ही जो प्राण धारण करे तथा मिलन, इच्छा

को ही उर में धारण किये हुए जो प्राणों का उत्सर्ग भी करे, वही सच्चा प्रेमी है। यथा—

(१) जिन बोल सुबोल अमोल संग
अंग केलि किलोलन मोल लिये।
जिनको चित लाल वो लोचन रूप, अनूप
पिपूष सु पीय जिये।
जिनके पद 'केशव' पानि हिये, सुख मानि
सबै दुख दूर किये।
तिनको संग छूटत ही भिहरे, फटि कोटिक
टूट भयो न हिये।

(केशवदास)

(२) छूट्यो ऐबो जैबो प्रेम पाती को पठैबो छूट्यो
छूट्यो दूरि दूरि हू ते देखिबो दृगन तैं,
जैसे मधियाती सब तिनसों मिलाप छूट्यो
कहिबो सन्देश हू को छूट्यो सकुचन तैं।
एती सब बातें 'सेनापति' लोक लाज काज
दुरजन त्रास छूट्यो जतन जतन तैं।
उर धरि रही, चित्त चुभ रही देखो एक
प्रीत की लगन क्यों हूँ छूटत न मनते।

(सेनापति)

बिना परिचय के प्रेम असम्भव है। 'बिनु जाने को जानु, यह प्रेम प्रथम मिलन में भी हो सकता है तथा साहचर्य के कारण भी। मिलन थोड़ी-सी देर के लिए ही क्यों न हो, केवल मानसिक क्यों न हो, मिलने वाले तो मिल ही जाते हैं। इसी प्रकार प्रथम दर्शन में प्रेम की उत्पत्ति को पुर्वानुराग कह कर उसके चार भेदों का वर्णन कर दिया गया है। प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन तथा श्रवण दर्शन तज्जन्य प्रेम कहानियाँ साहित्य में भरी पड़ी है।

प्रेमांकुर उत्पन्न होने के बाद मिलन की इच्छा स्वाभाविक है। इसी को अभिलाषा कहा गया है। अब या तो मिलन होता है अथवा किन्हीं कारणों वश नहीं हो पाता है। यदि मिलन हो गया, तो अभिलाषा पूर्ण हुई और सम्भोग शृङ्गार प्रारम्भ हो गया।

प्रेमी सदैव एक साथ बने रहते हों, ऐसा देखने में बहुत कम आता है। उन्हें अलग होना ही पड़ता है। यदि पति-पत्नी हुये तब भी और पति पत्नी न बन पाए तब भी। कार्यवश, शापवश, किसी न किसी कारण उन्हें बिछुड़ना ही पड़ता है। थोड़े दिनों के लिये अथवा दीर्घकाल के लिए। इस प्रकार संयोग के पूर्व और संयोग के बाद, दोनों ही दशाओं में प्रिय-मिलन इच्छा की प्रबलता बनी रहती है। ऐसे में यदि कोई व्यक्ति, उनके माता-पिता आदि, उनके मिलन में बाधक हों अथवा बहुत दिनों तक प्रियतम का कोई समाचार न मिल सके, तो अहितकारी विचारों का आना, मन में भांति-भांति की शंकाओं का उठना तर्क-वितर्क होना स्वाभाविक है। इसी को चिन्ता कहा गया है। (चिन्ता)

प्रियतम से न मिल सकने की दशा में उसकी याद बार बार सताती है। कभी-कभी उसकी मीठी याद आती है, तो कभी उसके साथ उठना बैठना तथा खेलना खाना याद आता है। प्रियतम ने इस प्रकार मेरा हाथ पकड़ कर मुझे उठाया था, मुझे गिरते हुए बचाया था, मुझे झूले पर झुलाया था मुझे अपनी गोदी में लिटाया, मेरे सिर पर हाथ फेरा था, और मैं सो गई थी, आदि बातों की याद आना, उसके समागम के सुखों का स्मरण होना स्वाभाविक ही है। (स्मरण)

वियोग काल में प्रियतम की चर्चा करने से मन का बोझ हलका हो जाता है तथा कुछ समय के लिये चैन मिल जाता है। (गुण कथन)

यदि प्रियतम अब भी नहीं आते, यदि मिलन की वेला दूर ही हटती जाती है, तो व्याकुलता एवं विरह-व्यथा का बढ़ जाना स्वाभाविक है। न तो कोई बात ही सुहाती है और न किसी काम में मन ही लगता है। (उद्वेग) कभी-कभी ऐसा भ्रम भी होने लगता है कि प्रियतम आ गये और उन्हें आया हुआ समझ कर विरही चाहे कुछ कह बैठता है।

(प्रलाप) प्रलाप की यह अवस्था हमारे दिन प्रतिदिन के जीवन में घटित होती रहती है। हमारा कोई प्रियजन आने को है, हम उसकी प्रतीक्षा में बैठे हुए है, सड़क पर कोई भी तांगा, इक्का, मोटर आता दिखाई दे, हम यही समझेंगे कि बस उन्हीं का है। यदि कहीं आकर वह मकान के नीचे ही रुक जायें, तब तो हम आवाज़ ही दे बैठते है "कहो जी आगये, कैसे हो, बड़ी देर हुई आदि।" फिर चाहे उससे अन्य कोई व्यक्ति ही क्यों न निकले। वियोग-व्यथा सच्ची मर्म व्यथा है। यह ज्यों-ज्यों बढ़ती है, त्यों-त्यों बुद्धि नष्ट होती जाती तथा विवेक क्षीण होता चला जाता है। ऐसी दशा में बुद्धि का विपर्यय (उन्माद) हो जाना एवं व्यर्थ हँसना, रोना कोई अस्वाभाविक बात नहीं।

इस मर्म व्यथा के बहुत दिनों तक बने रहने पर शरीर भी क्षीण होने लगता है। आखिर कब तक सहे। सहनशीलता की भी हद होती है। विरह तो एक प्रकार का व्याधि रोग है, जिसकी औषधि केवल प्रिय-मिलन ही है। इस विरह व्याधि के अत्यधिक सन्ताप के कारण शरीर कृश हो जाता, उसका रंग पीला पड़ जाता, उसको तरह-तरह के रोग लग जाते हैं (व्याधि) और "वेदना" अपनी सीमा को पार कर जाती है।

अत्यधिक सन्ताप एवं शरीर कृश हो जाने पर मनुष्य के अंग शिथिल पड़ जाते हैं, उसको अपनी सुध-बुध सब भूल जाती है और वह निश्चेष्ट एवं निरुपाय सा हो जाता है। विरही जड़ता की दशा को प्राप्त हो जाता है।

"व्याधि" के इतने अधिक बढ़ जाने पर भी यदि उपयुक्त औषधि प्राप्त न हो सके, यदि फिर भी प्रिय-मिलन न हो पाए तब तो रोग असाध्य ही समझिये, रोगी का जीवन समाप्त ही समझिये। उसे मूर्च्छा आने लगती है और वह मरणासन्न हो जाता है। (मरण)

परन्तु, प्रेमी मरते बहुत कम हैं। कम से कम साहित्यिकों द्वारा सृजित प्रिय मिलन प्रेमी इच्छा में उनके प्राण-पखेरू अटके ही रहते हैं और अन्त में प्रियतम-मिलन हो ही जाता है। अतः स्पष्ट है कि विरह के साथ-साथ प्रेम परिपुष्ट एवं परिष्कृत होता रहता है। प्रेमी को संसार में केवल

अपना प्रियतम ही दिखाई देता है, तथा वही उसका एकमात्र जीवनाधार होता है। मन की ऐसी विकसित अवस्था में प्रेमी का द्वैत भाव सर्वथा लुप्त हो जाता है। उसके मुख से निकला हुआ प्रत्येक शब्द मधुर एवं प्रेमोत्पादक होता है। उसकी वाणी में साधारणीकरण करने की क्षमता होती है। उसकी बातों में सबका चित्त रम जाता है। मधुरतम संगीत वही है जो सुखद स्मृतियों को सजग कर एक मीठी कसक उत्पन्न करने में समर्थ हो।

दाम्पत्य-प्रेम में मन की क्या दशा होती है, प्रियतम के सम्बन्ध में हम क्या-क्या सोचते हैं अथवा सोच सकते हैं तथा प्रियतम के प्रति हमारा प्रेम कितना है, हम कितने पानी में हैं? इसका पूर्ण आभास हमें विरहावस्था में ही मिल सकता है। मानसिक मिलन पूर्णतया परिपुष्ट होने के कारण विरहावस्था में हमारे चित्त की एक-एक वृत्ति जाग्रत हो उठती है, हमारे मन का एक-एक विकार सजग होकर हमारे सम्मुख आ जाता है और एक तरह से हमारी प्रेम-परीक्षा होने लगती है।

यहाँ एक बात बता देना आवश्यक है। सम्भोगावस्था में भी प्रेम को परिपुष्ट करने के लिये बिछुड़ना अनिवार्य है, चिर-साहचर्य के कारण प्रेम का वेग कम हो जाता है। प्रेम एक सरिता है। यदि प्रेमी अलग-अलग रहते हैं, तब तो उसके प्रवाह के लिये रास्ता खुला रहता है और वह अबाध रूप से बहता रहता है। प्रेमियों के मिल जाने से प्रवाह बन्द हो जाता है और उसके प्रवाह में कुछ शिथिलता आ ही जाती है। मिठाई चाहे जितनी सुन्दर एवं स्वादिष्ट हो, परन्तु निरन्तर सेवन करने से मुँह-मार हो जाती है। मुँह का स्वाद बदलने के लिये अथवा मिठाई का स्वाद बनाए रखने के लिये नमकीन अथवा चरपरी वस्तु का सेवन अपेक्षित है। 'मीठौ भावे नौन पै और मीठे पै नौन'। यही कारण है कि संभोग शृंगार का "मान" एक अनिवार्य तत्व है। मान भी विरह का ही एक स्वरूप अथवा विप्रलम्भ शृंगार का एक अंग है। रूठने और मनाने में एक अजीब ही आनन्द आता है। मानिनी नायिका के मान-भंग होते ही प्रेम-प्रवाह को एक नवीन गति प्राप्त हो जाती है। प्रत्येक गृहस्थ को

इसका अनुभव होता ही है। अधिक नहीं, तो कम-से-कम एक-दो बार और तो अवश्य ही। सहृदय व्यक्तियों का तो इसे जीवन ही समझिये। इसका सारांश यह हुआ कि "विप्रलम्भ" शृंगार का महत्वपूर्ण अंग है, तथा बिना इसके सम्भोग का सुख सम्भव नहीं। "करुण-विप्रलम्भ" तो जीवन की वह अनोखी स्थिति है जहाँ मृत्यु के बाद भी मिलने की आशा रहती है। मंजनू को पूरा यकीन था कि वह अपनी लैला से मेहर में अवश्य ही मिलेगा। क्या हुआ जो यहाँ न मिल सका। इसी तरह "कादम्बरी" में पुंडरीक की मृत्यु समय आकाशवाणी होने पर महाश्वेता को उसके मिलने की आशा बंध गई थी।

सच्चा प्रेमी अपने प्रियतम के योग क्षेम की सदैव ही कामना करता है। उसका प्रियतम जहाँ भी रहे, सुख से रहे, उसका बाल भी बाँका न हो। प्रेम की पराकाष्ठा वहीं समझनी चाहिये जहाँ प्रेमी अपने लिये प्रिय से कुछ नहीं चाहता। प्रिय के दर्शन का आग्रह भी छोड़ देता है। आत्मोत्सर्ग की यह पराकाष्ठा केवल विरह में ही दिखाई दे सकती है। विरहिणी गोपियों को कृष्ण मिलें या न मिलें, परन्तु वे जहाँ भी रहें सुख से रहें। प्रियतम की मंगल-कामना ही प्रेमियों का सर्वस्व है।

जहँ-जहँ रहौ राज करौ तहँ-तहँ, लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति 'सूर' सुनु, न्हात खसै जनि बार॥

—भ्रमरगीतसार

विरही चाहे यह भले ही कहता फिरे कि 'प्रीति करि काहू सुख न लह्यो' (भ्रमरगीतसार) परन्तु वह यह कभी नहीं चाहता कि उसका प्रेम दूर हो जाये। वियोगी हो प्रेम-पाश तुड़ाकर भागना नहीं चाहता। उसे एक विशेष प्रकार की सुखद कसक का अनुभव होता रहता है। विरह जनित इस प्रतिकूल परिस्थिति में प्रेमी किसी न किसी प्रकार आत्म-समाधान करता रहता है। परन्तु वह प्रेम को एक क्षण के लिए भी हृदय से नहीं निकालना चाहता। देखिये—

हम तौ दुहूँ भाँति फल पायो।
जो ब्रजनाथ मिलें तौ नीको, ना तरु जग जस गायो।

—भ्रमरगीतसार

वास्तव में बात ऐसी ही है। विरह से प्रेम की पुष्टि होती और वह पक्का होता है। बिना पुट के वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता।

जब तक पेड़ ने अपना तन, अपना अहंकार नहीं जला डाला तब तक कौन उसके हृदय में सुधा भरने आयेगा। विरहाग्नि में जलकर शरीर मानों कुन्दन हो जाता है। मन का वासनात्मक मैल जलाकर विरह उसे निर्मल कर देता है।

बिरह अगिनि जरि कुन्दन होई, निरमल तन पाव पै सोई।

—उस्मान

प्रेमानन्द का सुख या तो विरहिणी लूटती है अथवा वह सुहागिन, जो अपने बिछुड़े प्रियतम से मिल चुकी है।

बिरह अगिन तन मन जला, लागि रहा ततजीव।
कै वा जानै विरहिनी, कै जिन भेटा पीव।

यदि विरहाग्नि में प्रेम का प्रकर्ष न होता तो विरही क्यों उसे सहते और तरह-तरह के नाम धराते और फिर कविगण प्रेम के संवेदनात्मक स्वरूप को कहाँ पाते। विरहाग्नि का यह सुख गूँगे के गुड़ के समान है।

ज्यों-ज्यों विषम वियोग की अनल ज्वाल अधिकाय।
त्यों-त्यों तिय के देह में नेह उठत उफनाय।

—मतिराम

विरह-दाह में वियुक्त प्रिय का ध्यान चन्दन और कपूर से भी अधिक शीतल और सुखदायी होता है। इसी से उस दाह में दग्ध होने को विरही प्रेमी का चित्त सदा व्याकुल और अधीर बना रहता है।

इसमें सन्देह नहीं कि आत्यन्तिक विरहासक्ति ही प्रेम की सबसे ऊँची अवस्था है। इससे सब अहंकार जल जाता है, सब जीवोन्मुखी प्रेम ईश्वरोन्मुखी हो उठता है। विरह की अग्नि से वह स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीर भस्मीभूत हो जाते हैं, तब कहीं इस प्रेम-विभोर जीव का उस परम तत्त्व से तादात्म्य हो पाता है। देखिये—

विरहा कहै कबीर सों, तू जनि छाँड़े मोहि ।
पार ब्रह्म के तेज में, तहां लै राखौं तोहि ॥

—कबीर

मौलाना रूम की रोती हुई बाँसरी कहती है: "जिसका हृदय वियोग के मारे टुकड़े-टुकड़े न हो गया हो, वह मेरा अभिप्राय कैसे समझ सकता है। यदि मेरी दरद भरी दास्ताँ सुननी है, तो पहिले अपने दिल को किसी प्यारे के वियोग में टुकड़े-टुकड़े कर दो फिर मेरे पास आओ, तब मैं समझाऊँगी कि मेरी क्या हालत है। मैंने अच्छे-बुरे सभी के पास जाकर अपना रोना रोया, पर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। सुना और सुनकर टाल दिया। जिन्होंने सुना और ध्यान न दिया, मैं उनको बहिरा जानती हूँ, जिन्होंने चिल्लाते देखा, पर न जाना कि क्यों चिल्ला रही है, मैंने समझ लिया कि वे अन्धे हैं। मेरे रोने के रहस्य को एक वही जान सकता है, जो आत्मा की आवाज को सुनता तथा पहचानता है। वास्तव में मेरा रुदन आत्मा के रुदन से जुदा नहीं है।

—वियोगी हरि "प्रेमयोग"

विरह : प्रेम का पोषक—बिना प्रेम के विरह की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसी तरह बिना विरह के प्रेम का भी अस्तित्व नहीं है। जहाँ प्रेम है, वहाँ विरह है। प्रेम की अग्नि को विरह-पवन ही प्रज्वलित करता है। प्रेम के अंकुर को विरह-जल ही पल्लवित करता है। प्रेम दीपक की बाती को यह विरह ही उकसाता रहा है।

जहाँ प्रेम तहाँ बिरहा जानहु। बिरह बात जनि लघु करि मानहु ॥
जेहि तन प्रेम आगि सुलगाई। बिरह पौन होइ ते सुलगाई ॥
प्रेम अंकुर जहाँ सिर काढ़ा। बिरह नीर सों छिन छिन बाढ़ा ॥
प्रेम दीप जहँ निति दिखाई। बिरह देह छिन उसकाई ॥

—उस्मान

इस लेन-देन की दुनिया में विरही का दर्शन दुर्लभ है। शायद ही कभी कोई सच्चा विरही देखने को मिले। सन्त चरणदास ने मतवाली विरहिणी की विरह साधना का सुन्दर वर्णन किया है :

वह विरहिन बौरी भई, जानत ना कोइ भेद
अगिन बरै हियरा जो, भये कलेजे छेद
आप को तो पीव का, ध्यान को तो पीव।
जिव वाहिन का पीव है, पिव विरहन का जीव।

युगों से कसक सो रही है। इसी से जीव भी बेहोश पड़ा है और सुरत भी सो रही है। कौन इन्हें जगावे। द्वार पर खड़े प्यारे स्वामी से कौन इस जीव को मिलावे। एकमात्र विरह ही कसक को जगा सकता है और कसक जीव को जगा सकती है, और सुरत को जीव जगा लेगा।

विरह जगावे दरद को, दरद जगावे जीव
जीव जगावे सुरत को, पंच पुकारे पीव।
—दादू

प्रिय विरह निश्चयपूर्वक सुरत और जीव का सद्गुरु है। जिसने यह महामहिम गुरु मन्त्र ले लिया, उसका उसी क्षण प्रेम-देव से तादात्म्य हो गया। जिसने यह दुस्साध्य साधन साध लिया, उसे आत्मसाक्षात्कार हो गया।

ऐसी है महिमा विरह देव की। पर विरहात्मक प्रेम का साधन मिलेगा कहाँ?

---

५ : काव्य और मानव-जीवन

रूपरेखा

१—काव्य का लक्षण।

२—काव्य और जीवन का सम्बन्ध।

३—काव्य और आचार का सम्बन्ध।

४—सभ्यता के विकास में काव्य का स्थान।

५—काव्य और सभ्यता में सामंजस्य न रहना ही वर्त्तमान विश्व-अशान्ति का कारण है।

६—काव्य का समाज पर प्रभाव।

७—उपसंहार—स्थायी काव्य का स्वरूप।

भारतवर्ष के साहित्य-शास्त्र के अनुसार काव्य का उद्देश्य, 'रस-निष्पत्ति' है। रस का निरूपण "रसो वै सः' करके किया गया है, अर्थात् 'रस' परमात्मा का सहोदर है। सारांश यह है कि सुन्दर एवं सफल रस-संचार काव्य का प्रधान लक्षण है—'ब्रह्मानन्द' के सदृश अलौकिक आनन्द की सृष्टि करना काव्य के इसी लक्षण को ध्यान में रखकर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की इस प्रकार परिभाषा की है :

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था का नाम ज्ञान-दशा है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था का नाम रस-दशा है। इसी रस-दशा की प्राप्ति के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसी का नाम कविता है।" आगे चलकर वे कहते हैं—"कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य, भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल तक के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" इसका अभिप्राय यह हुआ कि हमारे हृदय का सृष्टि के जितने ही अधिक रूपों के साथ सम्बन्ध होगा, हमारा भाव-क्षेत्र उतना ही अधिक विस्तृत तथा हमारा हृदय उतना ही अधिक विशाल समझा जाएगा। अतएव हम कह सकते हैं कि "काव्य मानव-हृदय के प्रसार का स्तम्भ होता है।"

काव्य के ही द्वारा मानव चिरकाल से जगत् के नाना रूपों के साथ तादात्म्य का अनुभव करता चला आया है। जीवन के इन अनुभवों को मानव काव्य का रूप देकर यथासमय संगृहीत करता आया है। अतः मानव के लिखित अनुभवों का नाम ही 'काव्य' है। अंग्रेज़ समालोचक

वर्सफ़ील्ड ने ठीक ही कहा था कि "Literature is the brain of humanity" अर्थात "काव्य अथवा साहित्य मानव-समाज का मस्तिष्क है।" संक्षेप में काव्य मानव की उन्नति और अवनति का इतिहास है, उसकी सभ्यता और संस्कृति का निर्देशक है।

काव्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्य जीवन की व्याख्या करता है, उसके सम्मुख जगत् और जीवन के विविध रूपों को उपस्थित करता और उनके साथ जीवन के विविध सम्बन्धों का प्रत्यक्षीकरण करता है। काव्य जीवन के इतने निकट ठहरता है कि किसी न किसी रूप में वह जीवन से सम्बन्धित शिक्षा दे देता अथवा नीति-नियमों की व्याख्या कर ही डालता है। 'नीति' शब्द का निर्माण 'नी' धातु तथा 'ति' उपसर्ग के योग द्वारा हुआ है। 'नी' का धात्वर्थ है 'लेजाना' अर्थात् जीवन का पथ-प्रदर्शन करना। काव्य भी जीवन का पथ-प्रदर्शन करता है। अतः 'काव्य' और 'नीति' का अटूट सम्बन्ध है। काव्य को नीति से पृथक कर देना काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर देना है। मैथ्यू आर्नोल्ड ने ठीक ही कहा है"–Poetry is at bottom a criticism of life, that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life — to the question,—how to live ? A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life, a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life"

अर्थात् कविता वस्तुतः जीवन की आलोचना है। कवि का महत्त्व इसी में है कि वह अपने विचारों को सुन्दर और सशक्त ढंग से जीवन और जीवन यापन के प्रश्न पर लगाए। नीति का विरोध करने वाली कविता जीवन का विरोध करती है। नीति के प्रति उदासीन कविता जीवन से दूर भागने वाली कविता है। हिन्दी के वर्तमान राष्ट्र-कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी काव्य और कला का यही स्वरूप ठहराया है—

हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।

काव्य अथवा कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में एक यह भी विचार-धारा है कि कला और जीवन का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है, दोनों के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। अतः कला केवल कला के ही लिए है ' Art for Arts sake' इस सिद्धान्त के प्रतिपादक थे डा० ब्रैडले। ब्रैडले वास्तव में अर्थवाद और तर्कवाद के युग में उत्पन्न हुए थे और वे उपयोगितावाद वाले सिद्धान्त (Utilitarian Theory) के पोषक थे। जीवन के आर्थिक क्षेत्र के समान ही उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र अथवा जीवन के कला-पक्ष को समझने की चेष्टा की। उनका उपयोगितावाद देश अथवा राष्ट्र प्रेम से आगे न जा सका! काव्य को भी उन्होंने भौतिक-स्तर पर रखकर देखा। काव्य का आध्यात्मिक पक्ष उनकी आँखों से ओझल हो जाना स्वाभाविक ही था। जीवन और जीवन की समस्याओं से विमुख कला को लक्ष्य करके मैथिलीशरण गुप्त ने ठीक ही कहा है कि—

मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।

कला को भौतिकतावाद के समकक्ष रखने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। जिस समय जीवन में अर्थवाद का प्राधान्य हो जाता है, उस समय कला और काव्य का क्रय-विक्रय होने ही लगता है। मानव जीवन में भौतिकतावाद के प्राधान्य का अर्थ ही यह है कि शेष-सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने वाले काव्य के स्वरूप की उपेक्षा होने लगी है। यदि हम मानव-जाति के उत्थान-पतन के इतिहास का पर्यवेक्षण करें, तो विदित होगा कि जिस कार्य को शत-शत उपदेशक नहीं कर सकते हैं, उसको काव्य अकेला ही कृतकार्य करने में समर्थ होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा विरचित राम-चरितमानस ने निराश एवं जीवन से हताश हिन्दू-जाति को किस प्रकार सरस-सुहावा बनाया था, यह बात किसी से छिपी नहीं है। रामचरित-मानस में वर्णित नीति और मर्यादा तथा उसके अन्तर्गत की गई अनुकरणीय आदर्शों की उद्भावना द्वारा प्रेरित होकर ही हिन्दू-जनता ने अपना दुःख भुलाया था और एक बार फिर उसके मन-मानस में आशा-किरण का संचार हो उठा था। हमारा

निश्चित मत है कि आचार विहीन काव्य निर्जीव है। ध्यान रखने की केवल एक बात है; आदर्शों की उद्भावना में कवि इतना तल्लीन न हो जाये कि वह उपदेशक का रूप धारण करले। जीवन के मार्मिक स्वरूपों के सरस वर्णन करने के कवि-कर्म से विमुख होकर नीरस और शुष्क सिद्धान्तों का व्याख्याता बन जाए!

मानव जीवन का सभ्यता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, अथवा वे अन्योन्याश्रित हैं। सभ्यता 'संस्कृति' का बाह्य रूप है। मनुष्य के आचार-विचार, रहन-सहन, बोल-चाल, सब कुछ सभ्यता के ही अंग हैं। परिष्कृत मनुष्य ही सभ्य और शिष्ट हो सकते हैं। मानव के हृदय का परिष्कार करना और उसके मस्तिष्क का विकास करना काव्य का मुख्य लक्षण बताया जा चुका है। अतएव स्पष्ट है कि सभ्यता के विकास में काव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्थान ही क्यों, योग भी रहता है।

मानव-जीवन सर्वथा संघर्ष-पूर्ण है अथवा संघर्षों की एक कहानी है। उसके जीवन में यदि काव्य-जन्य सरसता का सर्वथा अभाव हो जाए, तो वह हाय करके मर ही जाए। काव्य ही वास्तव में मानव को जीवित बनाये रखता है। जिस समय समाज में अत्याचार और अत्याचार करने वालों का ज़ोर बढ़ता है, जिस समय मानव दानवों का रूप धारण करने लग जाते हैं, जिस समय समाज में रावण और कंस बढ़ जाते हैं, उसी समय काव्य पुकार कर कहने लगता है कि 'अब राम और कृष्ण शीघ्र ही आने वाले हैं'—

जब जब होइ धरम की हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥

× × × ×

तब तब धरि प्रभु बिबिध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

काव्य यदि इस प्रकार से विश्वास दिलाकर मानव-हृदय में जीवन के प्रति आस्था बनाए रखने में प्रवृत्त न बना रहता, तो मानव-सभ्यता

कब की नष्ट हो गई होती। काव्य वस्तुतः वह ढाल है जो आँधी और तूफानों के आक्रमणों से सभ्यता की रक्षा करती रहती है।

काव्य समाज के दोषों का उद्घाटन करता है और उनके निराकरण के लिए सामाजिकों को उत्तेजित एवं प्रोत्साहित करता है। यदि हम हिन्दी-साहित्य का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करें तो विदित होगा कि विदेशी आक्रमणकारियों से मोर्चा लेने के लिए देशी राजाओं को काव्य ने प्रोत्साहित किया था। मुगल शासन के प्रभाव के कारण हिन्दू समाज में आ जाने वाली अनेक कुरीतियों का निवारण काव्य ने ही किया है। आधुनिक युग में अँग्रेजी-शासन से छुटकारा दिलाने में काव्य का महत्त्व-पूर्ण योग रहा है और देश के नव-निर्माण के लिए सम्पूर्ण समाज की आँखें काव्य की ओर ही लगी हुई हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जिन जातियों में काव्य रचना नहीं हुई वे आजदिन तक असभ्य ही बनी हुई हैं। अँग्रेज़ शासकों ने भारतवर्ष के काव्य 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' को पढ़कर ही भारतवासियों को सर्वप्रथम 'सभ्य' कहा था। भारतवर्ष के उच्च-कोटि के महाकाव्य ही उसकी सभ्यता की कहानी कहते हैं। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास आदि कवि-पुंगव ही आर्य-सभ्यता के आधार स्तम्भ हैं। भर्तृहरि ने तो बहुत पहिले ही कह दिया था कि—

साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात् पशुःपुच्छविषाण हीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमान
स्तद् भागधेयं परमं पशूनाम ॥

अर्थात् काव्य-कला से अनभिज्ञ मनुष्य पशु के समान है। भले ही उसके सींग पूँछ न हों, भले ही वह पशुओं की तरह घास न चरता हो, परन्तु उसकी आदतें पशुवत् ही होती हैं।

पिछली दो शतियों से मानव-सभ्यता द्रुत गति से विकास कर रही है। उसकी बुद्धि विकास के चरम उत्कर्ष पर है और विज्ञान के नित्य नए अविष्कार हो रहे हैं। जीवन में होने वाले नित्य नए परिवर्त्तन ही विकास, उन्नति अथवा सभ्यता के प्रतीक माने जाते हैं। बुद्धिवाद

अथवा विज्ञानवाद के फलस्वरूप हमारे महीनों के काम घण्टों में और घण्टों के काम मिनटों में होने लगे हैं। समस्त विश्व घर-आँगन बन गया है। विश्व के समस्त देश एक दूसरे के बिल्कुल समीप आगए हैं। परन्तु फिर भी विश्व में सदैव युद्ध के बादल मंडराते रहते हैं। गत ३० वर्षों के भीतर विश्व-व्यापी दो महायुद्ध हो चुके हैं और तीसरे युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं। इतने समीप होने पर भी हम एक दूसरे के निकट नहीं आ सके हैं। बस विश्व की अशान्ति का यही कारण है कि विज्ञान ने बृहदाकार विपुल यन्त्र (मशीनें) उत्पन्न किए। परिणाम यह हुआ कि इन मशीनों ने इतना अधिक शोर किया कि उनके सामने हमारी आवाज़ का कुछ भी महत्त्व न रह गया। हम दो व्यक्ति पास-पास बैठे हैं, एक दूसरे को देखते हैं, परन्तु सुन नहीं सकते। मशीन की ज़ोरदार खटखट के कारण अपने भाई अथवा पड़ौसी की आवाज़ नहीं सुन सकते। इतना ही नहीं, मशीनों की कार्य-क्षमता देखकर हम चकित हो गए हैं। फलतः मानव की कार्य-क्षमता को अत्यन्त अल्प एवं सारहीन समझने लगे हैं।

इसी प्रकार हम जीव और जीवन का वैज्ञानिक ढंग पर विश्लेषणात्मक अध्ययन करने लगे हैं। मनुष्य का शरीर हमें विभिन्न पदार्थों के मिश्रण के रूप में ही दिखाई देने लगा है। वह जगदात्मा का निवास-स्थान भी है, मानव की देह का यह स्वरूप हमारी आँखों से ओझल हो गया है।

विज्ञान के चमत्कारों के फलस्वरूप हम आकाश में पक्षियों की भाँति उड़ सकते हैं, और पानी में मछलियों की भाँति तैर भी सकते हैं, परन्तु खेद है कि पृथ्वी पर मनुष्यों की भाँति पैरों से चलना हमें नहीं आता है। किसी ने ठीक ही कहा है कि "Science explains the picture but does not take us to the painter" अर्थात् विज्ञान तस्वीर का स्पष्टीकरण तो करता है, परन्तु तस्वीर बनाने वाले चित्रकार के पास नहीं ले जाता है। सारांश यह है कि विज्ञान की अत्यधिक उन्नति, मानव के मस्तिष्क के अत्यधिक विकास की आपाधापी में मानव का हृदय अथवा भाव-क्षेत्र पीछे पड़ गया है, अथवा मानव के

बुद्धि-क्षेत्र और भाव-क्षेत्र का विषम अन्तर ही समस्त विश्व की अशान्ति का मूल कारण है। यदि भाव-क्षेत्र का प्रसार हो, तो विश्व में शान्ति की स्थापना सम्भव हो। यह कार्य काव्य ही कर सकता है। काव्य ही मशीनों को थोड़े समय के लिए बन्द करके हम अपने भाई अथवा पड़ौसी की आवाज़ सुनने को विवश कर सकता है। काव्य ही हमें पृथ्वी पर मनुष्य की तरह चलना सिखा सकता है। काव्य ही हमें जगत के सिरजनहार का दर्शन करा सकता है। विज्ञान कहता है यह गोरा है, यह काला है, यह छोटा है, यह बड़ा है, इसकी आवाज़ तेज़ है, इसकी आवाज़ मन्द है। आदि; परन्तु काव्य कहता है—

"एक ही सुर सब सुरों में है रमा
सोचिए कहिए कहाँ वह दो रहा"

काव्यकार तो उसी को पण्डित मानता है जो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से ओत-प्रोत हो। विज्ञान और बुद्धि-विश्लेषण विलगता का प्रतीक है। साहित्य और भाव-संश्लेषण एकत्व के प्रतिपादक हैं। बुद्धिवाद का आधार शुष्क तर्क है, जो अपने और पराये का भेद स्थापित करता है। काव्य का आधार सहृदयता है जो "अयं निजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्" अर्थात् अपने और पराए की चर्चा करना तुच्छ लोगों का काम है (तुच्छापन है), कहकर विश्व बन्धुत्व की शिक्षा देता है—"उदार चरितानाम् वसुधैव कुटुम्बकम्"। वैज्ञानिक की दृष्टि में ऊँचे-ऊँचे महलों, भव्य-प्रासादों, विलास के विभिन्न साधनों आदि का चाहे जो महत्व हो, परन्तु कवि की दृष्टि में वे सब कच्चे काँच के समान क्षण-भंगुर हैं। यथा

मैं जान्यो निरधार यह जग काँचौ काँच सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बत लखियतु जहाँ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि विज्ञान मनुष्य को केवल भौतिक प्राणी समझता है। इसी कारण वैज्ञानिक मनुष्य को सब कुछ देकर भी सुखी और शान्त नहीं बना सका है। काव्य मनुष्य को आध्यात्मिक प्राणी समझता है। इसी कारण कवि सब कुछ देकर उसकी साधना में प्रवृत्त

होता है और परम सुख और शान्ति का अनुभव करता और कराता है। शान्ति और सुख के इच्छुक मानवों को अपने भाव-क्षेत्र का परिष्कार एवं प्रसार करके काव्यानन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट होगया है कि मनुष्य स्वयं ही कविता का उत्पादक होता है और स्वयं ही अपने जीवन सम्बन्धी विचारों एवं अनुभवों को कविता द्वारा समाज के सम्मुख उपस्थित करता है। जीवन की विभिन्न समस्याओं का उद्घाटन और जीवन की विविध दशाओं का प्रत्यक्षीकरण, वह कविता के द्वारा ही करता है। इसी कारण कवि को 'स्रष्टा' कहा गया है। जिस प्रकार "आदि-रचयिता" ब्रह्मा स्रष्टा कहलाए, उसी प्रकार "आदि-काव्य" के प्रणेता महर्षि वाल्मीकि भी आदि कवि (आदि स्रष्टा) की उपाधि से विभूषित हुए—"कवि मनीषी परभू स्वयंभू।"

मानव-समाज और काव्य का दूध और पानी जैसा सम्बन्ध है। काव्य मानव-जीवन के नाना रूपों का प्रतिपादन करता हुआ मनुष्य-समाज के लिए मानवता एवं सहानुभूति का द्वार उन्मुक्त कर देता है। जब हमारा कोई आत्मीय हमसे सदा के लिए बिछुड़ जाता है, तब हम 'अज-विलाप' 'दशरथ-विलाप' तथा 'उत्तरा-विलाप' को पढ़कर अपना मन हल्का कर लेते हैं; जब हम पर कोई भारी विपत्ति पड़ती है, तब हम राम के कष्टपूर्ण जीवन अथवा कृष्ण के संघर्षमय जीवन का स्मरण करके सब कुछ भूल जाने का प्रयत्न करते हैं, जब हमें कोई व्यर्थ बदनाम करने लगता है, तब हम भरत की आत्म-ग्लानि की गाथा सुनकर अपने मनको समझा लेते हैं। तात्पर्य यह कि काव्य हमारी हर समय सहायता करता रहता है। काव्य मानव-समाज की मार्मिक परिस्थितियों को जीवन दान देकर मानव-समाज नव-जीवन सञ्चार करता रहता है। वह मनुष्य को सत्कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान करता है और दुष्कर्म से दूर रहने के लिए सावधान करता रहता है। इतना ही क्यों संकट, उदासी अथवा थकावट के समय वह मनुष्य का मनोरंजन भी करता है। सुन्दर एवं सरस कविता मन्त्र-मुग्ध करके किसे आत्म-विस्मृत न कर देगी।

साहित्य अथवा काव्य और मानव-समाज में बिम्ब-प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध है। पंडितों की भाषा में 'साहित्य' समाज का दर्पण कहा गया है। साहित्य के अभाव में न तो हमारी ज्ञान वृद्धि ही होसके और न भाव-क्षेत्र का प्रसार ही सम्भव हो। काव्य के अन्तर्गत प्रतिष्ठित उच्चादर्शों ने न मालूम कितनी बार मानव-समाज को पतित होने से बचाया है।

काव्य में समाज के यथार्थ और आदर्श दोनों ही रूपों के दर्शन होते हैं, अमुक समय में अमुक समाज कैसा था, काव्य इस तथ्य का विवेचन और स्पष्टीकरण करता है और साथ ही यह बतलाना चलता है कि समाज का स्वरूप कैसा होना चाहिए। जैसा साहित्य होगा, वैसा ही समाज बनेगा, और जैसा समाज होगा, उसी के अनुरूप साहित्य का निर्माण होगा। किसी ने ठीक ही कहा है कि—Poet and the age reacts upon each other," अर्थात् कवि और (समाज) परिस्थितियाँ एक दूसरे को प्रभावित करते चलते हैं। समाज को उन्नति के लिए सत् काव्य की सृष्टि एक अनिवार्य वस्तु है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में काव्य का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामञ्जस्य स्थापन है। कुछ लोग काव्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन मानते हैं। हमारा उनसे निवेदन है कि काव्य के द्वारा मनोरंजन अवश्य होता है, परन्तु उसके बाद भी कुछ होता है। यही और कुछ काव्य का सर्वस्व है। काव्य का उद्देश्य केवल जीवन और समाज का चित्रण करना ही नहीं, बल्कि यह बताना है कि जीवन और समाज का निर्माण किस प्रकार होना चाहिए। उच्च आदर्शों की प्रेरणा प्रदान करने वाला काव्य ही अपने उद्देश्य में सफल होता है।

इतिहास में कई बार ऐसे अवसर आये हैं जब काव्य विलास की वस्तु मात्र बन कर रह गया है। हिन्दी के रीतिकाल में काव्य की यही दशा थी। अपने आश्रयदाता राजाओं की खुशामद में कवि कर्म की इतिश्री समझी जाने लगी थी। अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाने के कारण हम आज-दिन तक रीति-काल के अनेक कवियों की भर्त्सना करते रहते हैं। वही

काव्य उच्चकोटि का काव्य कहा जा सकता है, जो निस्वार्थ भाव से लिखा जाए और लोक-कल्याण की भावना से ओतप्रोत हो। गोस्वामीजी ने 'रामचरित-मानस' की रचना "स्वान्तः सुखाय" की थी, और साथ ही काव्य की उपयोगिता का निरूपण इस प्रकार किया था—

मनि मानिक मुकता छवि जैसी।
आहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहिं सुकवि कवित बुध कहहीं।
उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं॥

काव्य जब अपने इस महान उद्देश्य को विस्मृत कर बैठता है, तभी उसका पतन हो जाता है, अथवा जब समाज विशेष रूप से पतित हो जाता है, तब स्वार्थी और लोलुप कवियों की बाढ़ आजाती है। बात एक ही है। कवि स्वार्थी हो या समाज पतनोन्मुख हो। दोनों ही दशाएँ चिन्ताजनक हैं। काव्यकार को स्मरण रखना चाहिये कि काव्य का सृजन क्रय-विक्रय के लिए नहीं लोक-कल्याण के लिए किया जाता है। जब काव्य और कला का क्रय-विक्रय होने लगे, तब समझ लेना चाहिए कि राष्ट्र की नैतिक स्थिति चिन्ताजनक है। जो काव्य परमार्थ भावना से प्रेरित हो और सत्त्व गुण की सन्धि को स्पर्श करता हो, वही सत्काव्य कहलाने का अधिकारी है।

---

६ : उपन्यास-रचना के सिद्धान्त

रूप-रेखा—

१—उपन्यास का महत्त्व
२—उपन्यास के प्रकार
३—उपन्यास के रचना तत्त्व
(क) कथावस्तु (ख) पात्र (ग) कथोपकथन (घ) देश-काल (ङ) शैली तथा (च) उद्देश्य।

४—उपन्यास की नाटक और कहानी से विलगता।

५—हिन्दी के उपन्यास।

६—उपसंहार—जन-जीवन में उपन्यास का महत्त्व और इसका भविष्य।

काव्य-रचना के दो रूप होते हैं—पद्य और गद्य। उपन्यास गद्य-काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसे लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं। इसमें जीवन का विस्तारपूर्वक चित्रण किया जाता है। यह चित्रण इस प्रकार किया जाता है कि जीवन-सम्बन्धी ज्ञान कराने के अतिरिक्त वह पाठक का मनोरंजन भी करता है। आप चाहे जिस पुस्तकालय में जाकर देख लीजिए उपन्यासों की बहुत मांग रहती है। साहित्य के अन्य अङ्गों, नाटक, कविता आदि की भाँति, उपन्यास भी मानव-जीवन का विश्लेषण करता, उसके अवगुणों का उद्घाटन करता तथा सामाजिकों को आवश्यक सुधार करने की प्रेरणा प्रदान करता है। उपन्यास वास्तव मे काव्य अथवा साहित्य का एक अत्यन्त लोक-प्रिय रूप है। बाबू श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "उपन्यासकार मनुष्यता का मापदण्ड लेकर चलता है। कवि-कल्पना के प्रति हमारा विश्वास आस्तिक कोटि का होता है। उपन्यास-लेखक की कृति के प्रति हमारे विश्वास में संशय प्रबल रहता है, उसे नास्तिकता का द्योतक कह सकते हैं। उपन्यास पढ़कर हम यह नहीं स्वीकार करते कि ऐसा हो सकता है। प्रत्येक बार हमारा यही प्रश्न होता है कि ऐसा कैसे हुआ। उपन्यास और कविता का यही भेद उनके सम्बन्ध का निरूपण करना है। इस प्रकार उपन्यास के एक ओर जीवनी और दूसरी ओर कविता है। इन्हें उपन्यास के दो छोर भी कह सकते हैं।' (साहित्यालोचन)

कुछ उपन्यास पद्यात्मक शैली द्वारा भी लिखे गये हैं। ये प्राय: प्रेम-मूलक आख्यान हैं, जिनमें आश्चर्यजनक काल्पनिक घटनाओं का समावेश किया गया है। पद्य द्वारा प्रकट किये जाने पर अंग्रेजी में रोमांस (Romance) काव्य कहा जाता है। इन प्रेममूलक आख्यानों में वीरत्व तथा नारी-समादर की भावनायें प्रबल रहती हैं, परन्तु इनका संघटन घटना-परम्परा के ही द्वारा किया जाता है सारांश यह है कि कला का पूर्ण प्रकर्ष एक सीमा एवं मर्यादा विशेष के भीतर ही किया

जा सकता है। "उपन्यास संक्षेप में मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।"

गद्य की प्रणाली से व्यक्त किया जाने वाला सम्पूर्ण कथा-साहित्य उपन्यास के अन्तर्गत आ जाता है। विषय की दृष्टि से उपन्यासों के चार प्रमुख भेद ठहरते हैं।

(१) घटना-प्रधान उपन्यास—इस कोटि के उपन्यासों का उद्देश्य कौतूहल उत्पन्न करना होता है। तिलस्मी, जासूसी अथवा खूनी उपन्यास इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। आश्चर्यजनक घटनाओं को कौतूहल वर्द्धक रीति से सज्जित करके इन उपन्यासों का सृजन किया जाता है। ये उपन्यास अधिकांश में अन्योक्ति अथवा रहस्य-कथन का मर्म लिए हुए होते हैं और इनमें वर्णित कथाएँ प्रायः रहस्य एवं विनोद-मयी होती हैं। कौतूहल, प्रतीक्षा, आशा, आशङ्का, भय आदि इस कोटि के उपन्यासों के मुख्य लक्षण हैं। ऐसे उपन्यास प्रायः सुखान्त होते हैं और घटनाचक्र समाप्त होते ही नायक की विजय घोषित कर देते हैं। अंग्रेजी का प्रसिद्ध 'गुलीवर्स ट्रैविल्स" तथा हिन्दी का 'चन्द्रकान्ता सन्तति' इसी कोटि में आते हैं।

(२) सामाजिक अथवा व्यवहार-सम्बन्धी उपन्यास—इन उपन्यासों को सामाजिक, चरित-सम्बन्धी अथवा व्यवहार विषयक भी कह सकते हैं। इस श्रेणी के उपन्यासों का आकर्षण कथानक की अपेक्षा पात्रों, उनके पारस्परिक व्यवहारों तथा समाज की रीति-नीति पर केन्द्रित होता है। इन उपन्यासों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विस्तृत होता है। बाबू श्यामसुन्दरदास के शब्दों में: "उपन्यास की कथावस्तु जब अधिक संयम के साथ, विशेष आशय लिये हुए नियोजित होती है और विरलता की भूमि से खिंचकर सामूहिक जीवन के क्षेत्र में आने लगती है तब इस प्रकार की औपन्यासिक सृष्टि आरम्भ होती है।"

विभिन्न परिस्थितियों की रमणीय योजना में इस प्रकार के उप-न्यासों की रचना-कला की सफलता निहित रहती है। पात्रों द्वारा समाज के अधिकतम अंगों का स्वाभाविक स्पर्श इस प्रकार के उपन्यासों का मुख्य

लक्षण है। ये उपन्यास अधिकांश में रचयिता के सम-सामयिक समाज के चित्र होते हैं। संस्कृत का 'दशकुमार चरित' तथा प्रेमचन्द के उपन्यास इसी कोटि के उपन्यास हैं।

(३) व्यक्ति प्रधान अथवा अन्तरङ्ग-जीवन के उपन्यास—"काल या समय की गति को ही प्रधानता देने और प्रादेशिक सीमा को संकुचित कर उसे पात्रों के सुख-दुख से रंजित करके एक स्मृति-पटल मात्र बना देने वाले उपन्यासों की गणना इसी कोटि के अन्तगत होती है।" सामाजिक उपन्यासों के पात्रों का स्वभाव आद्योपान्त समान बना रहता है अथवा उनके स्वभाव की विशिष्टता के अनुरूप उपन्यासकार उन्हें विभिन्न परिस्थितियों में डालकर उनका चित्रण करता है। परन्तु इन व्यक्ति-प्रधान उपन्यासों में व्यक्ति का शरीर, उसका मन तथा उसकी बुद्धि और आत्मा एकसाथ प्रकाश में आती है। सामाजिक उपन्यासों में व्यक्ति को विविध परिस्थितियों में डाला जाता है; परन्तु इन उपन्यासों में घटनाएँ और परिस्थितियाँ पात्रों के जीवन में स्वतः आती हुई जान पड़ती हैं। विद्वानों के मतानुसार उपन्यास-कला का पूर्ण परिपाक इसी प्रकार के उपन्यासों में देखा जा सकता है। इनमें पात्रों और घटनाओं की संख्या सीमित एवं संकीर्ण रहती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो एक नदी एक ओर से संकीर्ण मार्ग में होकर दूसरी ओर प्रबल वेग के साथ निकल रही है। अपनी तीव्रता के कारण ये उपन्यास कहीं कहीं उत्कृष्ट कवित्व की छटा देने लगते हैं। संकीर्ण क्षेत्र और तीव्र प्रभाव इनके मुख्य लक्षण हैं।

(४) ऐतिहासिक अथवा देश-काल सापेक्ष और निरपेक्ष उपन्यास—इस कोटि में वे उपन्यास आते हैं जिनमें कलाकार को देश और काल दोनों पर समान रूप से ध्यान रखना पड़ता है। उसे इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है कि वर्णन कहीं अस्वाभाविक न हो जाए। वह जिस देश अथवा समय की घटना का वर्णन कर रहा है, उपन्यास को सफल बनाने के लिए उसे उस देश तथा काल का सजीव चित्र अंकित करना होगा।

कभी कभी उपन्यासकार देश और काल को सर्वथा विस्मृत कर

बैठता है। वह देश और काल दोनों का वर्णन तो करता है, परन्तु उन्हें जंगम समझ कर एक नवीन लोक की सृष्टि कर डालता है। बाण भट्ट का 'कादम्बरी' उपन्यास इसी कोटि का उपन्यास है। इस कोटि के बहुत थोड़े ही उपन्यास रचे गये हैं। वर्तमान-काल में यह परम्परा लुप्त प्राय हो चुकी है।

नाटक के समान उपन्यास के भी छह तत्व होते हैं। कथा-वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य।

उपन्यासों का सम्बन्ध घटनाओं और व्यापारों अर्थात् उन बातों से होता है जो सहन की जाती अथवा सम्पादित की जाती हैं। इन्हीं को हम उपन्यास की 'वस्तु' कहते हैं। उपन्यास की वस्तु पर विचार करते समय हमें यह देखना चाहिए कि उपन्यास की सामग्री कहाँ से ली गई है अर्थात् प्रस्तुत उपन्यास के अन्तर्गत जीवन की व्याख्या करने के लिए किन-किन उपादानों का प्रयोग किया गया है। वही वस्तु श्रेष्ठ समझी जाती है जिसका आधार मनुष्य-मात्र के जीवन संग्राम और सम्पत्ति विपत्ति की घटनाओं से सम्बद्ध हो। अतः उपन्यास की वस्तु अत्यन्त मर्म-स्पर्शिनी घटनाओं से पूर्ण हो और मनोमुग्धकारी एवं स्वाभाविक ढंग पर उसका विकास किया गया हो तथा उसके अन्तर्गत भर्ती की एक भी घटना न हो। उपन्यास की वस्तु के सम्बन्ध में विचारने योग्य तीन बातें हैं—क्या वह कहने योग्य है? क्या वह चित्ताकर्षक है? क्या वह भली भाँति कही गई है? कहने का सारांश यह है कि वस्तु का इस प्रकार गठन किया जाए कि समस्त घटनाएँ शृंखलाबद्ध हों, स्वाभाविक प्रतीत हों तथा अंत या परिणाम वर्णित घटनाओं के अनुकूल हो। पूर्वापर सम्बन्ध का निर्वाह वस्तु का सबसे बड़ा गुण है।

उपन्यासकार 'वस्तु' का तीन प्रकार से उपयोग करता है। पहिले में वह इतिहासकार की भाँति तटस्थ रहकर वस्तु-विधान का क्रमशः उद्घाटन करता चला जाता है अर्थात् देश और काल पर केन्द्रित रहकर वर्णनीय कथा से पृथक् बना रहता है। दूसरे ढंग में वह नायक का आत्म-चरित, उसके ही मुख से अथवा किसी अन्य पात्र द्वारा कहलाता है।

तीसरे ढंग में पात्रों द्वारा कथा-वस्तु का विकास किया जाता है। कहना न होगा कि उपन्यास-रचना करते समय प्रायः प्रथम ढंग का ही अनुसरण किया जाता है।

वस्तु विन्यास के विचार से उपन्यासों के दो भेद होते हैं। एक तो वे जिनमें भिन्न-भिन्न घटनाओं का असम्बद्ध-सा वर्णन होता है। ये घटनायें एक दूसरे पर आश्रित नहीं होतीं अर्थात् उनमें पूर्वापर सम्बन्ध के निर्वाह पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। इन घटनाओं को उपन्यास का नायक एक सूत्र में ग्रथित करता है और उसके चरित्र की विशेषताओं के आधार पर उपन्यास का ढाँचा खड़ा कर दिया जाता है। ऐसे उपन्यासों को 'असम्बद्ध उपन्यास' अथवा शिथिल कथात्मक उपन्यास कहा गया है।

दूसरे प्रकार के उपन्यास सम्बद्ध घटनात्मक कहलाते हैं। इनमें समस्त घटनाओं में पूर्वापर सम्बन्ध रहता है और वे एक दूसरे के साथ भली प्रकार गुथी रहती हैं। इनकी घटनाएँ एक दूसरे में इस प्रकार सम्बद्ध रहती हैं कि वे साधारणतः एक दूसरे से अलग नहीं की जा सकती हैं। सब-की-सब अन्तिम परिणाम या उपसंहार की ओर अग्रसर होती हुई सब उपन्यास को एक ऐसा रूप दे देती हैं जिसमें उसके भिन्न-भिन्न अंग या अवयव एक दूसरे से मिले रहते हैं और किसी एक को भी अलग करते ही सब की महत्ता नष्ट हो जाती है। ऐसे उपन्यासों की सृष्टि एक व्यापक विधान के अनुसार की जाती है, तथा सुगमता, स्वाभाविकता और मनोमुग्धकारिता इनके प्रधान गुण होते हैं।

घटनाएँ और व्यापार कुछ मनुष्यों के आश्रित होते हैं। ये मनुष्य ही उपन्यास में 'पात्र' कहलाते हैं। अर्थात् उपन्यास की व्यापार शृंखला को स्थिर रखने वाले 'अवयव' को 'पात्र' कहा जाता है। उपन्यास के अन्तर्गत सम्पादित बातों को करने अथवा सहने वाले मनुष्यों को 'पात्र' कहा जाता है। पात्रों के सम्बन्ध में सबसे पहली विचारणीय बात यह है कि पात्रों की वास्तविकता के परिधान में वेष्टित करके ही पाठक के सम्मुख उपस्थित किया जाए। उपन्यास की सफलता इसी में है कि उसमें वर्णित पात्रों को पाठक अपने ही समान सजीव पुरुष या स्त्री मान बैठे और पात्रों

के मन में उदय होने वाले मनोवेग पाठक के मन में उत्पन्न होने लगें। कल्पित पात्रों को वास्तविकता का रूप देने में दो मानसिक प्रवृत्तियाँ सहायक होती हैं। विभावना की तीव्रता तथा कल्पना की यथार्थकारिता। इन दो प्रवृत्तियों के सम्यक निर्वाह पर ही पात्रों के सृजन की सफलता निर्भर है। पात्रों के चित्रण पर ग्रन्थकार को विशेष ध्यान रखना चाहिए। चरित्र-चित्रण इस प्रकार किया जाए कि उसका स्वाभाविक ढंग पर उत्तरोत्तर विकास होता चला जाय, और किसी पात्र के विषय में ज्ञातव्य बातें पाठक को एक ही स्थल पर विदित न हो जाएँ। उपन्यासकार को चाहिए कि पात्र को स्वतन्त्र रूप से विभिन्न परिस्थितियों में कार्य करने दें और अपने प्रभाव एवं अनुभव के अनुसार अपने चरित्र को प्रस्फुटित करने दें। सारांश यह है कि सफल चरित्र-चित्रण के लिए संसार के अनुभव और मानव-प्रकृति के विश्लेषण की विशेष आवश्यकता होती है।

चरित्र-चित्रण में प्रायः दो उपायों का अवलम्बन किया जाता है। एक को विश्लेषात्मक या साक्षात् और दूसरे को अभिनयात्मक या परोक्ष कहते हैं। पहिले प्रकार में उपन्यास लेखक अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वयं अपने शब्दों में करता है। वह पात्रों के भावों, विचारों, प्रवृत्तियों आदि की व्याख्या करके, उनके कारणों का विवेचन करता है तथा आवश्यकतानुसार उन पर अपना मत भी प्रकट करता चलता है। दूसरे प्रकार में लेखक स्वयं तो दर्शक की भाँति तटस्थ बना रहता है और पात्रों को अपने आप अपने कथन और व्यापार द्वारा, और उसके सम्बन्ध में अन्य पात्रों की टीका-टिप्पणियों तथा सम्मतियों से चरित्र-चित्रण करने का पूरा अवसर दे देता है।

वस्तु और पात्र के पारस्परिक सम्बन्ध के विचार से उपन्यास दो प्रकार के होते हैं - एक तो वे, जिनमें पात्रों की प्रधानता रहती है और व्यापार-श्रृङ्खला को गौण स्थान दिया जाता है; दूसरे वे जिनमें व्यापार-श्रृङ्खला की प्रधानता रहती है और पात्रों का उपयोग घटनाचक्र से सुचारु रूप से चलाने में किया जाता है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि चरित्र-चित्रण का विशेष ध्यान रखने वाले उपन्यास अधिक श्रेष्ठ समझे जाते हैं।

पात्रों के पारस्परिक वार्त्तालाप को 'कथोपकथन' कहा जाता है। कथोपकथन उपन्यास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। 'कथोपकथन' के द्वारा ही उपन्यास की गतिविधि निर्धारित होती चलती है। इसके द्वारा कथानक का विकास होता है तथा कथा का प्रवाह आगे चलता है। कथोपकथन के द्वारा ही पात्रों का चरित्र-चित्रण है तथा उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं का उद्घाटन होता है। पात्रों की विशेषताओं से परिचित होने के अतिरिक्त कथोपकथन द्वारा हमें उपन्यास में दृश्य-काव्य की सजीवता का बहुत कुछ अनुभव हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ तक सम्भव हो उपन्यास के कथोपकथन स्वाभाविक, उपयुक्त और अभिनयात्मक होने चाहियें।

उपन्यास में वर्णित घटनाएँ एवं व्यापार किसी देश-विशेष अथवा किसी समाज-विशेष और किसी समय-विशेष अथवा किसी परिस्थिति-विशेष से सम्बन्धित होते हैं। इसी को उपन्यास में देश-काल कहा जाता है। उपन्यास के देश-काल से तात्पर्य रहता है. उसमें वर्णित आचार-विचार, रीति रिवाज, रहन-सहन और परिस्थिति आदि। देश-काल को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं - एक सामाजिक और दूसरा ऐतिहासिक। जिस काल और जिस देश अथवा समाज में सम्बन्धित घटनाओं के आधार पर उपन्यास लिखा जाए, उस काल और देश के विचारों, भावों, व्यवहारों, परिपाटियों आदि का उसमें ठीक-ठीक और पूरा-पूरा वर्णन हो। बस, देश-काल से हमारा यही तत्पर्य है।

उपन्यास के अन्तर्गत यदि 'देश-काल' वाले तत्त्व का ठीक प्रकार से पालन हो सकने से उपन्यास अवश्य ही अस्वाभाविक बन जाएगा। उपन्यासकार को चाहिए कि घटनाओं और व्यापारों को एकत्र करके उन्हें सजीव रूप में पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करें।

अब शैली को लीजिए। शैली से अभिप्राय उस रचना-चमत्कार से है जिसके द्वारा उपन्यासकार अपनी रचना को सुन्दर एवं आकर्षक बना देता है। भाषा, वाक्य-विन्यास, पद-विन्यास, अलंकार, मुहावरे आदि कला-पक्ष के समस्त साधन इसके अन्तर्गत आते हैं। शैली के सम्बन्ध में

कोई विशिष्ट नियम निर्धारित नहीं किए जा सकते। शैली में लेखक के व्यक्तित्व का प्रभाव अधिक होता है। इसी आधार पर Style is the man वाली लोकोक्ति चल पड़ी। सारांश यह है कि रचना-चमत्कार का ही नाम शैली है। इसे विचारों और भावों का बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना चाहिए। उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग भी कहा जा सकता है।

काव्य का उद्देश्य जीवन की व्याख्या करना है। चूँकि 'उपन्यास' काव्य का ही एक अङ्ग है, अतः उपन्यास का भी उद्देश्य जीवन की व्याख्या करना हुआ। उपन्यास की महत्ता इसी में है कि वह जीवन को उत्साहपूर्ण, उद्योगी, दृढ़ और शिक्षित बनाए। उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन अवश्य है, परन्तु केवल मनोरंजन अथवा जी-बहलाने तक उपन्यास के उद्देश्य को सीमित कर देना बहुत कुछ उपन्यास के महत्त्व को कम कर देना है। वही उन्पयास सफल एव उत्कृष्ट समझा जाएगा जो जीवन-सुधार में सहायक हो, किसी नैतिक-सिद्धान्त का प्रतिपादन करके पाठक को उच्च-आदर्श के अनुसरण की प्रेरणा प्रदान करे।

उपन्यास और नाटक का मुख्य भेद रंग-मंच है। नाटक श्रव्य काव्य है और उपन्यास दृश्य काव्य है। नाटक की रचना मुख्यतया रंग-मंच पर अभिनय करने के लिए तथा गौण-रूप में पढ़ने के लिए की जाती है; उपन्यास केवल पढ़ा ही जाता है। नाटक को भले ही पढ़लें, परन्तु उसका पूर्ण प्रभाव अभिनय द्वारा ही डाला जा सकता है। अभिनय-शीलता ही नाटक का प्राण है।

नाटक और उपन्यास में एक और भेद है। नाटक में पात्र अपना चरित्र स्वय अथवा अन्य पात्रों के द्वारा चित्रित करते हैं; नाटककार को उनके विषय में किसी प्रकार की टिप्पणी करने का अधिकार नहीं होता है, परन्तु उपन्यास के अन्तर्गत ग्रन्थकार को अपना मत प्रदर्शित करने का बहुत कुछ अवसर रहता है। बहुत कुछ बयान लेखक स्वयं करता है और चरित्र-चित्रण में बहुत हाथ बटा सकता है। इस भेद को नष्ट करना अनुचित है।

आरम्भ में जब आख्यायिका अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थी, तब

उसकी गणना छोटे उपन्यास की कोटि में की जाती थी। उस समय उपन्यास और आख्यायिका में केवल आकार का ही भेद था। आख्यायिका यदि बड़ी हो जाती तो उपन्यास कहलाने लगती और 'उपन्यास' यदि छोटा रह जाता तो 'आख्यायिका' की संज्ञा को प्राप्त हो जाता। परन्तु अब ऐसी बात नहीं है। आख्यायिका अब स्वयं अपना विशिष्ट स्थान रखती है। उपन्यास और आख्यायिका का पारस्परिक अन्तर इस प्रकार समझा जा सकता है—आख्यायिका में जीवन के किसी एक अङ्ग विशेष का संक्षिप्त चित्रण किया जाता है और उपन्यास के अन्तर्गत जीवन का सर्वांगीण एवं सविस्तार चित्रण किया जा सकता है। उपन्यास में घटनाओं का स्वच्छन्द विकास किया जा सकता है। आख्यायिका किसी विषय को लेकर लिखी जा सकती है, परन्तु उपन्यास के लिए मर्मस्पर्शी वस्तु होनी चाहिए। यद्यपि उपन्यास और आख्यायिका दोनों ही काल्पनिक सृष्टि हैं, तथापि उपन्यास में यथार्थता का आभास मिलना आवश्यक होता है। आख्यायिका-लेखक सदैव पाठक के सम्मुख उपस्थित होकर आमने-सामने बातें करता हुआ प्रतीत होता है। उसकी शैली प्रत्यक्ष कही जा सकती है। उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने पाठकों के सम्मुख मित्र-रूप में उपस्थित हो और अन्तरग की भाँति बातें करे, अपना रहस्य छिपाने का उसे पूर्ण अधिकार है।

वैसे तो हिन्दी के उपन्यासों का जन्म आधुनिक काल में हुआ है, परन्तु इनकी परम्परा हिन्दी के प्रेमाख्यान लिखने वाले सूफ़ी कवियों की रचनाओं से प्रारम्भ होती है। सूफ़ी कवियों ने मधु-मालती, पद्मावत आदि अनेक प्रेमाख्यान लिखे हैं और उनमें आध्यात्मिकता की एक अन्तर्धारा बहती है। आध्यात्मिकता के अभाव में इन्हें अँग्रेज़ी के 'रोमान्स' काव्य के अन्तर्गत गिना जाता है।

हिन्दी-गद्य के प्रारम्भिक दिनों में जब उपन्यास कला शैशवावस्था में थी, उन दिनों प्रेम कहानी को उपन्यास का एक आवश्यक तत्त्व माना जाता था और प्रेम के ही विविध रंग-रूप प्रदर्शित करके पाठक का मनोरंजन कर दिया जाता था।

इसी बीच में देवकीनन्दन खत्री कृत 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के रूप में एक अभिनव उत्थान हुआ और शंका, आशका, प्रतीक्षा आदि भावों से युक्त अनेक उपन्यासों की रचना हुई।

परन्तु प्रेम का सोता बहता रहा। श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने उपन्यास का क्षेत्र समाज के अधिक निकट पहुँचाया। इसके बाद बंगाल के अनेक उपन्यासों (शरत् और बंकिम कृत, विशेष रूप से) का हिन्दी में अनुवाद हुआ और उपन्यासों का क्षेत्र और भी अधिक व्यापक समझा जाने लगा। बंगाल के अतिरिक्त मराठा, गुजराती तथा उर्दू के भी कुछ उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया गया। इनमें प्रायः सभी उपन्यास सामाजिक थे।

इसके बाद प्रेमचन्द इस क्षेत्र मे आये। वे रूसी उपन्यासों का प्रभाव लेकर आए। ये उपन्यास सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के उपरान्त एक नवीन योजना का निर्माण करने और नई संस्कृति को जन्म देने का प्रयोग कर रहे थे। भारतवर्ष में भी उन दिनों राजनीति, धर्म और समाज से सम्बन्धित अनेक आन्दोलन चल रहे थे। इन तीनों प्रवाहों का आधार लेकर प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों की रचना प्रारम्भ की। उनके उपन्यास सामयिक जीवन और तत्कालीन आन्दोलनों के रंग में रंगे हुए हैं। इन्हें हम उपयोगितावादी उपन्यास कह सकते हैं।

प्रेमचन्दजी ने हिन्दी-साहित्य के इस अंग विशेष को जी खोल कर पुष्ट किया और हिन्दी में उपन्यासों की परम्परा का प्रवर्त्तन हुआ। उनके बाद अनेक लेखकों ने इस दिशा में प्रयत्न किया और अब भी कर रहे हैं। इन परवर्ती उपन्यासकारों के नाम इस प्रकार हैं—जयशङ्करप्रसाद, विश्वम्भरनाथ कौशिक, सुदर्शन, वृन्दावनलाल वर्मा, मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव, हृदयेश, उग्र विनोदशङ्कर व्यास, चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्रकुमार, शिवपूजनसहाय, डाक्टर रांगेय राघव आदि।

सारांश यह है कि विभिन्न दिशाओं में विभिन्न प्रकार के प्रयत्न और प्रयोग हो रहे हैं। हिन्दी उपन्यासों का एक निश्चित रूप स्थिर होने में अभी देर है।

आजकल हिन्दी-जगत् में कहानियों की धूम है। प्रायः सभी पत्र-पत्रिकायें कहानियों से भरी रहती हैं। कतिपय व्यक्तियों को आशङ्का होने लगी है कि कहीं उपन्यास-रचना का क्रम ही भग न हो जाये। परन्तु हमारे विचार से ऐसी आशङ्का व्यर्थ है। जब तक मानव अपने जीवन की समस्याओं से मनोरंजक ढग पर अवगत होकर उनको सरलतापूर्वक सुलझाने का इच्छुक बना रहेगा तब तक उपन्यासों का रचना-क्रम भङ्ग न हो सकेगा। आजकल अनेक लेखक इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। अतः हिन्दी-साहित्य के उपन्यासों का भविष्य सर्वथा उज्वल है। आवश्यकता केवल एक बात की है। सामाजिक समस्याओं को लेकर अपेक्षाकृत छोटे—लगभग १५० पृष्ठ के उपन्यासों का सृजन किया जाए।

---

७ : हिन्दी का रीति-काल

रूप-रेखा —

१—'रीति' शब्द का

२—रीति साहित्य की परम्परा।

३—हिन्दी के रीति-साहित्य की पृष्ठ-भूमि।

४—रीति-काल पर प्रभाव।

५—रीति-काल की मुख्य प्रवृत्तियाँ।

६—उपसंहार—हिन्दी के रीति-साहित्य का मूल्याङ्कन।

'रीति' शब्द 'रीङ्' धातु से बना है। इसका शब्दार्थ है। ढंग, प्रकार, परिपाटी, रस्म, रिवाज, प्रणाली इत्यादि। काव्य में 'रीति' शब्द को 'मार्ग' का पर्याय माना गया

वैदर्भीदिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इतिस्मृतः
रीङ् गवाविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीति रुच्यते।
(सरस्वती कण्ठाभरण)

उक्त सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"रियन्ते परम्परा गच्छन्त्यऽनयेति करणसाधनोऽयं रीति शब्दो मार्ग पर्यायः।"

जिस प्रकार भाषा के पश्चात् व्याकरण का उदय होता है, उसी प्रकार लक्ष्य-ग्रन्थों के पश्चात् लक्षण-ग्रन्थों का जन्म होता है। वेदों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत, रघुवंश आदिक लक्ष्य ग्रन्थों के पश्चात् साहित्य या काव्य-शास्त्र के लक्ष्य-ग्रन्थों का आविर्भाव हुआ। 'ध्वनिकार' आनन्दवर्धन का तो स्पष्ट मत है कि व्याकरण आदि शास्त्रों के ज्ञान से शब्दार्थ मात्र का ही बोध हो सकता है, न कि महाकवियों के रचना-रहस्य का। यथा—

शब्दार्थ शासन ज्ञान मात्रेणैव न वेद्यते
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्व ज्ञैरेव केवलम्।
(ध्वन्यालोक १।७)

अतएव जिनके अध्ययन से काव्य का स्वरूप एवं रहस्य तथा काव्य के रस, ध्वनि, अलङ्कार आदि भेदों का ज्ञान एव दोष-गुण के विवेचन की शक्ति उत्पन्न हो, उन ग्रन्थों को 'रीति ग्रन्थ' कहते हैं।

भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' (ई० पू० पहिली शती के आसपास) में हमें सर्वप्रथम काव्यांगों का निरूपण मिलता है। इसके पश्चात् इस विषय का दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ है भगवान् वेदव्यास का 'अग्निपुराण'। इसमें सभी काव्यांगों का विवेचन है।

संस्कृत के प्रारम्भिक काव्य तो सरल रहे, किन्तु पीछे के लोगों का ध्यान साहित्य की ओर अधिक गया। नाटकों में भी पांडित्य आगया और पांडित्यपूर्ण श्रव्य-काव्य की ओर लोक की विशेष रुचि हो चली। ऐसे काव्यों में अलङ्कारों का प्राधान्य रहा। ५ वीं शती के आस-पास विरचित 'भट्टिकाव्य' इसी प्रवृत्ति का फल था। कालिदास के बाद जो भी महाकाव्य लिखे गये, उनमें अलंकारों और चमत्कारों का प्राधान्य ही हो गया। चन्द्रशेखर शास्त्री ने लिखा है कि "इन उत्तरकालीन कवियों ने काव्य का उद्देश्य बाह्य शोभा, अलंकार, श्लेष-योजना एवं शब्द विन्यास चातुरी तक ही सीमित कर दिया। अलंकार-कौशल का प्रदर्शन करना तथा व्याकरण आदि के नियमों के पालन में अपनी निपुणता सिद्ध करना उनका प्रधान लक्ष्य हो गया। काव्य का विषय गौण होगया तथा भाषा

और शैली को अलंकृत करने की कला प्रधान होगई। "(संस्कृत-साहित्य की रूप-रेखा) संस्कृत के साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय तथा ध्वनि-सम्प्रदाय इसी प्रवृत्ति के फल थे।

रीति-सम्प्रदाय के उद्भावक 'वामन' थे। इनका समय ८ वीं शती है। वामन ने 'विशिष्ट पद-रचना को रीति' कहा—'विशिष्ट पद-रचना रीतिः' और पद-रचना के इस वैशिष्ट्य को विभिन्न गुणों के संश्लेषण पर आश्रित माना है—"विशेषो गुणात्मा"। 'गुण' का अर्थ उन्होंने काव्य को शोभित करने वाला 'धर्म' कहा है। उनके मतानुसार 'गुण' नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य। काव्य का समस्त सौन्दर्य 'रीति' पर आश्रित है'। (काव्यालंकार सूत्र संख्या १, २, ७ तथा ८)। दंडी (६ वीं शती) ने इस मत का पिष्टपेषण किया। यथा—

इतिवैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाःस्मृताः

(काव्यादर्श १।४२)

इस प्रकार दंडी ने रीति को गुणों से सम्बन्धित करके दशों गुणों को वैदर्भी रीति का प्राण कहा। ७ वीं शती में बाणभट्ट ने रीति की चर्चा की और लगभग २०० वर्ष पश्चात् दंडी के इसी सूत्र को प्रधानता देकर वामन ने रीति को काव्य की आत्मा ही घोषित कर दिया। यथा—

"रीतिरात्मा काव्यस्य" अर्थात् 'रीति' काव्य की आत्मा है।

(काव्यालंकार १, २, ६)

इस ओर अलंकार की परम्पराओं के समानान्तर रीति परम्परा भी चली आरही थी। वामन ने उसे एक निश्चित रूप में बाँध दिया। वामन ने 'गुणों' को काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाले तथा 'अलंकारों' को काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म कहा। यथा—

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः

तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

(काव्यालंकार ३, १, १२)

वामन ने रस को भी गौण ही बताया। रस को "कान्तिगुण" के

ही अन्तर्गत रखा था—"दीप्ति रसत्वंकान्तिः" (काव्यालंकार सूत्र ३, २, १४)।

९ वीं शती में रुद्रट ने 'रीति' को समस्त पदों का प्रयोग विशेष ही बताया। आनन्दवर्द्धन, विश्वनाथ और अभिनवगुप्त ने ध्वनि के आधार पर ही काव्य का विवेचन किया और कुन्तक (११ वीं शती) ने रीति का स्पष्ट विरोध किया।

व्यापक रूप में संस्कृत के रीति-साहित्य की परम्परा का क्रम १७ वीं शती के अन्त तक चलता रहा। हिन्दी को यही परम्परा संस्कृत से उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त हुई। १७ वीं से १६ वीं शती के अन्त तक हिन्दी में अनेक रीति-ग्रन्थों की रचना हुई। आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'इन दिनों हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की भरमार-सी होगई।' इसी कारण हिन्दी का यह युग 'रीति-काल' कहलाया। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी के रीति-काल का अध्याय अथवा हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा न तो कोई आकस्मिक घटना ही थी और न कोई नवीन उद्भावना ही। वह तो एक प्राचीन परम्परा का नियमित विकास थी।

हिन्दी के 'रीति-काल' में प्रायः तीन प्रकार की रचनायें लिखी गईं—रीति-सम्बन्धी, शृंगार-रस पूरक तथा नायिका-भेद-कथन-सम्बन्धी। ये तीनों ही परम्पराएँ संस्कृत से चली आती थीं। हिन्दी के रीति-साहित्य के प्रेरक संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय तथा वक्रोक्ति-सम्प्रदाय थे। हिन्दी के 'शृंगार-साहित्य' के पीछे तीन परम्पराएँ थीं—(१) गाथा-सतसई, अमरूक शतक, तथा आर्या सप्तशती के शृंगार मुक्तक और शृंगार तिलक, शृंगार शतक, चौर पंचाशिका आदि के ऐहिक मुक्तक। (२) दुर्गा-सप्तशती, चण्डी-शतक आदि स्तोत्र-ग्रन्थ, शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण की की शृङ्गार लीलाओं के वर्णन और बंगाल-बिहार में प्रचलित राधा-कृष्ण की भक्ति से सम्बन्धित छन्द (१२ शती से १४ वीं शती तक) तथा (३) काम-शास्त्र की चिन्ता-धारा। वात्सायन के काम-सूत्र के पश्चात् रति-रहस्य, अनंग-रंग आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ।

हिन्दी के नायिका-भेद-कथन की परम्परा भरतमुनि प्रणीत नाट्य-

शास्त्र से चली आती थी। धनंजय, रुद्रट, भानुदत्त तथा विश्वनाथ ने उसे पूर्णतया व्यवस्थित बना दिया था। इसके अतिरिक्त ऐहिक, मुक्तकों, भक्ति-स्तोत्रों तथा काम-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों की उस पर छाप पड़ना स्वाभाविक ही था।

आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार हिन्दी के आदि कवि पुष्य ने (संवत् ७७०, ८ वीं शती का प्रारम्भ) में कोई अलंकार ग्रन्थ लिखा था। किन्तु इसका कोई पता नहीं है। हिन्दी का सर्वप्रथम उपलब्ध रीति ग्रन्थ कृपाराम कृत 'हिततरंगिणी' है। निम्नलिखित दोहे के आधार पर इसका निर्माण-काल सन् १५४१ (१६ वीं शती का मध्य) ठहरता है—

सिधि निधि शिवमुख चन्द्र लखि माघ शुक्ल तृतियासु।
हित तरंगिणी हौं रची, कवि हित परम कृपासु॥

सूरदास की 'साहित्य-लहरी' (रचना काल १६ वीं शती का उत्तरार्द्ध) में रीतिकालीन प्रवृत्तियों के बीज मिलते हैं। उनके कूटों में अलंकारों के उदाहरण मिलते हैं। नन्ददास का, अपने किसी मित्र के कहने से नायिका भेद लिखना प्रसिद्ध है ही—"एक मीत हमसों अस गुन्यौ। मैं नाइका भेद नहिं सुन्यौ। × × × बिन जानै यह भेद सब प्रेम न परचै होई।'

गोस्वामी तुलसीदास की 'बरवै रामायण' में यद्यपि लक्षण नहीं हैं, तथापि उसमें भी अलंकारों के उदाहरण उपस्थित करने की ओर झुकाव है।

नरहरि कवि के साथ अकबर के दरबार में आने-जाने वाले कवि करनेस ने 'कर्णाभरण', 'श्रुति-भूषण' और 'भूप-भूषण' नामक अलंकार-सम्बन्धी तीन ग्रंथ लिखे थे।

इतना सब कुछ होने पर भी हिन्दी के किसी भी कवि ने संस्कृत साहित्य-शास्त्र में निरूपित काव्याङ्गों का पूरा परिचय नहीं कराया था। यह काम 'केशवदास' ने (समय सन् १५५५ से सन् १६१७) किया। केशवदास चमत्कारवादी कवि थे। हिन्दी में शास्त्रीय पद्धति पर इस ओर अलंकारों का निरूपण इन्होंने ही किया। इस विषय पर इन्होंने 'रसिक-

प्रिया' और 'कवि-प्रिया' नाम की दो पुस्तकें लिखीं। इन्होंने रस, रीति, अलंकार आदि सब के लिए 'अलंकार' शब्द का प्रयोग किया। 'कवि-प्रिया' में 'अलंकार' के सामान्य' और 'विशेष' दो भेद करके इन्होंने 'सामान्य' के अन्तर्गत अर्थ विषय और 'विशेष' के अन्तर्गत वास्तविक अलंकार रखे हैं। हिन्दी के अन्य कवियों को यह परम्परा मान्य नहीं हुई और केशवदास की यह परम्परा केशवदास के साथ ही समाप्त हो गई। हिन्दी के रीति-ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी (समय सन् १६४३ के आसपास, केशवदास से लगभग ५० वर्ष बाद) से चली। अतः हिन्दी के रीति-काल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए। उन्होंने संवत् १७०० के आसपास 'काव्य विवेक', 'कवि-कुल-कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश', ये तीन ग्रन्थ लिखकर काव्य के सब अंगों का पूरा निरूपण किया और पिंगल या छन्दःशास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी।

मुसलमानों का पहला पानी का जहाज़ भारतवर्ष में सन ६३६ में आया था। ८ वीं शती में अरब वालों ने भड़ौंच और काठियावाड़ के समुद्री तट पर हमला करके अपना आधिपत्य कर लिया था और वे अपने व्यापार को बढ़ाने तथा उपनिवेशों के निर्माण में लग गए थे। दशवीं शती के अन्त अथवा ११ वीं शती के आरम्भ में भारतवर्ष पर मुसलमानों का सर्वप्रथम व्यवस्थित आक्रमण हुआ था और १३ वीं शती के अन्त तक वे यहाँ अच्छी तरह जम गए थे और १८ वीं शती के अन्त तक यहाँ शासन करते रहे। इस प्रकार लगभग एक हज़ार वर्षों तक मुसलमानों का भारतवर्ष में राजनीतिक प्रभुत्व रहा। धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रों पर उनका और उनके शासन का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

हिन्दुओं को मुसलमान बनाना इस्लाम-धर्म का एक आवश्यक अंग था। फलस्वरूप इसके विरुद्ध हिन्दुओं ने मोर्चा खड़ा किया। असुरों के संहारक मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम मुख्य रूप से हिन्दी-कविता के विषय बनाए गए। बाद में जब मुसलमान यहाँ पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गए, तो दोनों ही ओर से धार्मिक कट्टरता में थोड़ा शैथिल्य आ गया और

हिन्दुओं की भक्ति-भावना में रागानुगा-भक्ति एव प्रेम-लक्षण-भक्ति का समावेश हुआ। यहाँ तक कि नायिका-भेद भक्ति-मार्ग का एक अंग बन गया। दूसरी ओर मुसलमान सूफी कवि अपनी प्रेम की पीर का पाठ पढ़ा रहे थे। इन सूफी कवियों के प्रभाव के कारण हिन्दुओं की प्रेम-लक्षण भक्ति में कामुकता का समावेश हो गया। आगे के कवियों के हाथों में, जिनमें आध्यात्म-भावना का अभाव था, प्रेम-लक्षण-भक्ति का लौकिक सौन्दर्य-प्रेम विकृत और पतित हो गया।

हिन्दू और मुसलमानों के सम्पर्क के कारण सामान्य भाषा उर्दू की उत्पत्ति हुई। उन दिनों सूफी कवि उर्दू में भी रचनाएँ लिखा करते थे। फ़ारसी के ढंग पर उर्दू में भी शारीरिक सौन्दर्य, माशूक़, गुल और बुलबुल की चर्चाएँ हुआ करती थीं। इस प्रकार फ़ारसी भाषा और सूफी मत के प्रभाव के कारण उर्दू की कविता में प्रारम्भ से ही शृंगारी भावनाओं का प्राधान्य रहा। विलासी बादशाहों के दरबार में आश्रय मिल जाने के कारण उर्दू की कविता में साक़ी और शराब, जाम और प्याला आदि की भी चर्चाएँ घर कर गईं सुरा और सुराही, माशूक़ और उसके सितम, तथा रक़ीबों की ज़्यादतियाँ आदि उन दिनों की उर्दू कविता की विशेषताएँ बन गईं।

विलासी शासकों ने ऐसी रचनाओं को संरक्षण प्रदान किया। समृद्ध जनता ने उनके द्वारा अपने मन का बोझा हल्का हुआ समझा। हिन्दुओं की भक्ति-भावना के अन्तर्गत राधा-कृष्ण की प्रेम लक्षणा-भक्ति की प्रतिष्ठा हो ही चुकी थी। हिन्दी की कविता में नायक और नायिकाओं की चर्चा चल पड़ी और वह तत्कालीन अतिरंजित वातावरण के रंग में रंग गई। केशवदास ने (सन १६०० ई०) में प्रेम की महिमा बताते हुए कृष्ण को परम पुरुष और राधिका को जगनायक की नायिका कहा था—

सब तें पर परसिद्ध जो, ताकी प्रिया जु होइ।
परकीया तासों कहैं, परम पुराने लोइ॥
जगनाइक की नाइका, बरनी केशवदास।
तिनके दरसन रस कहौं, सुनहु प्रछन्न प्रकास॥
(रसिकप्रिया ३। ६७, ७४)

ये ही परम पुरुष श्रीकृष्ण और मायादेवी राधिका आगे चलकर उर्दू की कविता के प्रभाव से साधारण कामुक नायक और नायिका के रूप में गृहीत होने लगे। यथा—

तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी है उरबसी समान॥
—बिहारी

× × × ×

बूझि हैं चवैया तब कैहौं कहा दैया,
इत पारिगो को मैया मेरी सेज पै कन्हैया कों।
—पद्माकर

तथा— × × ×

मुसकाय कै राधिका कंठ लगाय, छिप्यौ कहूँ जाय निकुंजन मैं।
—मतिराम

शाही दरबार में प्रश्रय मिलने का एक और फल हुआ। उर्दू के शायर अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा के गीत (क़सीदा) लिखने लगे और उर्दू की कविता अपने अन्नदाताओं की तारीफ़ों के पुलों से पट गई। हिन्दी के कवियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा और वे भी राज दरबारों में जाकर 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' कह कर उमरदराजों का गुण-गान करने लगे। इस प्रकार हिन्दी-कविता भक्त कवियों की कविता की भाँति 'स्वान्तः सुखाय' न होकर 'स्वामिनः सुखाय' होने लगी। अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए कविगण तरह-तरह से अपनी योग्यता और परिश्रम का प्रदर्शन करें, यह स्वाभाविक ही था। फलतः हिन्दी के रीति-कालीन कवियों ने काव्य-शास्त्र से सम्बन्धित अपनी कार-गुज़ारी दिखाने में कोई कसर उठा न रखी। यथा—

राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन कौं
बुध कवि के जो उपकंठ ही बसति है।
—सेनापति

तथा—

ठाकुर सो कवि भावत मोहिं जो रजासभा में बड़प्पन पावै।
× × × ×

—ठाकुर

मुगल शासकों के दरबार वैभव और विलास की जीती-जागती मूर्त्ति थे। दरबारों में बैठने-उठने वाले कवियों की आँखों में प्रत्येक क्षण मणि-दीप और संगमरमर के फर्श घूमा करते थे। इनमें बहुत से तो स्वयं भी काव्य-भवनों में रहते तथा विलास के उपकरणों में आकण्ठ निमग्न रहा करते थे। रीतिकलीन रचनाओं में उपर्युक्त अवयव स्पष्ट ही परिलक्षित होते हैं—

प्रतिबिम्बित जय साह दुति दीपति दरपन धाम।
सब जगु जीतन कौं कर्‌यौ काम व्यूह मनु काम॥

—बिहारी

सोने की अंगीठिन में अगिन अधूम होय,
होय धूम धारहु तौ मृगमद आला की।
× × × ×
बाला की बहार औ दुसाला की बहार आई।
पाला की बहार में बहार बड़ी प्याला की॥

—पद्‌माकर

नगर में चारों ओर उपवन, उद्यान तथा सरोवर सुशोभित थे। इनमें विहार करने के लिए आने-जाने वाली रमणियों को देखकर सम्भवतः कविजनों को परकीया आदि नायिकाओं के वर्णन की प्रेरणा प्राप्त होती रहती थी। यथा—

लोग लुगाई हिलमिल खेलत फाग,
पर्‌यौ उड़ावन मोकौ, सब दिन काग।

—रहीम

संस्कृत के रीति-ग्रन्थकारों की परम्परा में पंडितराज जगन्नाथ (१७ वीं शती का प्रारम्भ) अन्तिम हैं। संस्कृत के वही एक ऐसे कवि

आचार्य हैं, जिन्होंने लक्षणों के अनुरूप उदाहरण देने के लिए स्वरचित रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने स्वयं कहा है कि—

निर्माय नूतन मुदाहरणानुरूपं,
काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किंचित्।
कस्तूरिका जननशक्ति भृता मृगेण,
किं सेव्यते सुमनसां मनसा पि गन्धः ॥

(प्रथम खण्ड, रसगंगाधर)

अर्थात मैंने इस ग्रन्थ में उदाहरणों के अनुरूप जिस उदाहरण में जैसा चाहिए वैसा काव्य बनाकर रखा है, दूसरे से कुछ भी नहीं लिया है, क्योंकि कस्तूरी उत्पन्न करने की शक्ति रखने वाला मृग क्या पुष्पों की गन्ध की ओर मन भी लाता है ? अपनी सुगंध से मस्त उसे क्या परवाह है कि वह पुष्पों की गन्ध को याद करे। इस प्रकार पंडितराज ने काव्य-शास्त्र-रचना का एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया। हिन्दी के कवियों को यही परम्परा विरासत में मिली। इस प्रकार हिन्दी के रीति काल में आते-आते प्रत्येक कवि आचार्य बन गया और प्रत्येक आचार्य कवि। यह एक परिपाटी-सी बन गई कि पहले एक दोहे में अलकार या रस का लक्षण लिख दिया और फिर उसके नीचे उदाहरण के लिए स्वयं विरचित कवित्त या सवैया लिख दिया।

सारांश रूप से हिन्दी के रीतिकाल में प्रचलित साहित्य-प्रवृत्तियाँ इस प्रकार ठहरती हैं—

(१) हिन्दी के रीति-ग्रन्थों के आधार संस्कृत के ग्रन्थ थे। संस्कृत में रस, अलंकार आदि के निरूपण की प्रायः तीन शैलियाँ प्रचलित थीं। हिन्दी में तीनों ही शैलियाँ गृहीत हुईं। यथा—

(क) काव्य-प्रकाश की शैली—इसमें काव्य के सभी अंगों पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला जाता है। इस श्रेणी के मुख्य-ग्रन्थ हैं चिन्तामणि त्रिपाठी कृत 'काव्य विवेक' और 'कवि-कुल-कल्पतरु'; सेनापति का 'काव्य कल्पद्रुम' तथा देव कृत 'काव्य रसायन।'

(ख) शृंगार-तिलक, रस-मंजरी आदि की शैली—इसे शृंगार शैली कह सकते हैं जिसके अंतर्गत शृंगार रसके विभिन्न अंगों, विशेष कर नायिका भेद का निरूपण किया गया है। इस श्रेणी के मुख्य ग्रन्थ हैं—केशव कृत 'रसिक प्रिया', मतिराम का 'रसराज', देवकृत 'भाव विलास', 'रस विलास' 'भवानी विलास' तथा 'सुजान विनोद', पद्माकर का 'जगद्विनोद', प्रवीन कृत 'नवरस तरंग' इत्यादि।

(ग) चन्द्रालोक की शैली—यह अलङ्कार-निरूपण की संक्षिप्त शैली है। इसके अनुसार अलकारों के संक्षिप्त रूप से लक्षण और उदाहरण दिये जाते हैं। इस श्रेणी के मुख्य ग्रन्थ हैं—करनेस का 'श्रुति भूषण', सूरति मिश्र कृत 'अलंकार माला', मतिराम कृत 'ललित ललाम' तथा पद्माकर कृत 'पद्माभरण'

(२) अलङ्कार-निरूपण के लिए अधिकांश कवियों ने जयदेव के 'चन्द्रालोक' तथा अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' का ही अनुकरण किया। केशव ने अवश्य ही दण्डीकृत 'काव्यादर्श' की प्रणाली को अपनाया। हिन्दी का 'अलङ्कार-निरूपण' प्रायः वर्णात्मक ही हुआ।

(३) हिन्दी के रीतिकाल में कवि और आचार्य का भेद लुप्त हो तथा बिना आचार्यत्व के कवि-कर्म अधूरा ही समझा जाता था।

(४) इस युग में तीन प्रकार की रचनायें लिखी गईं: रीति-सम्बन्धी शृङ्गार-सम्बन्धी तथा भक्ति-सम्बन्धी।

(५) रीतिकाल में रस, अलङ्कार और ध्वनि इन तीनों बातों का अनुसरण हुआ। इनमें 'रसमत' की प्रधानता रही और रसों में भी 'शृङ्गार-रस' की। रुद्र भट्ट और भोज के अनुकरण पर 'शृंगारवाद' की प्रतिष्ठा की गई। समस्त आचार्य कवियों ने शृंगार-रस का सांगोपांग निरूपण किया, अन्य रसों की चर्चा मात्र की गई। सभी ने एक स्वर से 'शृङ्गार-रस' को 'रस राज' की उपाधि से विभूषित किया। यथा—

नवहू रस को भाव, बहु तिनके भिन्न विचार।
सबको केशवदास हरि, नायक है श्रृङ्गार ॥

—केशवदास

नवरस मुख्य सिंगार महँ
उपजत बिनसत सकल रस
ज्यों सूक्षम थूल कारन प्रगट
होत महाकारन बिवस—

—देव

(६) श्रृङ्गार रस प्रकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ रहीं—

(क) श्रृङ्गार रस का सावयव (स्थायी भाव, संचारी भाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा उनके विभेदों के सहित) निरूपण।

(ख) उद्दीपन विभाव की प्रधानता रही, क्योंकि 'नायिका-भेद-कथन', 'नख-शिख वर्णन' तथा 'ऋतु-वर्णन' प्रमुख एव प्रिय विषय रहे।

(ग) 'नायिका-भेद-कथन' में हिन्दी के कवियों ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन का परिचय दिया और इस क्षेत्र में वे अपने अग्रज संस्कृत के आचार्यों को पीछे छोड़ गए।

(घ) 'नख-शिख-वर्णन', व्यष्टि और समष्टि दोनों ही रूपों में हुये, यानी नायिका के शरीर का वर्णन भी किया गया और उसके शरीर के अङ्ग-प्रत्यंग का पृथक-पृथक वर्णन भी किया गया। एक-एक अङ्ग के वर्णन में 'अलक शतक' 'तिल हजारा' आदि अनेक ग्रन्थ ही रच डाले गये।

(ङ) 'ऋतु-वर्णन' के अन्तर्गत दो क्रम चले—'षट्ऋतु-वर्णन' तथा 'बारहमासे'।

(७) रीति कालीन रचनाओं में दोहा, सवैया, कवित्त, और छन्दों की प्रधानता रही। वैसे रोला, त्रोटक, चौपाई, हरिगीतिका, छप्पय, पद

और कुण्डलियाँ आदि छन्दों की भी यत्रतत्र तथा यथास्थान छटा दिखाई देती है।

(८) रीति काल की शृङ्गार रस परक रचनाएँ दो रूपों में लिखी गईं—(अ)—केवल साधारण काव्य के रूप में तथा (आ)—लक्षण ग्रन्थों के रूप में। प्रथम कोटि के कवियों में से सेनापति, बिहारी, ग्वाल और घनानन्द मुख्य हैं तथा द्वितीय श्रेणी के कवियों में केशवदास, मतिराम, देव तथा पद्माकर के नाम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

रीतिकाल में लगभग सवासौ ऐसे कवि हुए जिनके नामों का उल्लेख किये बिना हिन्दी-साहित्य का इतिहास अपूर्ण ही समझा जायेगा। इसी एक बात से इस युग में निर्मित साहित्य के महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। हिन्दी का रीतिकाल हिन्दी-साहित्य का सुवर्ण युग कहा जाना चाहिये। इस काल में अगणित ग्रन्थों की रचना हुई और हिन्दी का विपुल भाण्डार तैयार किया गया। जीवन और संसार के दुखों में हमारा चित्त बहाने के लिये शृंगार रस विशेष रूप से उपयोगी है। पुरुष और स्त्री की मनोदशाओं के निरूपण के विचार से 'नायिका-भेद-कथन' हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। भक्तवर नन्ददास ने भी यही कहा है—"बिन जाने यह भेद सब प्रेम न परिचै होइ।" जन्मजात मनोभाव होने के कारण 'शृंगार' समाज के लिए लोक-रंजनकारी तत्त्व का कार्य करता है। इस दृष्टि से भी रीतिकालीन साहित्य का महत्त्व स्पष्ट है।

---

८ : हिन्दी के प्रबन्ध-काव्य

रूपरेखा—

१—प्रबन्ध काव्य का लक्षण
२—हिन्दी काव्य का प्रारम्भ
३—आदिकाल के प्रबन्ध-काव्य

(क) खुमान रासो ।

(ख) पृथ्वीराज रासो ।

(ग) जयचन्द प्रकाश ।

(घ) जयमयंक जस चन्द्रिका ।

(ङ) हम्मीर काव्य ।

(च) विजयपाल रासो ।

४—मध्यकाल के प्रबन्ध-काव्य—

(क) पद्मावत ।

(ख रामचरितमानस ।

(ग) विनयपत्रिका ।

(घ) रामचन्द्रिका ।

५—आधुनिक काल के प्रबन्ध-काव्य ।

(क) बुद्ध-चरित ।

(ख) प्रियप्रवास ।

(ग) साकेत ।

(घ) कामायिनी ।

(ङ) कुरुक्षेत्र ।

६—उपसंहार—वर्त्तमान-काल में प्रबन्ध-काव्य और उनका भविष्य ।

काव्य-रचना के दो रूप होते हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत किसी महापुरुष के जीवन-चरित से सम्बन्धित घटनाओं का क्रमबद्ध विवेचन एवं वर्णन किया जाता है। जिस काव्य के अन्तर्गत किसी महापुरुष के सम्पूर्ण जीवन का वर्णन हो तथा अनेक घटनाओं का समावेश हो, वह 'प्रबन्ध-काव्य' कहा जाता है। प्रवाह युक्त होना प्रबन्ध-काव्य का सबसे बड़ा लक्षण है। 'प्रबन्ध-काव्य' को 'महाकाव्य' भी कहा जाता है।

आचार्यों ने प्रबन्ध काव्य के लक्षण आदि निर्धारित करते हुए इस सम्बन्ध में विशद विवेचन किया है। संक्षेप में 'प्रबन्ध काव्य' में निम्न-

लिखित विशेषताएँ होनी चाहिए—

(१) इसका नायक या तो देवता हो, या धीरोदात्त गुण वाला कोई उच्च वंश का क्षत्रिय अथवा एक ही कुल के अनेक राजा हों।

(२) उसमें शृंगार, वीर तथा शान्त में से कोई एक रस तो प्रधान हो तथा अन्य रस गौण रूप से आए हों।

(३) उसकी कथावस्तु या तो ऐतिहासिक हो अथवा ऐसी हो जिसकी चर्चा परम्परा से चली आती हो। तात्पर्य यह कि उसका कथानक लोक-प्रसिद्ध होना चाहिए।

(४) कई सर्ग हों (आठ के लगभग), तथा एक सर्ग में एक ही छन्द प्रयुक्त हुआ हो। सर्ग के अन्त में कोई दूसरा छन्द भी हो सकता है।

(५) उसमें कहीं सज्जनों की प्रशंसा हो और कहीं दुष्टों की निन्दा। यत्र-तत्र सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र आदि का भी वर्णन हो।

हिन्दी किसी प्रान्तीय बोली का साहित्यिक रूप नहीं, बल्कि साहित्यिक अपभ्रंश का विकसित रूप है। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का धनी साहित्य उसे उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त हुआ और प्राकृत भाषाओं के साथ पनपकर हिन्दी स्वतंत्र व्यक्तित्व वाली भाषा बन गई। न तो वह कभी 'घुटुरुवन' ही चली और न कभी उसने तोतली बोली ही बोली। हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ कहानियों, कहावतों अथवा छोटी-छोटी तुकबन्दियों से न होकर 'प्रबन्ध काव्यों' से हुआ।

हिन्दी का जन्म विक्रम की ९ वीं शती के आसपास माना जाता है। यह समय लड़ाई-भिड़ाई और वीरता के गौरव का समय था, अन्य सब बातें पीछे पड़ गई थीं। हर्षवर्द्धन की मृत्यु (संवत् ७०४) के पश्चात् केन्द्रीय शासन की व्यवस्था भंग हो गई थी और राजपूत नरेश छोटे-छोटे भू भागों के शासक बन गए थे। अपने प्रभाव की वृद्धि के लिए वे आपस में प्रायः लड़ा करते थे। बीच-बीच में मुसलमानों के भी आक्रमण होते रहते थे। प्रकार उन दोनों में कभी शौर्य-प्रदर्शनार्थ युद्ध होता था और कभी अविरोधात्मक।

पारस्परिक युद्धों का कारण प्रायः कुमारियाँ होती थीं। कन्यादान में राजपूत अपनी हेटी समझते थे और किसी की कन्या को बलपूर्वक हरण कर लेना गौरव की वस्तु समझा जाता था। राजनीतिक कारणों वश होने वाले युद्ध में भी प्रायः किसी रूपवती कन्या की कल्पना कर ली जाती थी। इस प्रकार उन दिनों की रचनाओं के विषय 'युद्ध' और 'प्रेम' थे। प्रधानता वीर-रस की रहती थी और 'शृंगार रस' वीर रस का सहायक होकर आता था। इन दिनों प्राप्त होने वाले वीरगाथा-सम्बन्धी ग्रन्थ 'रासो' कहलाते थे। कुछ लोग 'रासो' शब्द का सम्बन्ध 'रहस्य' से बतलाते हैं। अस्तु।

प्रबन्ध रूप में उपलब्ध होने वाला हिन्दी का सबसे प्राचीन ग्रंथ 'खुमान रासो' है। उसके रचयिता का नाम दलपति विजय है। इसका रचना-काल विक्रम की ६ वीं शती ठहरता है। इस समय 'खुमान रासो' की जो प्रति प्राप्त है वह अपूर्ण है, और उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। बाबू श्यामसुन्दर दास के मतानुसार उसमें चित्तौड़-नरेश दूसरे खुम्माण (समय संवत् ८७०-६००) के युद्ध का वर्णन है।

दूसरा प्रबन्ध काव्य चन्द बरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' है। यह हिन्दी के साहित्यिक प्रबन्ध के रूप में उपलब्ध होने वाला सर्व प्रथम ग्रंथ है। चन्द बरदाई दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान के मित्र और सलाहकार भी थे। युद्ध में, आखेट में, सभा में, यात्रा में, सदा महाराज के साथ रहा करते थे। कहते हैं जब पृथ्वीराज संयोगिता के प्रेमपाश में बद्ध हो राज्य की ओर से उदासीन था और मुहम्मद गोरी आक्रमण की तैयारी कर रहा था, तब चन्द ने इन शब्दों द्वारा महाराज को सावधान किया था—

"तू गोरी पर रतियत
तो घर गोरी तकियत"

किन्तु महाराज ने चन्द की बात पर कान नहीं दिया, और अन्त में गोरी ने पृथ्वीराज को बन्दी बनाया, आदि। कहते हैं राजा के साथ चन्द

भी बन्दी बना लिए गए थे। चलते समय उन्होंने अपने पुत्र जल्हन को बुलाया और पूरा करने के लिए ग्रंथ उसे सौंप दिया—

'पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप-काज।"

× × × ×

रघुनाथ चरित हनुमंत कृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथ्वीराज-सुजस कवि चंद्र कृत चंद-नंद उद्धरिय तिमि।

कतिपय विद्वानों के मतानुसार 'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता संदिग्ध है, और वह १६ वीं शती में विरचित एक ग्रन्थ है।

'पृथ्वीराजरासो' ढाई हज़ार पृष्ठों का एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इसमें ६९ समय (सर्ग या अध्याय) हैं। इसमें वीर रस और शृंगार रस के सुन्दर वर्णन हैं। इसमें प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः सभी छन्दों का व्यवहार हुआ है। मुख्य छन्द कवित्त, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या हैं।

'पृथ्वीराज रासो' के वर्णन सुन्दर है, और रचना-काल की दृष्टि से ग्रन्थ की भाषा साहित्यिक और काफी परिष्कृत है। भाषा में प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के साथ-साथ शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिन्ह पुराने ढंग के हैं। उदाहरण लीजिए—

बज्जिय घोर निसान रान चौहान चहौं दिसि।
सकल सूर सामंत समरि बल जंत्र मंत्र तिसि॥
उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लाग वीर नट।
कढ़त तेग मन बेग लगत मनो बीजु झट्ट घट।
थकि रहे सूर कौतिग गगन, रँगन मगन भइ शोन धर।
हृदि हरषि वीर जग्गे हुलसि हुरेउ रंग नप रत्त वर॥

भट्ट केदार कृत "जयचंद प्रकाश", मधुकर का "जय मयंक जस चन्द्रिका', सारंगधर का 'हमीर काव्य' तथा नल्लसिंह का 'विजयपाल रासो' इस काल के अन्य प्रबन्ध काव्य हैं।

हिन्दी के मध्यकाल के प्रबन्ध काव्यों का क्रम मुसलमान सूफी कवियों की रचनाओं से प्रारम्भ होता है। इन्होंने हिन्दुओं की कहानियों के

आधार पर सूफियों की प्रेम की पीर का प्रचार किया। कुतबना कृत 'मृगावती' तथा मभझन कृत 'मधुमालती' इस समय की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। हिन्दी का सर्वप्रथम साहित्यिक एवं प्रौढ़ ग्रंथ 'पद्मावत' है। यह अवधी भाषा में दोहा-चौपाई छन्दों में लिखा गया है। इसके रचयिता मलिक मोहम्मद जायसी (सवत् १५७७ के आस पास) हैं। पद्मावत का पूर्वार्द्ध एकान्त प्रेममार्ग का आभास देता है और उत्तरार्द्ध में लोक-पक्ष का भी विधान किया गया है।

'पद्मावत' में चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी का वर्णन किया गया है और उसमें कल्पना का पुट देकर जायसी ने कथानक को अत्यन्त मर्म-स्पर्शी बना दिया है। पद्मावत की भाषा पूर्वी अवधी है तथा उसका कथा-प्रवाह सर्वथा स्वाभाविक है। उसकी घटनाएँ एक दूसरे के साथ सुसम्बद्ध हैं।

पद्मावत की रचना प्रबन्ध-काव्य की सर्ग, अध्याय आदि वाली शैली पर न होकर फारसी की मसनवी शैली पर हुई है। कथा चलती रहती है और स्थान स्थान पर शीर्षक दे दिए जाते हैं—जैसे 'सिंहलद्वीप-वर्णन खंड' 'नख-शिख-खंड' आदि।

सूफियों की उपासना-पद्धति के अनुसार जायसी ने लौकिक प्रेम के द्वारा यथास्थान पारलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की है। पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है, वह पाठक को सौन्दर्य की लोकोत्तर भावना में मग्न करने वाला है। अनेक प्रकार के अलंकारों की योजना उसमें पाई जाती है। कुछ पद्य देखिये—

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा,
नागिनि झाँपि लीन्ह चहुँपासा।
ओनई घटा परी जग छाँहा,
ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चन्द देखावा।

पद्मिनी के रूप-वर्णन में जायसी ने कहीं कहीं उस अनन्त सौंदर्य की ओर, जिसके विरह में ये सारी सृष्टि व्याकुल-सी है, बड़े ही सुन्दर संकेत किये हैं। इसी प्रकार योगी रतनसेन के कठिन मार्ग के वर्णन में साधक के मार्ग के विघ्नों (काम, क्रोध आदि विकारों) की व्यंजना की है।

अन्त में जायसी ने स्वयं ही समस्त वर्णन को अन्योक्ति कह डाला है—

मैं यह अरथ पंडितन्ह बूझा।
कही सबै हम कछु नाहि सूझा॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुध पद्मिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेहि पन्थ दिखावा।
बिनु सद्गुरु को निर्गुन पावा॥

इनके अतिरिक्त उसमान की 'चित्रावली' तथा नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' ये दो छोटी-छोटी रचनायें भी इसी कोटि में रखी जा सकती हैं।

पद्मावत की दोहा-चौपाई वाली शैली पर गोस्वामी तुलसीदास (विक्रम की १७ वीं शती का पूर्वार्द्ध) ने 'रामचरितमानस' की रचना की इसकी भाषा परिष्कृत एवं संस्कृतमयी अवधी है। 'पद्मावत' की भाषा-पूर्वी अवधी है और 'रामचरितमानस' की भाषा पश्चिमी अवधी है, जो पूर्वी हिन्दी के निकट ठहरती है। 'पद्मावत' में अवधी के ग्रामीण रूप का माधुर्य है और रामचरितमानस की अवधी में उसके सुसंस्कृत स्वरूप की छटा परिलक्षित होती है।

'रामचरितमानस' हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट एवं सफल प्रबन्ध काव्य, प्रबंध काव्य ही क्या, काव्य ग्रन्थ है। भारतीय जनता में इसके समान आज कोई ग्रन्थ लोक-प्रिय नहीं हुआ है। इसकी बहुमुखी कुशलता किसी भी साहित्य के लिये गौरव की वस्तु हो सकती है।

'रामचरितमानस' के अन्तर्गत प्रबन्ध-काव्य के समस्त अवयवों, इतिवृत्ति, वस्तु व्यापार वर्णन, चरित्र-चित्रण, भाव-व्यंजना, प्रकृति-वर्णन

नगर-वर्णन, नखशिख-निरूपण आदि का सफल प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ में आदि से अन्त तक राम-कथा का अगाध प्रवाह है, शैथिल्य तो कहीं देखने को भी नहीं मिलता। संक्षेप में 'रामचरितमानस' एक सिद्ध काव्य है। गोस्वामीजी ने "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषा निबन्धमति मञ्जुलमातनोति" कह कर ग्रन्थ का उपक्रम किया है और "जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हूँ। पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।" कहकर उन्होंने ग्रन्थ का उपसंहार किया है।

पात्रों को विषम परिस्थिति में डालकर चरित्र का सफल चित्रण करना प्रबन्ध-ग्रन्थकार की सबसे बड़ी विशेषता मानी जाती है। गोस्वामी जी इस कसौटी पर शतप्रतिशत खरे उतरते हैं। राम-लक्ष्मण और जानकी, तीनों नाव में बैठकर गंगा के पार उतरते हैं। वनवासी राम के पास फूटी कौड़ी भी नहीं है जो केवट को उतराई के रूप में दे सकें। सीताजी तुरंत ही अपनी अंगूठी उतार कर उसे दे देती हैं। केवट भगवान् के चरण पकड़ कर कहता है "नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥" ऐसे अवसर पर भक्त और भगवान् दोनों की मर्यादा का निर्वाह गोस्वामीजी ही कर सकते थे। देखिये—

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥
पिय हिय की सिय जाननहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥
कहेउ कृपालु लेहि उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥
नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा।
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥
अब कछु नाथ न चाहिय मोरें। दीनदयाल अनुग्रह तोरें॥
फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा।

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवट लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥

राम-वन-गमन, भरत की आत्मग्लानि, लक्ष्मण को शक्ति लगना

आदि मार्मिक स्थलों को पहिचान दिखाकर गोस्वामीजी ने अपने प्रबन्ध-कौशल को अमर बना दिया है।

'विनय पत्रिका' तुलसीदासजी का अन्य प्रबन्ध-काव्य है। इसकी भाषा संस्कृतनिष्ठ भाषा है। इसके अन्तर्गत एक ओर भगवान् राम से 'कलयुग' की शिकायत-सी गई है और दूसरी ओर 'वैष्णव भक्ति' का सातों अंगों तथा छहों साधनों सहित क्रमबद्ध सांगोपांग निरूपण किया गया है!

भक्ति-काल के अन्त और रीतिकाल के प्रारम्भ में हमें एक अन्य प्रबन्ध-काव्य के दर्शन होते हैं। वह है आचार्य केशवदास प्रणीत 'रामचन्द्रिका'। उसमें भी राम-कथा का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है, परन्तु 'रामचरित-मानस' जैसे प्रवाह का उसमें अभाव है।

केशवदास पडित थे और पांडित्य-प्रदर्शन ही उनका लक्ष्य रहता था। फलतः उन्होंने अलंकार-योजना, रचना-चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य, शब्द-चयन आदि की ओर अधिक ध्यान दिया। ऐसी स्थिति में कथानक के प्रवाह में शैथिल्य का आजाना स्वाभाविक ही था। कतिपय स्थलों पर केशवदास ने तुलसीदास की भाँति मार्मिक स्थलों का पर्याप्त विवेचन भी नहीं किया है। राम-वन-गमन के प्रसंग पर गोस्वामीजी ने न मालूम कितना लिखा है। राम, सीता और लक्ष्मण वल्कल वस्त्र धारण किए हुए चले जारहे हैं। दो राजकुमारों तथा एक परम सुन्दरी स्त्री को इस दशा में देखकर प्रत्येक के मनमें कौतूहल उत्पन्न होना एवं हृदय में सहानुभूति एवं क्षोभ के भावों का संचार होना स्वाभाविक ही है। गोस्वामीजी ने मनोवैज्ञानिक ढंग पर इस दृश्य का सजीव चित्रण किया है, परन्तु केशवदास ने इतिवृत्तात्मक ढंग पर थोड़ी चर्चा करके विषय को चलता कर दिया है—

"कौन हो कितते चले, कित जात हो, केहि कामजू।
कौन की दुहिता, बहू, कहि कौन की यह बाम जू॥"

रीति काल में काव्य के अंग-उपांगों के विभिन्न स्वरूप लक्षण और उदाहरण लिखने की धूम रही। फलस्वरूप मुक्तक ग्रन्थों की भरमार रही।

खेद है कि इन दो-सौ ढाई-सौ वर्षों के भीतर किसी उल्लेखनीय प्रबन्ध-काव्य की रचना नहीं हुई।

आधुनिक काल में हमें सबसे पहला प्रबन्ध काव्य 'बुद्ध-चरित्र' मिलता है। इसके रचयिता हैं आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल और यह ग्रन्थ ब्रजभाषा मे लिखा गया है। इसमें भाषा और वर्णन दोनों ही सुन्दर बन पड़े हैं। कवि ने कथा-प्रवाह का सुन्दर निर्वाह किया है तथा सम्बन्ध-निर्वाह की रक्षा की है। मार्मिक स्थलों की पहिचान करके कवि ने ग्रन्थ को और भी मनोरम बना दिया है।

आधुनिक युग वास्तव में खड़ी बोली का युग है। खड़ी बोली में लिखे जाने वाले उल्लेखनीय प्रबन्ध काव्य इस प्रकार हैं—'प्रिय-प्रवास' (पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध'), साकेत (श्री मैथिलीशरण गुप्त), 'कामायनी' (बाबू जयशंकर प्रसाद) तथा 'कुरुक्षेत्र' (श्री रामधारीसिंह 'दिनकर')। इनके अतिरिक्त भी खड़ी बोली में कई अच्छे प्रबन्ध काव्य लिखे गए हैं। यथा—

'कृष्णायन' 'वैदेही वनवास', 'यशोधरा' तथा 'नूरजहाँ'। ये सब मिलकर 'रामचरित-मानस' की तुलना में हल्के ही ठहरेंगे।

'प्रियवास' में कृष्ण के जीवन के एक अंग विशेष का एक नवीन दृष्टिकोण से वर्णन किया गया है, तथा 'साकेत' में रामचरित्र को एक नए साँचे में ढालने का सफल प्रयास है। प्रथम में राधिका का विरह-वर्णन प्रधान है तथा द्वितीय में उपेक्षिता उर्मिला के विरह का महत्त्व-निरूपण प्रतिपाद्य विषय है। दोनों ग्रन्थों में व्यक्तिगत लाभ-हानि के सम्मुख लोक हित की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। यथा—

(क) "प्यारे जीवें जग-हित करें गेह आवें न आवें।
मेरे जी में अनुपम रहा विश्व का प्रेम जागा।"
—प्रियप्रवास

(ख) प्रोषित पतिकाएँ हों जितनी भी
सखि, उन्हें निमन्त्रण दे आ,

समदुःखिनी मिलें तो दुःख बँटे,
जा प्रणयपुरस्सर ले आ।
—साकेत

तथा— सुख-शान्ति रहे स्वदेश की,
यह सच्ची छवि छात्र वेश की।

बाबू जयशंकर 'प्रसाद' कृत 'कामायनी' आधुनिक युग का एक उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्य है। कथानक, भाषा, अलंकार, छन्द, कल्पना, मार्मिकता आदि समस्त अवयव उसे एक सफल प्रबन्ध-काव्य के आसन पर प्रतिष्ठित करने में पूर्ण सहायता प्रदान करते हैं। 'कामायिनी' विशद कल्पनाओं और मार्मिक उक्तियों से परिपूर्ण है। 'सृष्टि' की उत्पत्ति एवं उसके विकास की कथा को गतिशीलता प्रदान करना कवि का उद्देश्य है और वह उसमें सर्वथा सफल हुआ है। 'कामायिनी' के रूप-वर्णन विशेषतया सजीव हैं। एक नमूना लीजिए—

"अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार।
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त था,
होता था जिनमें संचार॥
चिन्ता-कातर बदन हो रहा,
पौरुष जिसमें ओतप्रोत।
उधर उपेक्षामय यौवन का,
बहता भीतर मधुमय स्रोत॥"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्यिक हिन्दी के विभिन्न रूपों अथवा हिन्दी की विभिन्न भाषाओं में प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई है। इस दृष्टि से विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'खुमान रासो' तथा 'पृथ्वीराज रासो' राजस्थानीभाषा के, 'पद्मावत' तथा 'रामचरितमानस' अवधी भाषा के, 'विनय पत्रिका', 'रामचन्द्रिका' तथा 'बुद्धचरित' ब्रज भाषा के और 'प्रियप्रवास', 'साकेत' तथा 'कामायिनी' खड़ी बोली के उल्लेखनीय प्रबन्ध काव्य हैं।

वर्त्तमान काल में हिन्दी में प्रबन्ध काव्य-परम्परा लुप्त-सी होती जा रही है। आजकल गीतों अथवा मुक्तकों का दौरदौरा है। वर्त्तमान परिस्थितियाँ इस प्रवृत्ति के मूल में हैं। आज का मानव-जीवन अत्यन्त संघर्षमय एवं मानव का कार्य क्षेत्र अत्यन्त जटिल बन गया है। आज की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं के कारण भारतवर्ष का साधारण निवासी उद्विग्न है। प्रबन्ध काव्य लिखने का न उसमें धैर्य है और न साहस। इतना ही नहीं हिन्दी के वर्त्तमान कवि अपने जीवन में अनिश्चितता का भी अनुभव करते रहते हैं। जो गीत आज लिखा है, वह कल पुराना पड़ जायगा, ऐसी उनकी धारणा है। यथा—

"आज नहीं जो कल था।
× × × ×
गिरि सा अडिग आज मेरा मन,
जो कल तक चंचल था।"

आज जीवन में श्रद्धा, विश्वास और संतोष का सर्वथा अभाव है। इसी कारण कवियों में प्रबन्ध-रचना के लिये अपेक्षित दृढ़ता और साहस का अभाव है।

'कुरुक्षेत्र' लिखकर 'दिनकर' ने तथा 'जयकाश्मीर' लिखकर 'तरंगी' ने एक नवीन विचार-धारा का सूत्रपात किया है। स्वतन्त्र भारत की राष्ट्र एवं राज भाषा हिन्दी का भविष्य सर्वथा समुज्ज्वल है।

---

६ : मुसलमान कवियों की हिंदी-सेवा

रूपरेखा—

१—मुसलमानों का हिन्दी भाषा से प्रेम
२—आदिकाल में

(क) खुसरो
(ख) कबीर
(ग) जायसी तथा अन्य सूफ़ी कवि

३—भक्तिकाल में
(क) रसखान
(ख) आलम

४—रीति-काल में
रसलीन तथा अन्य कवि

५—आधुनिक काल में
(क) इन्शाउल्लाह खाँ
(ख) नज़ीर अकबराबादी

६—उपसंहार—"इन मुसलमान हरिजजन पै कोटिन हिन्दुन वारिए।"

मुसलमानों ने हिन्द की भाषा को 'हिन्दवी' या हिन्दी कहा और भारतवर्ष को अपना देश समझने के साथ-साथ 'हिन्दवी' अथवा हिन्दी को अपनी भाषा अथवा 'मादरी ज़बान' भी समझने लगे। हिन्दी साहित्य का इतिहास इस बात को प्रमाणित करता है कि मुसलमानों में प्रारम्भ से ही हिन्दी और हिन्दी कविता के प्रति प्रेम रहा है। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं भी हिन्दी में सुन्दर रचनाएँ लिखी हैं। खुसरो की मुकरियाँ, कबीर की साखियाँ और बानी, जायसी की मार्मिक चौपाइयाँ, रसखान के कवित्त और सवैये तथा नज़ीर अकबराबादी का 'कृष्ण कन्हैया का बालपन', हिन्दी साहित्य की अमर कृतियाँ और अक्षुण्य निधि हैं।

कालक्रम के अनुसार सबसे पहिले अमीर खुसरो का नाम आता है। खुसरो ने संवत् १३४० के आसपास रचना आरम्भ की। ये फ़ारसी भाषा के अच्छे विद्वान् और अपने समय के नामी कवि थे। इनकी कविता में उक्ति-वैचित्र्य का प्राधान्य है तथा जनता का मनोरंजन करना इनका उद्देश्य है। इन्होंने हिन्दी में अनूठी पहेलियां और मुकरियाँ लिखीं।

खुसरो ने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों ही भाषाओं में रचनाएँ लिखीं। खड़ी बोली में पहेलियां, मुकरियां तथा दो सखुनें लिखे हैं तथा ब्रजभाषा में रसीले गीत और दोहे। इनकी कविता के नमूने देखिए—

एक नार दो को ले बैठी। टेढ़ी हो के बिल में पैठी॥
जिसके बैठे उसे सुहाय। खुसरो उसके बल बल जाय॥
(खड़ी बोली, पहेली)

खुसरो रैन सोहाग की जागी पही के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए एक अंग॥
(ब्रजभाषा, दोहा)

तथा—

मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनी बकस मोरी माल
सूनी सेज डरावन लागै, बिरहा-अगिन मोहि डस डस जाय।
(ब्रजभाषा, गीत)

ज्ञानाश्रयी निर्गुण धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि कबीर हुए। इनका जन्म संवत् १४५६ के आसपास हुआ तथा निधन संवत् १५७५ में। इनके जन्म और माता-पिता के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। जो भी हो, इनका पालन-पोषण एक मुसलमान-दम्पति द्वारा हुआ था।

हिन्दुओं और मुसलमानों की धर्म पद्धतियों को मिलाकर इन्होंने एक सामान्य भक्ति-पथ चलाया और 'कबीर पन्थ' को जन्म दिया। इनकी कविता तथा इनकी विचारधारा के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ये शब्द अक्षरशः सत्य और महत्त्वपूर्ण हैं—"इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफ़ियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद, और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव स्पष्ट लक्षित होते हैं।"

कबीर की उपासना निर्गुण-उपासना थी और उसमें सूफ़ियों के सत्संग से प्रेमतत्त्व का मिश्रण होगया था। उनकी प्रेमात्मक परक उक्तियों से यह प्रभाव स्पष्ट है—

साँई के संग सासुर आई।
संग न सूती, स्वाद न माना, गा जीवन सपने की नाईं।
जना चारि मिलि लगन सुझायो, जना पाँच मिलि माड़ो छायो॥
भयो विवाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समझाई॥

कबीरदास रामानन्द जी के शिष्य थे। ज्ञान-मार्ग की बातें इन्होंने हिंदू-शास्त्रों से ग्रहण की थीं। ज्ञानात्मक रहस्यवाद इसी का परिणाम था।

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी॥

इनके वचनों में जो यत्रतत्र 'सर्ववाद' तथा 'सोपाधि ईश्वर' की झलक मिलती है, वह भी हिंदू शास्त्रों के प्रभाव के ही कारण है—

"साँई के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय।"

कबीर ने वैष्णव सम्प्रदाय से 'अहिंसा तत्त्व' ग्रहण किया था—

बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात हैं तिनका कौन हवाल॥

कबीर की उक्तियाँ अत्यन्त खरी और मार्मिक हैं। कहीं-कहीं इनकी बात को समझना टेढ़ी खीर हो जाता है। इनकी "नैया बिच नदिया डूबी जाय" जैसी उलटबासियाँ प्रसिद्ध हैं। इन्हें लेकर यह लोकोक्ति-सी चल पड़ी है कि—

"कबीरदास की उलटी बानी।
बरसै कम्बल भीगै पानी॥"

कबीर की वाणी का संग्रह 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग किए गए हैं—रमैनी, सबद और साखी। 'बीजक' में वेदान्त तत्त्व, हिन्दू-मुसलमानों को फटकार, संसार की अनित्यता, हृदय की शुद्धि, प्रेम-साधना की कठिनता, माया की प्रबलता, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन आदि की असारता, हज, नमाज, व्रत-आराधन की गौणता इत्यादि अनेक प्रसंग हैं।

साम्प्रदायिक शिक्षा और सिद्धांत के उपदेश 'साखी' के अन्तर्गत आते हैं। ये दोहों में हैं। 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं, जिनकी

भाषा पूर्वी हिंदी मिश्रित ब्रजभाषा है। कबीरदास की कविता की भाषा सधुक्कड़ी है जिसमें ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी, राजस्थानी, पंजाबी और पूरबी सभी का पुट पाया जाता है।

हिंदी साहित्य के अन्तर्गत प्रेम-मार्गी रचनायें तो केवल मुसलमान सूफ़ी कवियों की ही देन हैं। कुतुबन, मंझन, जायसी, उसमान, नूरमुहम्मद, राहिल, मुराद आदि अनेक मुसलमान कवियों ने हिंदी में प्रेममार्गी काव्य का सृजन किया। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि मलिक मोहम्मद जायसी की हुई। इन्होंने तीन ग्रंथ लिखे—'पद्मावत', 'अखरावट' तथा 'आखिरी कलाम'। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध 'पद्मावत' ही हुआ। 'पद्मावत' दोहा-चौपाई की शैली पर साहित्यिक रूप में लिखा जाने वाला 'प्रबन्ध-काव्य' है। इस क्षेत्र में 'रामचरितमानस' के बाद इसी की गणना होती है।

'पद्मावत' की भाषा बोलचाल की अवधी है और उसमें ग्रामीणता की सरसता एवं मधुरता का आनन्द आता है। 'पद्मावत' का रचना-काल संवत् १५८३ के लगभग माना जाता है।

जायसी ने लौकिक रूप एवं प्रेम-वर्णन के द्वारा पारलौकिक रूप एवं प्रेम की सुन्दर व्यंजना की है। इनकी उक्तियाँ मार्मिक हैं, जो 'प्रेम की पीर' की व्यंजना करती हैं। इन्होंने रहस्यात्मक ढंग पर, प्रेममार्गी रहस्य-वाद द्वारा, ईश्वरीय प्रेम का सफल निरूपण किया है—

पिउ हिरदय में भेंट न होई।
कोई मिलाव कहौं केहि रोई।

× × × ×

कँवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गयउ सुखाइ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहइ, जो पिउ सींचै आइ॥

आचार्य शुक्लजी के शब्दों में "कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।"

भक्ति काल में राम भक्ति शाखा के अन्तर्गत कोई उल्लेखनीय मुसलमान कवि नहीं हुआ। कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रभाव में आकर कई मुसलमान कवियों ने साहित्यिक रचनाएँ लिखीं। इनमें रसखान का नाम अग्रणी है।

रसखान दिल्ली के एक पठान सरदार थे। कृष्ण-भक्ति के प्रवाह में वे कृष्ण-भक्त ही बन गए; इस्लाम धर्म का उन्होंने परित्याग ही कर दिया। यथा—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसाह बंस की ठसक छाँड़ि रसखान॥

× × ×

तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी-मान।
प्रेम देव की छबिहिं लखि, भए मियाँ रसखान॥

(प्रेमवाटिका)

ये गोस्वामी बिट्ठलनाथ जी के बड़े कृपापात्र शिष्य थे तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' में इनका वृत्तान्त आया है।

इनके भक्ति-विषयक सवैये बड़े ही सुन्दर, सजीव एवं मर्मस्पर्शी हैं। ये हिन्दी प्रेमियों के कण्ठहार हैं। इनमें प्रेम के ऐसे सुन्दर उद्‌गार निकले हैं कि जन-साधारण प्रेम या शृंगार-सम्बन्धी कवित्त-सवैयों को 'रसखान' के ही कहने लगे। इनकी भाषा ब्रज भाषा है और वह चलती हुई सरस तथा शब्दाडम्बर मुक्त है। इनका रचना-काल संवत् १६४० के कुछ पीछे माना जाता है। इनकी लिखी हुई दो छोटी छोटी पुस्तकें, 'प्रेम-वाटिका' (दोहे) तथा 'सुजान रसखान' (कवित्त सवैया) अब तक प्रकाशित हुई हैं।

भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से रसखान का हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी कविता प्रवाहयुक्त होती थी। उदाहरण देखिए—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन-गानन, बेदरिचा सुनी चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कहूँ, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥

टेरत टेरत हारि पर्‌यो, रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो पुरो वह कुंज-कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन॥
सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥

इस काल में एक महत्त्वपूर्ण मुसलमान कवि 'आलम' थे। ये अकबर बादशाह के समय में हुये थे। इन्होंने संवत् १६४० के आसपास 'माधवानल कामकन्दला' नाम की प्रेम-कहानी दोहा-चौपाई में लिखी थी। पाँच-पाँच चौपाइयों पर एक-एक दोहा या सोरठा है। इसकी कहानी प्राकृत या अपभ्रंश काल से चली आती कहानी है तथा यह शृंगार रस-निरूपण की दृष्टि से लिखी गई जान पड़ती है। इनकी रचनाओं में उन्मादपूर्ण उक्तियाँ हैं तथा उन्हें पढ़ते समय 'रसखान' के कवित्त-सवैयों का-सा आनन्द आने लगता है। आलम का निम्नलिखित सवैया देखिए—

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सो चरित्र गुन्यो करैं॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं॥

आलम जन्म से हिन्दु थे। बाद में शेख नाम की रंगरेजिन के साथ शादी करने के हेतु ये मुसलमान हो गये थे। रंगरेजिन के साथ प्रेम का कारण इनका कविता-प्रेम ही था।

अकबर के शासन काल में हिन्दी के एक अन्य कवि का जन्म हुआ था। उनका नाम अब्दुररहीम खानखाना है। ये अकबर बादशाह के अभिभावक प्रसिद्ध मुगल सरदार बैरमखाँ के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१० में हुआ था। ये अरबी, फ़ारसी के अतिरिक्त संस्कृत के भी पूर्ण विद्वान एवं हिन्दी काव्य के सच्चे मर्मज्ञ थे। ये जहाँगीर के समय तक विद्यमान रहे थे। रहीम ने नीति तथा शृंगार-सम्बन्धी रचनाएँ लिखी हैं। इनकी कविता में जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव व्यक्त है। इनकी भाषा

पर पूर्ण अधिकार था। ये ब्रज तथा अवधी पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों काव्य भाषाओं में समान कुशल थे। इन्होंने हिन्दी साहित्य को रहीम-सतसई, बरवै नायिकाभेद, शृंगार-सोरठ, मदनाष्टक, रास पंचाध्यायी, नगरशोभा, आदि कई महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रदान कीं। शुद्ध हिन्दी और फ़ारसी के अतिरिक्त इन्होंने कुछ मिश्रित रचनाएँ भी लिखी हैं, जैसे 'रहीम-काव्य' हिन्दी संस्कृत की खिचड़ी है, और 'खेट कौतुकम्' नामक ज्योतिष का ग्रन्थ संस्कृत और फ़ारसी की खिचड़ी है।

इनकी उक्तियाँ लुभावनी और मार्मिक होने के कारण हिन्दी भाषी भू-भाग के निवासियों की ज़बान पर नाचती रहती हैं। यथा—

रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुँ मांगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं॥
कोउ रहीम जनि काहु के, द्वार गए पछिताय।
संपति के सब जात हैं, विपति सबै लै जाय॥

'बरवै नायिका भेद' इनकी अत्यन्त सरस रचना है। उसके मनोहर चित्र सर्वथा वास्तविक हैं। उदाहरण देखिये—

भोरहि बोलि कोइलिया बढ़वति ताप।
घरी एक भरि, अलिया ! रहु चुपचाप॥
लैकै सुघर खुरपिया पिय के साथ।
छइबौ एक छतरिया बरसत पाथ॥
पीतम एक सुमरिनियाँ मोहि देइ जाहु।
जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु॥

इनके 'बरवै नायिका भेद' के अनुकरण पर 'बरवा' छन्द में गोस्वामी तुलसीदास ने 'बरवै रामायण' की रचना की थी।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त इस काल में और भी कई मुसलमान कवि हुए। इनमें कादिर (कविता काल संवत् १६६०), मुबारक (रचना काल संवत् १६७०) तथा आगरा के आलमुहिब खाँ (रचना काल संवत् १८१०) के नाम उल्लेखनीय हैं।

कादिर कृत एक प्रसिद्ध कवित्त नीचे उद्धृत किया जाता है :

गुन को न पूछै काऊ औगुन की बात पूछै
कहा भयो दई ! कलिकाल यों खरानो है ।
पोथी औ पुरान-ज्ञान ठट्टन में डारि देत,
चुगुल चबाइन को मान ठहरानो है ।
कादिर कहत यासों कछु कहिबे की नाहीं,
जगत की रीति देखि चुप मनमानो है ।
खोली देखो हियो सब आरनसों भाँति-भाँति
गुन ना हिरानो, गुन गाहक हिरानो है ॥

रीति काल में मुसलमान कवि थोड़े ही हुये । इनमें "रसलीन" का नाम उल्लेखनीय है । इनका पूरा नाम सैयद गुलाम नबी था और ये जिला हरदोई के गाँव बिलग्राम के रहने वाले थे । इनका कविता-काल संवत् १७-९० से संवत् १८०० तक ठहरता है । समय की प्रवृत्ति के अनुसार इन्होंने भी ब्रज-भाषा में रीति-निरूपण-सम्बन्धी रचनायें लिखी थीं । यथा (१)–अङ्ग-दर्पण (रचना-काल संवत् १७९४) इनमें अंगों का उपमा-उत्प्रेक्षा से युक्त चमत्कारपूर्ण वर्णन है । (२) रस-प्रबोध (रचना-काल संवत् १७९८) इसमें ११५५ दोहे हैं और रस, भाव, नायिका-भेद, षट् ऋतु, बारहमासा आदि अनेक प्रसंग आए हैं, अर्थात् इस ग्रन्थ में शृंगार रस का सावयव विवेचन है । चमत्कार और उक्ति वैचित्र्य की ओर इनका विशेष ध्यान था ।

धरति न चौकी नगजरी, यातें उर में लाय ।
छाँह परे पर-पुरुष की, जनि तिय धरम नसाय ॥
तिय-सैसव-जोबन मिले, भेद न जान्यो जात ।
प्रात समय निसि द्यौस के, दुवौ भाव दरसात ॥

नैत्र-सम्बन्धी निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहा इन्हीं का है—

अमिय हलाहल मद भरे, सेत, स्याम, रतनार ।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार ॥
(अंग-दर्पण)

आधुनिक काल में प्राचीन-पद्धति पर व्रजभाषा में कृष्ण-लीला-सम्बन्धी पद्य-रचना करने वालों में आगरा के मियाँ नज़ीर (नज़ीर अकबराबादी) का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनका जन्म संवत् १७६७ के आस-पास हुआ था और संवत् १८८७ के आस-पास इनका देहान्त हुआ। आगरा में जब पेशवा नजरबन्द थे, तो ये उनके लड़कों को पढ़ाने जाया करते थे। ये जनता के कवि थे। इनकी कविता आगरा के बच्चे-बच्चे की ज़बान पर रहती थी। मुसलमान फ़कीर जब किसी हिन्दू को देखते थे, तो 'नज़ीर' का यह पद्य गाने लगते थे :

क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन,
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन।

और जब किसी मुसलमान को देखते थे, तो यह गाने लगते थे—

गर दिल की सफा चाहे, तो कलमे को पढ़ाकर,
यह कलमा वह कलमा है, कि दिन रात जपा कर।"

नज़ीर ने सब रसों में तथा समस्त सामयिक विषयों पर कविताएँ लिखी हैं। इनकी कविताएँ छोटी-छोटी पुस्तकों के आकार में "आदमी-नामा", "रोटी नामा", "हँस नामा", "जोगी नामा" आदि नामों से मिलती हैं।

नज़ीर सूफ़ी-मत के अनुयायी थे। मुसलमान होकर भी इन्होंने हिन्दुओं के देवी-देवताओं की प्रशंसा में कविताएँ लिखी हैं। नज़ीर ने हिन्दुओं के प्रति जो सद्भाव प्रदर्शित किया, वह सर्वथा नवीन वस्तु है। उनका यह प्रयास बेनज़ीर है। पद्य-रचना के लिए इन्होंने उर्दू के छन्दों को अपनाया। एक उदाहरण लीजिये—

याँ कृष्ण मदन मोहन ने जब सब ग्वालों से यह बात कही।
औ आपी से झट गेंद डंडा उस कालीदह में फेंक दई॥
यह लीला है उस नंदललन मनमोहन जसुमत छैया की।
रख ध्यान सुनो दण्डवत करो जय बोलो कृष्ण कन्हैया की॥

गद्य-क्षेत्र में कार्य करने वालों में इंशाउल्ला खाँ का नाम महत्त्वपूर्ण है। ये हिन्दी-गद्य के प्रारम्भिक लेखकों अथवा हिन्दी-गद्य के संस्थापकों में

थे। इन्होंने खड़ी बोली में 'रानी केतकी की कहानी' लिखी थी। रचना-काल संवत् १८५५ और संवत् १८६० के बीच में मानना चाहिए।

इनकी भाषा चटकीली, मटकीली तथा मुहावरेदार है। चुलबुलापन इनकी शैली की सबसे बड़ी विशेषता है। बड़े वाक्यों में कहीं कहीं फ़ारसी के ढंग का वाक्य-विन्यास आगया है। यथा—

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस बनाने वाले के सामने जिसने हम सबको बनाया। + + + इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुये प्यारे को। + + +

यह चिट्ठी जो पीकभरी कुँवर तक जा पहुँची।"

इनके गद्य का सानुप्रास स्वरूप का भी दर्शन कर लीजिये—

"जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन भादों के रूप रोने लगी और दोनों के जी में यह आगई - यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा। + + +

आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं। उसके बिन ध्यान यह सब फाँसें हैं।

× × × ×

घरवालियाँ जो किसी डौल से बहलातियाँ हैं।

उपर्युक्त विवेचन के द्वारा यह स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य के ऊपर मुसलमान कवियों का पर्याप्त ऋण है। इन उदार कवियों ने अरबी और फ़ारसी की गोद में पल कर भी हिन्दी की सेवा की। बस, यही उनका बड़प्पन है और हृदय की इसी विशालता में उनका महत्त्व निहित है। मुसलमान कवियों का आभार प्रदर्शित करते हुये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ठीक ही कहा है कि "इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिए।"

१० : हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण

रूपरेखा—

१—मानव और प्रकृति का सम्बन्ध
(अ) प्रारम्भ में भय का भाव
(ब) फिर विश्वास के साथ क्रमशः मांगलिक भावना का उदय
२—संस्कृत काव्य में प्रकृति चित्रण
३—हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण का अभाव
४—प्रकृति-चित्रण के हिन्दी-काव्य में विविध रूप
(क) भावों के उद्दीपन रूप में
(ख) अलंकारों के रूप में
(ग) नीति और उपदेश के माध्यम के रूप में
(घ) परम तत्त्व के दर्शन
(ङ) आलम्बन अथवा वर्णनीय विषय के रूप में
(अ) वस्तु परिगणन (ब) संश्लिष्ट योजना (स) अनुरंजकारी दृश्यों का समावेश
५—उपसंहार—आधुनिक कवियों का प्रकृति-प्रेम

सृष्टि के नाना रूपों के साथ मानव-हृदय का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना काव्य का लक्ष्य है। अतः प्रकृति-वर्णन काव्य अथवा कविता का एक आवश्यक अंग ठहरता है।

प्रकृति आदि काल से मानव की सहचरी रही है। जन्म लेकर मानव ने जब आँखें खोलीं तो उसे ऊपर नीला आकाश दिखाई दिया, पैरों तले उसने पृथ्वी का स्पर्श किया तथा उसके चारों ओर लहलहाते हुए लता-गुल्मों तथा विशाल वृक्षों से निःसृत वायु का सेवन करके उसने जीवन का अनुभव किया। मानव ने प्रकृति के विशाल क्रोड में जन्म लिया और वृक्षों ने फलदान द्वारा तथा निर्झरों ने निर्मल एवं शीतल जल द्वारा उसकी

सहज वृत्तियों का समाधान किया। हिमाच्छादित उतुंग पर्वत-श्रेणियों, अगाध जल-राशि, सूर्य की प्रखर किरणों, वर्षाकालीन मेघों के गर्जन आदि को देखकर और सुनकर वह आश्चर्य चकित और विस्मित हुआ। धीरे-धीरे वह प्रकृति की गोद में रम गया। भय और आश्चर्य के स्थान पर प्रकृति उसके चिन्तन और मनन का विषय बन गई। यथा समय सौम्यरूप के दर्शन द्वारा उसके हृदय में विश्वास और मंगल आशा का उदय हुआ। प्रकृति के विभिन्न मंगलकारी अंगों—सूर्य, चन्द्र, जलद, मरुत् आदि में उसने देवत्व की प्रतिष्ठा करली। देवत्व की स्थापना के साथ सौन्दर्य का भी योग हो गया। इस प्रकार मानव हृदय में प्रकृति के प्रति पूज्य भाव का अविर्भाव हुआ। प्रकृति के विविध अंगों को सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण आदि दिव्य नाम देकर उसने उनका गुणगान किया। वेदादि आर्ष ग्रन्थ इन स्तुतियों से भरे पड़े हैं।

धीरे धीरे मानव ने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित किया। फूल, पत्ती, पशु, पक्षी, मेघ, नद-नदी, निर्झर आदि की ओर वह आकर्षित होने लगा। निर्झरों के कल-कल निनाद में उसने अपने गीत सुने, हरे-भरे खेतों को देख कर उसका मन मयूर नाचने लगा, वाटिका के विकसित फूलों को देखकर उसकी हृदय-कलिका खिल उठी। तात्पर्य यह है कि प्रकृति उसकी जीवन-संगिनी बन गई। साथ रहने के कारण वह मानव के सुख से सुखी और दुःख में दुखी भी होने लगी; प्रकृति और पुरुष अभिन्न हो गए। उनमें सर्वाङ्गीण एकात्म्य स्थापित हो गया। मानव को प्रकृति में अपनी आन्तरिक अनुभूतियाँ परिलक्षित होने लगीं। आदि कवि वाल्मीकि ने प्रकृति के एक पक्षी के दुःख से दुःखी होकर ही लिखा था। उनके राम अपनी प्रियतमा सीता के विरह में प्रकृति से अपना दुःख निवेदन करते फिरते थे और प्रकृति भी उनका दुःख बंटाने के लिए रो पड़ी थी। यथा—

जल प्रपातास्त्र मुखाः शृंगैरुच्छ्रितबाहवः
सीतायां ह्रियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः

(वाल्मीकि रामायण, अरण्यकांड ५२।३८)

अर्थात सीताहरण से दुःखी पर्वत श्रेणियाँ अपनी शिखर-रूपी भुजाओं को उठाकर झरनों के बहाने अश्रु बहा मानो रो रही हैं।

संस्कृत के ग्रन्थों की रचना तपोवन में रहने वाले ऋषियों और मुनियों द्वारा हुई। वे प्रकृति-गोद में ही जन्म लेते थे, और प्रकृति की गोद में ही उनका लालन-पालन और पोषण होता था। फलतः प्रकृति की छटा सदैव उनके सम्मुख छायी रहती थी। यही कारण है कि संस्कृत-काव्य में हमें सुन्दर प्रकृति-वर्णन मिल जाते हैं, बाल्मीकि, कालिदास भवभूति आदि ने प्रकृति के विविध रूपों के मार्मिक शैली में हृदयहारी संश्लिष्ट वर्णन किये हैं। देखिये निम्नलिखित वर्णन में प्रकृति किस प्रकार मानव अनुभूतियों को उद्दीप्त कर रही है—

श्यामां चन्द्रमुखीं स्मृत्वा प्रियां पद्मनिभेक्षणाम्।
पश्य सानुषु चित्रेषु मृगीभिः सहितान्मृगान्
यां पुतर्मृगशावाक्ष्या वैदेह्या विरहीकृताम्
व्यथयन्तीव मे चित्तं संचरन्तस्ततस्ततः

(बाल्मीकि रामायण, किष्किन्धाकांड १०२।१०३)

अर्थात् प्रकृति के अंगों में सीता के रूप का साम्य देखकर राम अपने अनुज लक्ष्मण पर अपने भाव इस प्रकार प्रकट करते हैं—

देखो इन विचित्र शिखरों को। हिरण हिरणियों के साथ विहार कर रहे हैं। ये मुझे श्यामा, चन्द्रबदनी और पंकज-नयनी प्रिया सीता का स्मरण दिलाते हैं और मृगशावक-नयनी वैदेही के विरह में मुझको दुःखी करते हैं! इधर-उधर घूमते हुए मृगगण मुझे व्यथित कर रहे हैं।

आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इसी प्रकार राम का विरह-वर्णन किया है। राम को प्राकृतिक पदार्थों में सीता के रूप का साम्य और अपने दुःखी हृदय का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। वे वन के वृक्ष और पक्षियों से पूछते फिरते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

खंजन सुक कपोल मृग मीना।
मधुप निकर कोकिला प्रबीना ॥
कुंद कली दाड़िम दामिनी ।
कमल सरद ससि अहिभामिनी ।
बरुन पास मनोज धनु हंसा।
मन केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥
(अरण्यकाण्ड)

संस्कृत के कविगण प्रकृति के साथ दिन-रात रहते थे। वे उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित थे। देखिए वाल्मीकि द्वारा वर्णित हेमन्त ऋतु का वर्णन—

अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रक्लिन्न शाद्वला।
बनानां शोभते भूमिर्निविष्ट तरुणातपा ॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥
अवश्याय तमोनद्धा नीहारतमसावृताः ।
प्रसुताइव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः ॥
बाष्पसंछन्न सलिला रुतविज्ञेय सारसाः ।
हिमार्द्र वालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम् ॥
जराजर्झरितैः पद्मैः शीर्ण केसरकर्णिकैः।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्ण भान्ति कमलाकराः ॥
(वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड १६।२०-२५, २६)

अर्थात् ओस बिन्दुओं से भीगी हुई हरित घास से युक्त वन-भूमि प्रातःकालीन सूर्य की किरणों के पड़ने पर सुशोभित हो रही है। यह अत्यंत प्यासा जंगली हाथी अत्यन्त शीतल जल के छूते ही अपनी सूंड को समेट लेता है। पुष्प-शून्य वन श्रेणी कुहरा के अन्धकार से ढक जाने पर ऐसी प्रतीत होती है मानो सो रही हो। इस समय नदियां जो कुहरे से ढकी हैं और जिनकी बालू कुहरे के अन्धकार के कारण केवल बोली द्वारा ही पहिचानने में आते हैं। कमलों के पत्ते जीर्ण होकर झड़ गए हैं, फूलों की

कणिका और केसर भी गिर गई हैं। पाले के कारण उनमें डंडी मात्र रह गई है। इसी कारण कमल के सरोवर इस समय शोभाहीन हो रहे हैं।”

इस प्रकार के वर्णनों में कवि ने प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण करके दृश्य की सश्लिष्ट योजना की है। हिंदी काव्य में इस प्रकार के सजीव एवं संश्लिष्ट योजनात्मक दृश्यों के विधान का अभाव ही समझना चाहिये हिंदी के कवियों ने प्रकृति को स्थूल रूप में ग्रहण किया है। वे प्रकृति के बाह्य रूप पर ही मुग्ध होकर रह गए, उसके साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित न कर सके। डाक्टर किरणकुमारी गुप्त के शब्दों में “उनके लिए प्रकृति एक कौतुक अथवा बाह्य सौन्दर्य की ही वस्तु रही। भक्तिकाल के सूर अपने उपास्य के अंग-प्रत्यंगों के लिये उपमाएँ ही ढूँढते रहे, आदर्श की भावनाओं में उलझे तुलसी प्रकृति को उपदेशिका मान बैठे और यदि प्रकृति का चित्रण किया भी तो राम के ही नाते। सूफी सन्त जायसी को नागमती की विरह व्यथा को तीव्रतर करने के लिए बारहमासा रचना पड़ा और चमत्कारवादी केशव तो अपने पांडित्य-प्रदर्शन और आचार्य बनने की धुन में अनैसर्गिक रूप में प्रकृति के तत्त्वों को अलंकारों और रसों में प्रयुक्त करने में व्यस्त रहे। रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति का वर्णन वस्तु-वर्णन के रूप में केवल नायक-नायिकाओं के भावों को उद्दीप्त करने के लिए ही किया। कुछ कवियों की दृष्टि तो अपने आश्रयदाताओं की “गुल-गुलो गिलचों और खसखानों” तक ही परिमित रह गई। इस प्रकार के कवियों के वर्णन पूर्ण रस-परिपाक की अवस्था तक नहीं पहुँच पाते, केवल भाव ही रह जाते हैं। प्रकृति को निर्जीव और जड़ मानने वाले कवियों में यह भावना निस्सन्देह पूर्ण रसत्व को नहीं प्राप्त हो सकती।”

हिंदी काव्य में प्रकृति को इस रूप में ग्रहण किए जाने का एक विशेष कारण है। तलवारों की खपाखप के बीच उसका जन्म हुआ, भालों की छाया में उसका विवाह-मण्डप रचा गया और हिन्दू समाज की निराशा तथा मुगल शासकों के विलासपूर्ण दरबारों में वह फली फूली। ऐसी स्थिति में प्रकृति की चर्चा मानव प्रकृति के प्रतिकूल थी। साथ ही कविगणों को प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में खुलकर साँस लेने का अवसर

भी न था। महलों की चहारदीवारी के भीतर ही वे प्रकृति देवी के दर्शन कर सकते थे। यही कारण है कि हिंदी के प्राचीन कवियों की रचनाओं में प्राकृतिक दृश्यों की संश्लिष्ट योजना बहुत कम दिखाई देती है। यथा—

तरु तालीस ताल हिंताल मनोहर
मंजुल बंजुल तिलक लकुच कुल नारि केर वर
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहैं

उपर्युक्त वर्णन द्वारा स्पष्ट है कि केशवदास ने प्रकृति का ज्ञान पुस्तकों से प्राप्त किया था; उन्होंने आँखें खोलकर प्रकृति का निरीक्षण नहीं किया था। हिंदी-काव्य में प्रकृति वर्णन प्रायः चार रूपों में मिलता है—(१) उद्दीपन के रूप में, (२) अलङ्कारों के रूप में (३) नीति और उपदेश के माध्यम के रूप में तथा परमतत्त्व के दर्शन के रूप में।

भावों के उद्दीपन-रूप में हिंदी के कवियों ने प्रचुर मात्रा में प्रकृति-वर्णन लिखे हैं। रीति काल में तो इन वर्णनों की बाढ़-सी आगई थी। वियोग में बारहमासे और संयोग में षट्ऋतु-वर्णन लिखना कवियों की अत्यंत प्राचीन परम्परा रही है। उद्दीपन विभावान्तर्गत शीतल मन्द सुगन्ध पवन, चन्द्र, चन्द्रिका, वन, उपवन, एकान्त स्थान, पशु-पक्षी आदि प्रकृति के रूपों का वर्णन किया जाता है। देखिए, कतिपय उदाहरण—

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं बिषम ज्वाल की पुंजैं।
—सूरदास

यहाँ कुञ्जों को देखकर गोपिकायें विरहोद्दीप्त हुई हैं।

नूतन किसलय मनहु कृसानू। काल निसा सम निसि ससि भानू।
कुवलय बिपिन कुंतबन सरिसा। बारिद तप्त तेल जनु बरिसा।

उपर्युक्त वर्णन में गोस्वामीजी ने यह दिखाया है कि सीता को प्रकृति किस प्रकार सता रही है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण लीजिए—

चनन चाव तन अधिक उतापत, उपवन मन उनरोलो रे।

समय वसन्त कन्त रहु दुर देस जानल विधि प्रतिकूले रे।

—विद्यापति

बिरह जरी लखि जीगननि कही न वहि के बार।
चली जाउ भजि भीतरै, बरसत आजु अंगार॥

—बिहारी

धुनि सुनि कोकिल की बिरहिनि कों किलकी
केका के सुनें ते प्राण एकाके रहत हैं—

—सेनापति

किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की
डारन पै डोलत अंगारन के पुञ्ज हैं।

—पद्माकर

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति का नाम अलंकार है।" हिंदी कविता में प्रकृति के उपकरणों द्वारा अलङ्कारों का विधान खूब किया गया है। कवियों द्वारा किये गये नख शिख-वर्णनों में प्रायः समस्त उपमान प्रकृति से ही ग्रहण किये हैं। कहीं मुख को कमल अथवा चन्द्रमा बताया गया है। कहीं नासिका की उपमा तोते से दी गई है, कहीं अधरों को विद्रुम, अथवा बिम्बाफल के समान बताया गया है, कहीं कमर की उपमा सिंह से दी गई है, कहीं नायिका की आँखों को मृगशावक की आँखों के सदृश बताया गया है, कहीं नायिका के शरीर को बिजली अथवा कनक-छरी बताया गया है आदि। यथा—

लता भवन ते प्रकट भए, तेहि अवसर दोउ भाइ
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ

—गोस्वामी तुलसीदास

साधारण सी बात कहनी है।

राम और लक्ष्मण, दोनों भाई लता-भवन से निकले। श्याम-मेघ-मालाओं को विदीर्ण करके उदित होने वाले चन्द्रमाओं की उत्प्रेक्षा ने

दोनों भाइयों के सौन्दर्य के प्रभाव में तीव्रता का समावेश करके एक विचित्र रमणीयता उत्पन्न कर दी है।

इसी प्रकार अन्य वर्णन देखिए—

आज घनस्याम की अनुहारि
उनै आप सांवरे ते सजनी, देखि रूप की आरि।
इन्द्र धनुष मनो नवल वसन छबि दामिनि वसन विचारि।
जनु बग पांति माल मोतिन की चितवन हितहि निहारि।

—सूरदास

लोचन बिसाल लाल अधर प्रवाल हूँ ते
चन्द तें अधिक मन्द हास की निकाई है।

—सेनापति

ऐसे स्थलों पर पाठक या श्रोता का ध्यान उपमेय पर ही रहता है, प्रकृति उपमान के रूप में उपमेय की सहायक मात्र होकर आती है। अतः ऐसे स्थलों पर कवि को विशेष सतर्क रहना चाहिये।

हिन्दी के कवियों ने प्रकृति को उपदेश और नीति के माध्यम के रूप में भी ग्रहण किया। इस क्षेत्र में गोस्वामी तुलसीदास, रहीम, वृन्द, बिहारी और गिरधर कवि के नाम उल्लेखनीय हैं। उदाहरण लीजिए—

बरषहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध बिद्या पाए।
बुन्द अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के वचन संत सह जैसे।
दामिनि दमक रही घन माहीं। खल की प्रीति जथा थिरि नाहीं।

—तुलसीदास

दीबो अवसर को भलो जासों सुधरै काम।
खेती सूखे बरसिबो, घनको कौने काम—

—रहीम

अति परचै तै होत है, अरुचि अनादर भाय
मलयागिरि की भीलनी चन्दन देत जराय—

—वृन्द

बढ़त बढ़त सम्पति-सलिल, मन सरोज बढ़ जाइ।
घटत घटत फिर ना घटै, बरु समूल कुम्हलाइ॥

—बिहारी

रहस्यवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत प्रकृति विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। सर्ववाद इस भावना का आधार है। हिन्दी के कवियों ने इस रूप में प्रकृति को यथास्थान ग्रहण किया है। उदाहरण देखिये—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
मैं लाली देखन गई मैं भी हो गई लाल।

—कबीर

नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर
हँसत जो देखा हँस भा दसन जोति नगहीर

—जायसी

सिया राम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी—

—तुलसी

हिन्दी के प्राचीन कवियों ने आलम्बन के रूप में प्रकृति का बहुत कम वर्णन किया है। फिर भी प्राकृतिक दृश्यों के संश्लिष्ट वर्णन यत्र-तत्र मिल ही जाते हैं। ये वर्णन कई रूपों में मिलते हैं। यथा—वस्तु परिगणन के रूप में, संश्लिष्ट योजना और अनुरंजनकारी दृश्यों के समावेश के रूप में। कुछ नमूने लीजिये—

सनेहा सारण वहई धरती पाई न वैणउ जाई।
अनबलई दव पर जलई हंस सरोवर छडई छइ ठाई॥

—नरपति नाल्ह

यहाँ ग्रीष्म ऋतु का संश्लिष्ट वर्णन है। वस्तु-परिगणन का उदाहरण देखिये—

अग्ग भयौ गिरि निकट। विकट उद्यान भयंकर

× × × ×

चीतल चीत हिरन। पाइ षरकैं भजि जन्ते।
सेही सियार लेंगूर बहु। कुंड कदंभ भरि तर ढ्हिय
—चन्दबरदाई

चमक बीजु बरसै जल सोना, दादुर मोर सबद सुठि लोना।
—जायसी

सब दिन चित्रकूट नीकौ लागत
बरसा ऋतु प्रवेश विशेष गिरि देखत मन अनुरागत।
चहुँ दिसि बन सम्पन्न, विहङ्ग मृग बोलत सोभा पावत॥
—तुलसी

विद्यापति द्वारा किए प्रकृति के संश्लिष्ट योजनापूर्ण वर्णन को उद्धृत करके इस प्रसंग को समाप्त करते हैं—

आयल ऋतुपति राज बसन्त। धाओल अलिकुल माधविपंथ।
दिनकर किरन भेल पौगंड। केसर कुसुम धयल हेम दंड।
नृप आसन नव पीठल पात। कांचन कुसुम छत्र धर माथ।
मौलि रसाल मुकुल भेल ताय। समुखिहि कोकिल पञ्चम गाय।
सिखिकुल नाचत अलिकुल यंत्र। द्विज कुल आन पढ आसिख मंत्र।
कुन्दवल्ली तरु धएल निशान। पाटलतून असोक दल बान।
किंसुक लवंग लता एक संग। हेरि सिसिर ऋतु आगि दल भंग।
सेन साजल मधु मखिका कूल। सिसिरक सबहु कएल निरमूल।

आधुनिक-काल के हिन्दी कवियों का प्रकृति-वर्णन की ओर ध्यान गया है और अनेक कवियों ने इस ओर सुन्दर एवं सफल रचनाएँ लिखी हैं। श्रीधर पाठक, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला, और महादेवी वर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये रचनाएँ दो श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं—(१) वस्तुनामावली वाली श्रेणी जिसमें प्राकृतिक वस्तुओं की गिनती मात्र की गई है, तथा (२) संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण वाली शैली, जिसमें किसी दृश्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों का उसके आस-पास की परिस्थितियों के साथ मिला हुआ वर्णन रहता है कि पाठक या श्रोता के नेत्रों के सम्मुख सम्बन्धित दृश्य का सजीव रूप ही

उपस्थिति हो जाता है। इस प्रकार की रचनाओं का एक अन्य प्रकार से भी विभाजन किया जा सकता है—(१) जिनमें प्रकृति के अनुरंजनकारी दृश्यों का समावेश किया गया हो तथा (२) जिनमें प्रकृति के भोले-भाले स्वरूप को चित्रित किया गया हो। श्रीधर पाठक, हरिऔध, सुमित्रानन्दन, पन्त तथा महादेवी वर्मा द्वारा लिखे गए प्रकृति-वर्णन इसी कोटि के हैं। यथा—

प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति।
बिमल अंबु सर मुकुरन मंह मुख बिम्ब निहारत॥
अपनी छवि पै मोहि आपही तन मन वारित॥

(काश्मीर सुषमा —श्रीधर पाठक)

दिवस का अवसान समीप था गगन कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अवराजती कमलिनी-कुल-वल्लभ की छटा॥
विपिन बीच बिहंगम वृन्द का कल निनाद निवर्धित था हुआ।
ध्वनिमयी विविधा विहंगावली उड़ रही नभ-मंडल मध्य थी॥

—हरिऔध

सुमित्रानन्दन पन्त का गंगा-वर्णन देखिये—

तापस-बाला-सी गंगा कल, शशि-मुख से दीपित मृदु-करतल।
लहरें उर पर कोमल कुन्तल
गोरे अङ्गों पर सिहर-सिहर, लहराता तार तरल सुन्दर।
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर
साड़ी की सिकुड़न-सी जिसपर, शशि की रेशमी विभा से भर।
सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर

× + × ×

वाह! वह मुख पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हो घनश्याम
अरुण रवि मण्डल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम—

—प्रसाद

प्रकृति के मानवीकरण का एक उदाहरण लीजिए—

नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शरद हासिनि
मृदु करतल पर शशिमुख धर, नीरव अनिमिष एकाकिनि

—पन्त

महादेवी जी का एक प्रातःकालीन दृश्य देखिये—

हँस देती जब प्रात, सुनहरे, अंचल में बिखरा रोली।
लहरों की बिछलन पर जब, मचली पड़तीं किरणें भोली॥

प्रकृति में परम तत्व के दर्शन भी कर लीजिए—

बरस गई जल धार विश्व सृजन, शैवालिनी पागई उदधि निज।
मुक्त हुए जो स्नेह के क्षितिज रूप स्पर्श, रस गन्ध शब्द घन—

—निराला

प्रकृति के भोले-भाले स्वरूप को चित्रित करने वालों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध, प्रसाद तथा मैथिलीशरण गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। उदाहरण देखिये—

भोर होत बोलहिं चुहचूही। बोलहिं पाँडुक "एकै तूही"॥
सारौं सुआ जो रहचह करहीं। कुरहिं परेवा औ करबरहीं॥
'पीव पीव' कर लाग पपीहा। 'तुही-तुही' कर गडुपी गीहा॥
'कुहू कुहू' करि कोइल राखा। औ भिंगराज बोल बहु भाखा॥
या फूल तें वा फूल पै जो चपल गति सों धावती।
सित, पीत नील, सुरंग, चित्रित पंख को फरकावतीं।

—रामचन्द्र शुक्ल

तथा—

रजनी के रंजक उपकरण बिखर गए,
घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर।
अरुण अपाङ्गों से देखा, कुछ हंस पड़ी,
लगी टहलने प्राची प्राङ्गण में तभी'

—प्रसाद

जिस प्रकार मानव प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृति भी मानव के सौन्दर्य पर मुग्ध हो सकती है। पंचवटी में मैथिलीशरण गुप्त की सीता देवी पर समस्त प्रकृति मुग्ध होकर सौन्दर्यानुभूति के कारण पुलकित हो उठती है। यथा:—

हँसने लगी कुसुम कानन के,
देख चित्र सा एक महान्।
विकसि उठी कलियाँ डालों में,
निरखि मैथिली की मुसकान।
कौन कौन से फूल खिले हैं,
उन्हें गिनाने लगा समीर।
एक एक कर गुन गुन करके,
जुड़ आई भौंरों की भीड़।

उनके सौन्दर्य की सुषमा के सम्मुख लज्जित होकर चन्द्रमा तो वहाँ से चुपचाप खिसक जाता है—

"वह मुख देख पांडु सा पड़ कर,
गया चन्द्र पश्चिम की ओर"

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान-काल के हिन्दी कवियों को प्रकृति के प्रति अनुराग हो चला है। वे आलम्बन रूप में प्रकृति के स्वाभाविक वर्णन करने लगे हैं। इसके दो कारण हैं। अंग्रेजी कविता का प्रभाव तथा विदेशी शासन से मुक्ति। जो भी हो प्रकृति के साथ मानव हृदय का सामञ्जस्य स्थापित होना ही चाहिए। प्रकृति आदिकाल से मानव की सहचरी रही है। अतः काव्य में प्रकृति-वर्णन की अनिवार्यता असंदिग्ध है। प्रकृति-वर्णनों की वर्तमान गतिविधि को देख कर हमें पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी के कविगण प्रकृति से आकर्षित होकर तथा अपना स्नेह प्रकट करके हिन्दी साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग को पूर्णतया परिपुष्ट कर देंगे।

---

११ : हिन्दी काव्य में गीति-काव्य की परम्परा

रूपरेखा—

१—गीति-काव्य के लक्षण।

२—गीति-काव्य की परम्परा—

(क) वेद-मन्त्रों में।

(ख) आदि-काल में—विद्यापति, कबीर।

(ग) मध्य काल में—सूरदास आदि अष्ट छाप के कवि, मीरा, तुलसीदास।

(घ) आधुनिक काल में—भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र, सत्यनारायण कविरत्न, जयशङ्करप्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, बच्चन तथा 'रंग' आदि अनेक नए कवि।

३—उपसंहार—सारांश—सिनेमा-संगीत के अत्यधिक प्रचार को देखते हुए हिन्दी के गीति-काव्य का भविष्य विशेष आशाजनक नहीं है।

जब हम गुनगुनाने लगते हैं, तभी हम गाने लगते हैं। हमारी यह गुनगुनाहट, हमारे ये गाने, भाषाबद्ध होकर गीतों अथवा गीति-काव्य का रूप धारण करते हैं। भाव-विभोर हृदय की अभिव्यक्ति के लिए गीतों के सदृश अन्य कोई दूसरा माध्यम नहीं है। गीति काव्य की जननी 'भावुकता' है और पुत्र सङ्गीत। गीति-काव्य मुक्तक-काव्य का एक भेद है। डाक्टर रामकुमार वर्मा के मतानुसार, "गीतिकाव्य की रचना आत्माभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से ही होती है। उसमें विचारों की एकरूपता रहती है। आराध्य से आत्मनिवेदन के उल्लास में रचना गेय होजाती है और भावना के घनीभूत होने के कारण उसमें संक्षिप्तता आ जाती है। अतः सफल गीति काव्य में ये चार बातें—आत्माभिव्यक्ति, विचारों की एकरूपता, सङ्गीत, और संक्षिप्तता होना आवश्यक है।"

बाह्य परिस्थितियों के सङ्घर्ष एवं आंतरिक द्वन्द्व के कारण मानव-हृदय में भाव-तरंगें सदैव उठा करती हैं। जब हृदय रूपी पात्र भाव रूपी तरंगों से पूरी तरह भर जाता है, तब गीतों के रूप में भावरूपी जल बाहर छलकने लगता है। बाहर आते-आते ये भाव गीतों का रूप धारण कर लेते हैं। हृदय को तन्मय बना देने के गुण विशेष के कारण लोक ने उन्हें सदैव अपनाया है। प्रत्येक देश की भाषा में हमें मुक्तक काव्य का यह रूप, गीत, मिलते हैं। आर्य साहित्य के अन्तर्गत वेद मन्त्रों में, देवताओं की स्तुति के रूप में, गीतिकाव्य के हमें सर्वप्रथम दर्शन होते हैं।

विद्यापति के पदों के रूप में हमें सर्वप्रथम गीति-काव्य के दर्शन होते हैं। विद्यापति ने संस्कृत कवि जयदेव के 'गीतगोविंद' की रचना-शैली का अनुसरण किया था। कोमल-कान्त-पदावली से युक्त उनके गीत अपने मधुर सङ्गीत, अनुपम माधुर्य एवं सरस भाव-प्रवाह के द्वारा पाठक और श्रोता को बरबस तन्मय कर डालते हैं। चैतन्य महाप्रभु तो इन्हें गाते-गाते भाव-विभोर हो जाया करते थे। इनके पद प्रायः शृङ्गार रस के हैं, जिनमें आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक श्रीकृष्ण और नायिका श्री राधिका हैं। देखिए—

सुन्दरि चललिहु पहु घर ना।
चहुँदिस सखि सब कर धर ना॥
जाइतहु लागु परम डर ना।
जइसे ससि काँप राहु डर ना॥

विप्रलम्भ शृङ्गार-वर्णन का भी एक उदाहरण देख लीजिए—

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।
जौवन बिनु तन तन बिनु जौवन
की जौवन पिय दूरे॥

'भावोल्लास' में तो स्वयं गीत ही गुनगुनाने लगा है—

सुनु रसिया
अब न बजाऊ बिपिन बँसिया॥

बार बार चरनारविंद गहि
सदा रहब बनि दासिया ।

हिंदी के आदिकाल में सन्त-कवियों ने ज्ञान-वैराग्य-सम्बंधी अनेक पद लिखे। संत-कवियों में 'कबीर' का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इनका बनाया हुआ एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है—

फूला फूला फिरै जगत में रे मन कैसा नाता रे।
माता कहै पुत्र यह मेरा बहिन कहै बिर मेरा।
कहै भाइ यह भुजा हमारी नारि कहै नर मेरा।
पेट पकरि कै माता रोवै बाँह पकरि कै भाई।
लपटि झपटि कै तिरिया रोवै हंस अकेला जाई।
जब लग जीवै माता रोवै बहिन रोवै दस मासा।
तेरह दिन तक तिरिया रोवै फेरि करै घर बासा।
चार गजी चरगजी मंगाया चढ़ा काठ की घोरी।
चारों कोने आग लगाया फूंक दिया जस होरी।
हाड़ जरै जस लाकड़ी केस जरै जस घासा।
सोने ऐसी काया जरि गई, कोउ न आयो पासा।
घर की तिरिया रोवन लागी ढूँढ़ फिरी चहुँ देसा।
कहब कबीर सुनो भाई साधो छोड़ो जग की आसा।

उपर्युक्त छन्द में वैराग्य-भावना मुखरित हो उठी है। इसके बाद भक्ति काल में भक्त कवियों, मीरा, तुलसी, सूरदास, नन्ददास आदि अष्ट छाप के कवि तथा अन्य अनेक कृष्ण-भक्त कवियों ने ब्रज-माधुरी द्वारा अपने मानस को सरस सुहाया बनाया और गीति-काव्य की मधुर स्वर-लहरी से दशों-दिशाओं को परिपूरित कर दिया। इनके दिव्य प्रेम-सङ्गीत द्वारा जीवन की मधुरिमा प्रकट हुई और हिन्दुओं के हृदय में जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न हुई एवं उनके हताश मन में आशा-किरण का संचार हुआ।

यद्यपि साहित्यिक भाषा में सर्व प्रथम रचना सूरदास की ही मिलती है, तथापि उनसे पहिले बैजूबावरा ने कुछ गीत लिखे थे। देखिए उनका

यह शृंगारस पूर्ण गीत —

मुरली बजाय रिझाइ लई मन मोहन नें।
गोपा रीझि रही रस-तानन सों, सुध-बुध सब बिसराई।
धुनि सुनि मन माँहि मगन भइ देखत हरि आनन।
जीव जन्तु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे हरे सबके प्रानन।
बैजू बनवारी बंसी अधर धरि बृन्दावन चन्द बस किए
सुनतहि कानन।

कहते हैं सूरदास ने सवा लाख पद लिखे थे। इनके लिखे हुए लगभग दस हज़ार पद उपलब्ध हैं। इनके पदों में स्वर और लय का माधुर्य लबालब भरा है। सूरदास संगीत के आचार्य थे; उनके सभी पद गेय हैं। कदाचित् ही कोई राग रागिनी हो जिसमें सूरदास ने न लिखा हो। उनकी-सी मधुरता, सरसता, मर्मस्पर्शिता तथा संगीतमयता अन्यत्र दुर्लभ है। किसी ने ठीक ही कहा है—

किधौं सूर को सर लग्यौ किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, बेध्यो सकल सरीर॥

इनके पदों में श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था तथा युवावस्था की विभिन्न परिस्थितियों का विशद चित्रण हुआ है, उनमें वात्सल्य एवं शृंगार के क्षेत्रों का पूर्ण उद्घाटन हुआ है। यथा—

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन बच क्रम नन्दनन्दन सों उर यह दृढ़ करि पकरी॥
जागत, सोवत, सपने सौंतुख कान्ह कान्ह जकरी।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ज्यों करुई ककरी॥
सोई व्याधि हमें लै आए देखी सुनी न करी।
यह तो सूर तिन्हैं लै दीजै जिनके मन चकरी॥

इनके 'अँखियाँ हरि दरसन की भूखी' 'नैना भए अनाथ हमारे', 'निसिदिन बरसत नैन हमारे' 'संदेसो देवकी सों कहियौ', 'जसोदा हरि पालने झुलावै' आदि अनेक पद तो प्रेमी-जनों के कण्ठहार बने हुए हैं। अष्टछाप के अन्य कवियों, नन्ददास, कृष्णदास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास,

छीत स्वामी तथा गोस्वामी में से प्रत्येक को संगीत शास्त्र का अच्छा ज्ञान था और सब ने अनेक गेय पद लिखे हैं।

इस क्षेत्र में मीरा के नाम का उल्लेख किए बिना यह प्रसंग अधूरा ही समझा जाएगा। मीरा के प्रत्येक पद के प्रत्येक शब्द से मार्मिक अभिव्यंजना टपकती है। मीरा स्वयं ही कृष्ण-प्रेमी की जीती-जागती प्रतिमा थी :

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई।

मीरा की उपासना माधुर्य भाव की थी। वे कृष्ण की 'पति रूप' में भावना करती थीं और इनके प्रेम में दीवानी बनी रहती थीं।

सूर और मीरा के बाद गीति-काव्य-रचयिताओं में तुलसी का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने गीति शैली पर तीन ग्रन्थ लिखे—विनय पत्रिका, गीतावली तथा श्रीकृष्ण-गीतावली। तीनों ही रचनाएँ ब्रजभाषा में है। विनय पत्रिका तथा गीतावली का सम्बन्ध राम से है तथा श्रीकृष्ण गीतावली का कृष्ण से। 'गीतावली' में राम के जीवन-चरित्र के मार्मिक स्थलों का वर्णन है और 'श्रीकृष्ण-गीतावली' में कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित 'उद्धव गोपी संवाद' का दिग्दर्शन कराया गया है। 'विनय-पत्रिका' भगवान् राम से कलियुग के विरुद्ध की गई शिकायत-सी है। इसमें भक्त की दीनता, आत्मग्लानि, आत्म-निवेदन, अनन्यता, विरक्ति आदि भावों का सुन्दर चित्रण हुआ है। नमूने देखिए—

दूलह राम, सीय दुलही री।
घन-दामिनी-बर-बरन-हरन-मन सुन्दरता नखसिख निबही, री।
ब्याह-विभूषन-बसन-बिभूषित, सखि-अवली लखि ठगि-सी रही, री।
× × × ×
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जात कही, री।
रूप रासि बिरची बिरंचि मनो, सिला-लवनि रति-काम लही, री॥
(गीतावली)

छाँड़ो मेरे ललित ललन लरिकाई।

ऐहैं सुत देखुवार कालि नेरे, बबै ब्याह की बात चलाई।
डरिहैं सासु ससुर चोरी सुनि, हँसिहैं नई दुलहिया सुहाई।

× × × ×

उठि कह्यौ भोर भयो झँगुली दै, मुदित महरि लखि आतुरताई।
बिहँसी ग्वालि जानि 'तुलसी' प्रभु सकुचि लगे जननी उत धाई॥

—श्रीकृष्ण गीतावली

जानकि जीवन की बलि जहैं।
चितु कहै रामसीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं।
उपजी उर प्रतीत सपनेहुँ सुख प्रभुपद विमुख न पैहौं।

× × × ×

नातो नेह नाथ सों कहि सब नाते नेह बहैहौं।
है छरुभार ताहि तुलसी जग जाको दासु कहैहौं॥

—विनय-पत्रिका

भक्ति-काल के बाद गीति-काव्य की परम्परा लुप्त प्राय हो गई। हिन्दी के 'रीति-काल' में प्रायः काव्यांग-निरूपण-सम्बन्धी रचनाएं लिखी गईं और उनके लिए कवित्त, सवैया तथा दोहा, ये तीन ही छन्द विशेष उपयोगी समझे गए। केवल 'घनानन्द' ने कुछ गेय छन्द लिखे हैं। 'घनानन्द' रीति-काल के अन्तिम दिनों में हुए थे। वे रीति कालीन कवियों की अपेक्षा भक्त-कवियों के अधिक निकट ठहरते हैं। उदाहरण लीजिए—

कान्हर है गोकुल को राधा बरसाने वारी।
है हो या ब्रज की जीवनि यह जोरी सरस बिरंचि संवारी।
धुर की लगनि लगी अति गाढ़ी बाढ़ी चोप चटक जो प्यारी।
नवल नेह रस झर 'आनन्दघन' लाग्यौइ रहत सदा री॥

—पदावली

रीति-काल की क्षीणकाय गीति-काव्य-धारा आधुनिक युग में फिर पीनकाय हो गई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अनेक गीत लिखकर काव्य के इस अंग को भी परिपुष्ट किया। उनके बाद तो गीत-रचना का एक क्रम

ही चल पड़ा। ब्रज भाषा के अतिरिक्त खड़ी बोली में भी गीत लिखे गए। आधुनिक काल में लिखे गए कतिपय गीतों को उदाहरण स्वरूप नीचे उद्धृत किया जाता है—

ब्रज के लता-पता मोहिं कीजे।
गोपी-पद-पङ्कज-पावन की रज जामैं सिर भीजैं।
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजे।
श्रीराधे राधे मुख, यह वर मुंह माग्यौ हरि दीजै।

तथा— कहाँ करुनानिधि केसव सोए!
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए।
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारतहित बिसराए।
इनके पसु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए।
× × × ×
हाय सुनत नहिं निठुर भए क्यों परम दयाल कहाई।
सब बिधि बूड़त लखि निज देसहिं लेहु न अबहुँ बचाई।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

ब्रज-कोकिल कवि श्री सत्यनारायणजी का एक भक्ति-विषयक पद देखिये—

माधव आर सदा के कोरे।
दीन, दुखी जो तुम को जाँचत सो दानवु के भोरे।
× × × ×

निम्नलिखित पदों में उनकी गार्हस्थ्य-जीवन-जन्य वेदना स्पष्ट ही व्यञ्जित है—

भयौ क्यों अनचाहत कौ संग?
सब जग के तुम दीपक, मोहन! प्रेमी हमहूँ पतंग॥
लखि तब दीपति, देह सिखा में निरत, विरह लौ लागी।
खींचति आपुसौं आपु उतहिं यह, ऐसी प्रकृति अभागी॥
यद्यपि सनेह भरी तव बतियाँ, तउ अचरज की बात।
योग वियोग दोउन में इक सम, नित्य जरावत गात॥

इस गीत में खिन्नता, विषम-वेदना, विषाद आदि कई भाव एक साथ अभिव्यञ्जित हैं।

राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी रचनाओं में यथास्थान सुन्दर गीत लिखे हैं। 'साकेत' के अष्टम् तथा नवम् सर्ग तो मानो 'खण्ड गीत-काव्य' ही हैं। उदाहरण लीजिए—

'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।
× × × ×
देवर के शर की अनी बनाकर टाँकी,
मैंने अनुजा की एक मूर्ति है आँकी।
आँसू नयनों में, हँसी बदन पर बाँकी,
काँटे समेटती, फूल छींटती झाँकी।
निज मन्दिर उसने यही कुटीर बनाया।
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

—अष्टम् सर्ग

वेदने, तू भी भली बनी!
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर-कनी॥
× × × ×
मन-सा मानिक मुझे मिला है, तुझमें उपल-खनी।
तुझे तभी त्यागूँ जब सजनी, पाऊँ प्राण-कनी॥

—नवम् सर्ग

गुप्त जी ने 'यशोधरा' में भी कई गीत लिखे हैं।

हिन्दी के नई धारा के प्रायः सभी कवियों ने गीति-शैली पर रचनाएँ लिखी हैं। यथा—

तुम रहो न गीतों में
तो गीत रहें किसमें बोलो?
× × ×

मेरे गीतों के राजा ! तुम,
मेरे गीतों में वास करो।

—माखनलाल चतुर्वेदी

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस-गर्भ-विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर, मंगल कुंकुम सारा।

—प्रसाद

उक्त गीत में जयशङ्कर प्रसाद ने भारतवर्ष के प्राकृतिक सौन्दर्य का मनोरम चित्राङ्कन किया है। इनकी 'आँसू', 'झरना' तथा 'लहर', रचनाएँ प्रगीतात्मक ही हैं। नाटकों में इन्होंने यथास्थान सुन्दर गीत लिखे हैं। यथा—

सब जीवन बीता जाता है।
धूप-छाँह के खेल सदृश, सब जीवन बीता जाता है।
समय भागता प्रतिक्षण में,
नव-अतीत के तुषारकण में,
हमें लगाकर भविष्य-रण में,
आप कहाँ छिप जाता है ? सब जीवन बीता जाता है।

पन्तजी की निम्नलिखित पंक्तियों में आशावाद स्पष्ट ही प्रस्फुटित हो उठा है—

बन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख का अपनाना,

एकात्मवाद से प्रभावित महादेवी जी का एक गीत भी देख लीजिये—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ॥
तार भी आघात भी झंकार भी गति भी।

पात्र भी, मधु भी, मधुर भी मधुर-स्मृति भी,
अधर भी हूँ और स्मित की चांदनी भी हूँ।

आज कल हिन्दी मे अंग्रेजी की लिरिक (प्रगीत) शैली पर नित्य नई रचनाएँ होती रहती हैं। इस क्षेत्र में भगवतीचरण वर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा, अंचल, बच्चन, दिनकर, रंग, दिनेश, नीरज आदि अनेक गीतकार कवियों के नाम लिये जा सकते हैं। आजकल के कवियों में 'बच्चन' तथा 'रंग' के गीत विशेष रूप से लोक प्रिय हैं। देखिये बच्चन का एक गीत—

गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे
× × ×
आज मधुमय गान कल के
दग्ध--कण्ठ--प्रलाप मेरे,
गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे।

कहने का सारांश यह है कि १४ वीं शती से हिन्दी में गीति काव्य-धारा अक्षुण्ण रूप से बहती चली आ रही है। आजकल इसे विशेष बल प्राप्त हो गया है। आजकल हिन्दी में कविता करना एक फैशन की चीज़ समझा जाता है और बिना गीत लिखे कवि कर्म पूरा नहीं होता है।

आजकल के नए शौकिया कवियों के गीतों में गीति काव्य की तन्मयता, भावानुभूति, भावुकता तथा मार्मिकता का सर्वथा अभाव है। गीत प्रायः इसलिए लिखे जाते हैं, क्योंकि प्रबन्ध-काव्य लिखने के लिए विशेष काव्य-कौशल, अध्यवसाय एवं पटुता की आवश्यकता होती है।

गीति-काव्य के अत्यधिक प्रचार का एक कारण कवि-सम्मेलन भी हैं। कवि-सम्मेलनों में आकर सुरीले कण्ठ से हाव-भाव दिखाते हुए गीत सुना देना विशेष सुविधाजनक रहता है। संगीतात्मक स्वर लहरी एवं भाव-प्रदर्शन पर मोहित होकर जनता वाह! वाह! करके तालियाँ बजा देती है और कवि जी हिन्दी-साहित्य के स्तम्भ समझे जाने लगते हैं।

जनता की रुचि के अनुकूल होने के कारण इन गीतों को रेडियो पर भी सुनाया जाता है। फल-स्वरूप गीतकारों को यश और धन, दोनों की ही प्राप्ति होती रहती है।

सिनेमा और सिनेमा के गीतों ने इस दिशा में आहुति का कार्य किया है। सिनेमा-संसार में स्वीकृत गीतों पर कलाकार को पर्याप्त पारिश्रमिक प्राप्त हो जाता है, और वे गीत प्रायः हर घर और हर गली में गूँजते रहते हैं। सिनेमा-संसार तक अपनी आवाज़ पहुँचाने के लिए भी बहुत से नवयुवक नित्य नये गीत लिखते और सुनाते रहते हैं। जो भी हो हिन्दी-काव्य में आजकल गीतों की बाढ़-सी आई हुई है। इनमें अधिकांश गीत नीरस तथा भावानुभूति से रहित होते हैं। छन्दों के बन्धनों से तो हिन्दी कविता बहुत पहले ही मुक्त हो चुकी है। अतएव बहुत से गीत अतुकान्त भी होते हैं। हिन्दी के शुभचिन्तकों का कर्त्तव्य है कि हिन्दी में गीत-रचना के लिए समुचित मापदण्ड निर्धारित करें।

---

१२ : हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद

रूपरेखा—

१—रहस्यवाद का लक्षण।

२—हिन्दी कविता में दो प्रकार का रहस्यवाद—

(क) ज्ञानात्मक रहस्यवाद।

(ख) भावात्मक रहस्यवाद।

३—कबीर, जायसी और मीरा का रहस्यवाद।

४—आधुनिक हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद—

प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा, पन्त और डा० रामकुमार

५—उपसंहार—आधुनिक रहस्यवाद में सुधार की आवश्यकता।

रहस्यवाद अनुभव करने की वस्तु है, उसका निरूपण करना एक अत्यन्त दुस्तर कार्य है। रहस्य का अर्थ होता है 'भेद', कोई गुप्त बात। सांसारिक वस्तुओं के पीछे कार्य करती हुई जब किसी अदृश्य शक्ति का अनुभव होने लगता है तभी 'रहस्यवाद' का जन्म होता है, ऐसा समझ लेना चाहिये। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रहस्यवाद' का लक्षण इस प्रकार बताया है—"जो चिन्तन के क्षेत्र में अद्वैतवाद है, वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है।" अद्वैतवाद के मूल में दार्शनिक सिद्धांत है। जगत् और उसके मूल कारण तक पहुँचने का गम्भीर प्रयास है। चिंतन करते-करते विचारक जब इस परिणाम पर पहुँच जाता है कि यह दृश्यमान समस्त संसार सर्वथा असार, मिथ्या अथवा शीघ्र नष्ट होने वाला है और सार वस्तु, सत्य अथवा सदैव रहने वाला एक पदार्थ, तथ्यरूप सर्वशक्तिमान जगत्-स्रष्टा ही है। तभी साधक पुकार उठता है "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या, सर्वं खल्विदं ब्रह्म तथा अहं ब्रह्मास्मि।" कहने का तात्पर्य यह है कि अद्वैतवाद मनुष्य के चिंतन अथवा बुद्धिप्रयास का फल है, और वह ज्ञान क्षेत्र की वस्तु है। इस प्रकार अद्वैतवादी विचारक को संसार के कण-कण में विश्वात्मा की झलक का दर्शन, अथवा अपना प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होने लगता है। आत्मवत् सर्वेषु की यह भावना जब उसे भावक्षेत्र की ओर लेजाती है, तब वह अपने परोक्ष सत्ता, अथवा विश्वात्मा के सम्बन्ध को भावना-रंजित उक्तियों द्वारा व्यक्त करने में तत्पर हो जाता है। आध्यात्मिकता की यह अवस्था रहस्यात्मकता अथवा रहस्यवाद कही जाती है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, "जब अद्वैतवाद का आधार लेकर कल्पना अथवा भावना उठ खड़ी होती है अर्थात् जब उसका (अद्वैतवाद) का सञ्चार भाव-क्षेत्र में होता है तब उच्च कोटि के भावात्मक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है।"

रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—ज्ञानात्मक और भावात्मक अथवा साधनात्मक और प्रेमात्मक। भारतीय योगमार्ग तथा अवतारवाद भावनात्मक एवं ज्ञानात्मक रहस्यवाद के उदाहरण है। यहूदी, ईसाई तथा इसलाम धर्मों की रहस्यात्मक भावना 'भावनात्मक रहस्यवाद' के रूप में प्रतीत हुई है।

भारतवर्ष तथा यूनान के रहस्यवाद की आधारशिला अद्वैतवाद है। उपनिषदों ने सर्वप्रथम उसका निरूपण किया है। अद्वैतवाद अथवा ब्रह्मवाद के आधार पर ही भारतवर्ष में उच्च कोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा हुई है। यह रहस्य-भावना इस दृढ़ विश्वास को लेकर चली है कि विश्व के अणु-अणु में उस परम तत्त्व की शक्ति और शील व्याप्त है। भारतवर्ष के साधक के हृदय में उक्त विश्वास स्वतः चिंतन के फलस्वरूप उद्भूत होता है, किसी बाहरी सिद्धांत के आधार पर नहीं। गीता के दसवें अध्याय में सर्ववाद का भावात्मक प्रणाली पर निरूपण किया गया है। भगवान् के श्रीमुख से वर्णित उनकी विभूतियों का स्वरूप अत्यंत रहस्यपूर्ण है। यथा—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भाव समन्विता॥

(गीता १०।८)

अर्थात् "मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ और सब मुझमें ही प्रवृत्त होते हैं, यह जानकर समझदार लोग भावपूर्वक मुझे भजते हैं।

भारतवर्ष और यूनान के विचारकों में अद्वैतवाद का प्रतिपादन ज्ञानक्षेत्र में हुआ। यहूदी, ईसाई और इसलाम मतों के अन्तर्गत तत्त्व-चिंतन अथवा ज्ञानकाण्ड का कोई स्थान नहीं है। अतः उक्त मतों के अन्तर्गत अद्वैतवाद का ग्रहण रहस्यवाद के रूप में ही हो सका। इस प्रकार भारत और यूनान का अद्वैतवाद ज्ञानात्मक रहस्यवाद बना और अरब, फ़ारस आदि देशों में वह भावक्षेत्र के बीच भावात्मक अथवा प्रेमात्मक रहस्यवाद के रूप में प्रस्फुटित हुआ। रहस्योन्मुख सूफियों और प्राचीन कैथोलिक ईसाइयों की साधना इसी कोटि की थी। सूफी 'हाल' की दशा में भीतर ही भीतर उस माशूक से मिला करते थे और ईसाई भक्त-साधक दुलहिनें बनकर उस दूल्हे से मिलने के लिए अपने अंतर्देश में महलों का सृजन किया करते थे। श्रीमद्भागवत् के उपरांत भारतीय भक्ति-पद्धति में भी भावात्मक रहस्यवाद के लिये स्थान होगया और भक्त लोग भगवान् को अपने ही सम्बंध से देखने लगे, जगत् के सम्बंध से नहीं। गोपियों की भक्ति इसी कोटि की थी। उन्होंने भगवान् की आराधना प्रियतम के रूप में की

थी। दक्षिण भारत के मन्दिरों में प्रचलित देवदासी प्रथा भी इसी कोटि में आती है। भक्तिन अंदाल एक स्थान पर (द्रविड़ भाषा की पुस्तक तिरुप्पावइ में) कहती है कि अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती। पति या प्रियतम के रूप में भगवान् की भावना को वैष्णव-भक्ति-मार्ग के अन्तर्गत 'माधुर्य भाव' कहा जाता है। आगे चलकर सूफ़ियों की देखा-देखी कृष्ण-भक्ति-शाखा के कई कवियों ने भगवान् की भावना पतिरूप में, 'माधुर्य भाव' से की, सखी-सम्प्रदाय जिसकी अंतिम परिणति हुआ। पतिरूप में भगवान् की भावना करने वाले भक्तों में मीराबाई का स्थान प्रमुख है। वे 'लोक-लाज खोकर' अपने प्रियतम कृष्ण के प्रेम में मतवाली रहा करती थीं। उन्होंने एक बार स्पष्ट कहा था कि कृष्ण को छोड़ और पुरुष है कौन? सारे जीव स्त्री-रूप हैं।

कुछ कृष्ण-भक्तों पर सूफ़ियों का पूरा प्रभाव पड़ा। चैतन्य महाप्रभु इसके प्रतीक थे। जिस प्रकार सूफ़ी कव्वाल गाते-गाते 'हाल' की दशा में हो जाते थे, उसी प्रकार महाप्रभुजी भी मण्डली के साथ गाते गाते मूर्च्छित हो जाया करते थे। इसी प्रकार मद, प्याला, उन्माद तथा प्रियतम ईश्वर के विरह की दूरारूढ़ व्यञ्जना भी सूफ़ियों की बंधी हुई परम्परा है। पिछले कृष्ण-भक्त कवियों में यह परम्परा भी परिलक्षित हुई। भक्तवर नागरीदास 'इश्क का प्याला' पीकर झूमा करते थे।

इसका सारांश यह हुआ कि ज्ञानात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत ब्रह्म, जीव और माया के सम्बन्ध का निरूपण किया जाता है। प्रेमात्मक रहस्यवाद में ईश्वर और जीव की माधुर्य-भावना का चित्र अंकित किया जाता है। भारतवर्ष के भावुक विचारकों ने परमात्मा को पुरुष और जगत् (प्रकृति) को स्त्री रूप बताया है। इसी कारण भारतीय परम्परा के अनुसार परमात्मा की पति रूप में भावना की जाती है और जगत् के नाना रूप स्त्री-रूप में देखे जाते हैं। सूफ़ियों के यहाँ क्रम उल्टा है। सूफ़ी दार्शनिक परमात्मा की माशूका (प्रियतमा) के रूप में भावना करते हैं तथा अपने आप अथवा जीव को आशिक़ (प्रियतम) के रूप में देखते हैं।

हिन्दी में रहस्यात्मक कविता करने वालों में कबीर का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। उन्होंने ज्ञानात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद से सम्बन्धित सुन्दर रचनाएँ लिखी हैं। उनके रहस्यवाद का ज्ञानतत्त्व भारतीय वेदान्त से गृहीत है तथा प्रेमतत्त्व सूफ़ियों का है। उनके ज्ञानात्मक रहस्यवाद के उदाहरण देखिए—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है,
बाहर भीतर पानी
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना
यह तत कथौ गियानी।

इस अन्योक्ति के आधार पर गूढ़ दार्शनिक तत्त्व को अत्यन्त सरलतापूर्वक व्यक्त कर दिया गया है। घड़े के अन्दर का पानी मानो जीवात्मा है और घड़े के बाहर का पानी परमात्मा है। घड़ा मानों माया का रूप है। घड़े के अन्दर के और घड़े के बाहर के पानी में कोई भेद नहीं है, परन्तु घड़े की चद्दर बीच में आ जाने के कारण ये पृथक हैं—एक घड़े का पानी कहलाता है और दूसरा बाहर (कुए अथवा अन्य सागर) का पानी। घड़े की चद्दर के टूटते ही वे दोनों मिलकर एकरस हो जाते हैं। यही सम्बन्ध जीव और ब्रह्म का है। मायारूपी घड़े की चद्दर के बीच में आ जाने के कारण घड़े के भीतर का पानी रूपी जीव बाहर के अनन्त सागर के पानी रूपी परमात्मा से अपने आप को पृथक समझता है। जैसे ही घड़े की चद्दर रूपी माया का आवरण हट जाता है, वैसे ही जीव और ब्रह्म एकरस हो जाते हैं।

कबीर ने इस प्रकार की उक्तियों द्वारा जीवात्मा, माया और परमात्मा के सम्बन्ध को बहुत अच्छी तरह समझाया है। यथा—

"जल में उत्पति जल में बास
जल में नलिनी तोर निवास।"

यहाँ जल परमात्मा का और 'नलिनी' जीवात्मा के प्रतीक हैं।

तथा— "जल ही ते हिम भया, हिम ही गया बिलाय।
कबिरा जो था सोइ भया, अब कछु कहा न जाय।"

यहाँ जल 'परमात्मा' का प्रतीक है, तथा बर्फ या ओला 'जीव' का।

"औंधा घड़ा न जल में डूबे, सूधा सूभर भरिया"

उपर्युक्त अन्योक्ति में घड़ा 'जीवात्मा' का प्रतीक है और जल सांसारिक माया-जाल का। औंधा घड़ा पानी में नहीं डूबता। सांसारिक सुखों से विमुख जीव माया-जाल एवं मायाकृत दुःखों में नहीं पड़ता। सीधा घड़ा पानी से भर कर डूब जाता है। संसार में लिप्त मनुष्य माया-जाल में फँस कर नष्ट हो जाता है।

कबीर के काव्य में सूफियों के 'प्रेमात्मक रहस्यवाद' अथवा 'माधुर्य-भाव' की भी व्यंजना यथा स्थान मिलती है। जैसे—

"हरि मोर पिय, मैं राम की बहुरिया"

राम की बहुरिया कभी तो प्रियतम से मिलने को विह्वलता प्रकट करती है—

"कब की बैठी जोवती बाट तिहारी राम
मन तरसै तुम मिलन कूँ मन नाहीं बिसराम"

कभी मार्ग की कठिनाइयों का उल्लेख करने लग जाती है—

मिलना कठिन है. कैसे मिलौंगी पिय जाय?
समुझि सोच पग धरौं जतन से. बार-बार डगि जाय।
ऊँची गैल, राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय॥

और कभी विरह-दुःख-निवेदन करती है

'जैसे जल बिन मीन तलपै
ऐसे हरि बिन मोर जियरा कलपै॥"

अथवा

"कब की बैठी जोवती बाट तिहारी राम,
जिय तरसै तुम मिलन कूं मन नाहीं बिसराम॥"

हिन्दी साहित्य में 'प्रेमात्मक रहस्यवाद' की परम्परा मुसलमान सूफी कवियों से प्रारम्भ हुई। इस क्षेत्र में मलिक मोहम्मद जायसी का स्थान सर्वोच्च है। जायसी की उक्तियाँ अत्यंत मर्म स्पर्शिनी एवं हृदय-ग्राह्य हैं। देखिए, उस परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य-सत्ता की ओर (पद्मावती की)

लौकिक दीप्ति और लौकिक सौन्दर्य द्वारा वे किस प्रकार पाठक को ले जाते हैं—

बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन, पदारथ, मानिक मोती ॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी।
तहँ तहँ छिटक जोति परगसी ॥
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन-जोति नग हीर ॥

उक्त वर्णन और गीता के 'विभूति-योग'-निरूपण में वही अन्तर है जो भावना और दर्शन (बुद्धि) में।

सिद्धों और योगियों के अनुकरण पर कबीर ने ईश्वर को अन्तस् में बताया था—

'मो को कहाँ ढूँढें बंदे मैं तो तेरे पास रे'

जायसी भी उसे भीतर ही बताते हैं—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव, कहौं केहि रोई ॥

उस प्रियतम के सामीप्य के कारण विश्व-व्यापी आनन्द की उत्पत्ति होती है। मन-मानस का यह आनन्द अलौकिक और अपरिमित है—

देखि मानसर रूप सोहावा। हिय-हुलास पुरइनि होइ छावा।
गा अँधियार, रैनि-मसि छूटी। भा भिनसार, किरनि-रवि फूटी ॥
कँवल बिगस तस बिहँसी देही। भँवर दसन होइ कै रस लेही।

पृथ्वी और स्वर्ग, जीव और ईश्वर, दोनों एक थे। उनके बीच न मालूम किसने अन्तर डाल दिया—

धरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ निनार कै दीन्ह बिछोऊ ॥

मीराबाई का रहस्यवाद भी इसी कोटि, 'प्रेमात्मक रहस्यवाद' के अन्तर्गत आता है। वे श्रीकृष्ण की पति रूप में भावना एवं उपासना करती थीं। उनकी कविता में 'माधुर्य-भाव' ओत प्रोत है। देखिये,—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई

तथा—

रमैया बिन नींद न आवै ।
बिन पिय जोत मन्दिर अँधियारो दीपक दाय न आवै ॥
पिया बिना मेरी सेज अलूनी जागत रैन बिहावै ।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी वेदन कौन बुतावै ॥
विरह-नागन मोरी काया डसी रे लहर लहर जिय जावै ॥

एक-दो स्थलों पर सूरदासजी ने भी रहस्यात्मक उक्तियाँ कह डाली हैं—

१६ वीं शती के अन्त में यूरुप में रहस्यात्मक कविता का पुनरुत्थान हुआ। उसमें सर्ववाद (Pantheism) ब्रह्म और जगत् की एकता का आभास था। अंग्रेज कवि शैली की कविताओं में सर्ववाद की अच्छी झलक है। आयरलैण्ड के कवि ईट्स (Yeats) की वाणी में भी रहस्यात्मकता की अच्छी छाप है। शैली स्वतन्त्रता के उपासक थे और ईट्स स्वतन्त्रता-सग्राम में भीषण पुकार लगाने वाले। भारतवर्ष में भी स्वतन्त्रता-संग्राम चल रहा था और उन दिनों भारतवर्ष की भाषाओं में इतिवृत्तात्मक शुष्क काव्य का सृजन होरहा था; वह युग वैज्ञानिकता, बुद्धिवाद तथा उपयोगितावाद का युग था। ठीक इसी समय कवीन्द्र रवीन्द्र की वाणी द्वारा भारतवर्ष में रहस्यवाद की धारा फूट निकली, जो बंगला साहित्य में होती हुई हिन्दी के काव्य-क्षेत्र तक चली आई।

हिन्दी के प्राचीन कवियों की वाणी में रहस्यात्मक उक्तियां यदा-कदा ही मिलती हैं। रहस्यवाद की धारा कभी पीनकाय और कभी क्षीण-काय हो जाती थी। परन्तु वर्त्तमान काल में उसकी धारा अबाध रूप से बहती चली आ रही है। इस कविता में जड़ वस्तुयें भी सांकेतिक भाषा में मनुष्य से बोलती हुई-सी प्रतीत होती हैं। इसे 'छायावाद' कहना अधिक समीचीन है और शुक्ल जी के मतानुसार 'रहस्यवाद' को इसी 'छायावाद' की एक प्रवृत्ति मानना चाहिये।

'छायावाद' का प्रयोग दो अर्थों में होता है—रहस्यवाद और प्रतीकवाद। प्रतीकवाद में प्रस्तुत वस्तु के स्थान पर किसी अप्रस्तुत वस्तु का वर्णन छाया-रूप में होता है। अन्योक्ति-पद्धति इसका मूलाधार है। इसके अन्तर्गत जड़ पदार्थ आत्मीय भाव धारण कर लेते हैं और प्रकृति सहचरी बन जाती है।

'छायावाद' के अन्तर्गत गुलाब का फूल केवल फूल न रह कर यौवन का प्रतीक बन जाता है, 'जुही की कली' स्नेह और सुहाग से भरी नायिका का रूप धारण कर लेती है। यथा—

विजन-वन वल्लरी पर,
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न
अमल-कोमल तनु तरुणी जूही की कली
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में

—निराला

आध्यात्मिक प्रतीकवाद ही 'रहस्यवाद' है। बंगाल में इसी को 'छायावाद' नाम दिया गया। सारांश यह है कि आधुनिक हिंदी का छायावाद या रहस्यवाद बंगला द्वारा अंग्रेज़ी के रहस्यवाद का अनुकरण है। आजकल के प्रमुख रहस्यवादी कवि हैं—प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा तथा डा० रामकुमार वर्मा।

'प्रसाद' ने मीरा के समान माधुर्य-भाव का अवलम्बन करके प्रेम को अपनी कविता का विषय बनाया है। देखिए, प्रियतम के विरह में दुःखी जीवात्मा की विकलता—

भरा नैनों में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप॥
जल-थल, मारुत व्योम में जो छाया सब ओर।
खोज खोज कर खोगई मैं, पागल प्रेम विभोर॥

इसकी तुलना कीजिए कबीर की निम्नलिखित उक्ति के साथ—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली ढूँढन मैं गई मैं भी होगई लाल॥

'निराला' जी ने भी परोक्ष सत्ता को प्रेम का आलम्बन बनाया है। यथा—

एक दिन थम जायगा रोदन,
तुम्हारे प्रेम-अंचल में।

'पन्त' पर सूफ़ियों के रहस्यवाद की 'प्रेम की पीर' की गहरी छाप है। समस्त विश्व उन्हें विरह-वेदना से व्याप्त दिखाई देता है—

गगन के उर में घाव,
देखती ताराएँ भी राह।
बँधा विद्युत छवि में जलवाह,
चन्द्र की चितवन में भी चाह॥

वे प्रकृति में मानवी भावों की छाया देखते हैं, तारागण आकाश के नेत्र बनकर उन्हें मौन संकेत करते हैं. और झरना कुछ गहरी बात कहता सुनाई देता है—यथा

सौरभ का फैला केश-जाल
करती समीर परियाँ विहार-
गीली केशर मद झूम-झूम
पीते तितली के नवकुमार
मर्मर का मधुर संगीत छेड़
देते हैं हिल पल्लव अजान

महादेवी वर्मा की रचनाओं में भी ऐसे भाव व्यक्त हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में अलंकार रूप से प्रकृति में मानवीय भावों का आरोप किया गया है—

अज्ञात लोक से छिप-छिप
क्यों उतर रश्मियाँ जातीं।
मधु पीकर प्यास बुझाने,
फूलों के उर खुलजातीं॥

महादेवी जी ने सूफ़ियों के 'प्रेम की पीर' की गम्भीर अभिव्यंजना की है। उनकी रचनाओं में सूफ़ियों के रहस्यवाद की प्रवृत्ति भरी पड़ी है।

अज्ञात शक्ति को एक नर्तकी के रूप में देखती हुई वे कहती हैं—

आलोक तिमिर सित असित चीर।
सागर-गर्जन रुन झुन मँजीर॥
उड़ता झंझा में अलकजाल।
मेघों में मुखरित किंकिण स्वर॥

अपने प्रियतम की प्राप्ति के लिए वे युगों से पथिक बनी हुई हैं—

युग युगान्तर की पथिक मैं हूँ कभी लूँ छाँह तेरी।
ले फिरूँ सुधि दीप-सी, फिर राह में अपनी अँधेरी॥

डा० रामकुमार वर्मा ने फ़ारसी रहस्यवाद का गम्भीर अध्ययन किया है और वे उससे भली भाँति प्रभावित हैं। वे अपने आपको अनन्त सत्ता में लीन करना चाहते हैं। वे अनन्त सत्ता में अपना और अपने आप में अनन्त सत्ता का प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं—

मेरे जीवन में एक बार
तुम देखो तो अनुपम स्वरूप,
मैं तुममें प्रतिबिम्बित होऊँ
तुम मुझमें होना तो अनूप॥"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक रहस्यवादी कवियों की उक्तियों में अनुभूति व भावना की वह तीव्रता नहीं पाई जाती है जो कबीर अथवा जायसी के काव्यान्तर्गत देखने को मिलती है। कारण स्पष्ट है कि आजकल के जीवन में आध्यात्मिकता के लिए बहुत कम अवसर है। रहस्यात्मक उक्तियां केवल 'वाद' विशेष के निर्वाह-हेतु ही लिखी जाती हैं। ये उक्तियाँ प्रायः कल्पना-प्रसूत ही होती हैं। हर्ष का विषय है कि हमारे हिंदी के कविगण अब जीवन और जगत् के क्षेत्र की ओर अग्रसर होने लगे हैं।

———

१३ : हिन्दी साहित्य में कृष्ण-काव्य की परम्परा

रूपरेखा—

१—हिन्दी के सगुण साहित्य की दो धाराएँ—राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति।

२—कृष्ण-भक्ति के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य।

३—कृष्ण भक्ति-शाखा की कवि-परम्परा संस्कृत के कवि जयदेव से प्रारम्भ हुई।

४—हिन्दी के कृष्ण-भक्त-कवि—विद्यापति, मीरा, सूरदास आदि। अष्टछाप के कवि–तुलसीदास, हित हरिवंश, रसखान, घनानन्द, भारतेन्दु, रत्नाकर आदि।

५—उपसंहार—

हिन्दी के सगुण साहित्य में हमें मुख्यतया दो धारायें मिलती हैं। (१)—राम-भक्ति-शाखा तथा (२)—कृष्ण-भक्ति-शाखा। एक प्रकार से भागवत ही दोनों धाराओं की पृष्ठभूमि है। दोनों प्रकार की भक्ति श्री मद्भागवत पर समाधारित है। भागवत की भक्ति को लेकर नारायणी भक्ति का आविर्भाव हुआ और उसमें श्री रामानुजाचार्य जी का प्राधान्य रहा। इन्हीं की परम्परा में श्री रामानन्द जी हुए। गोस्वामी तुलसीदासजी इन्हीं की शिष्य-परम्परा में थे और वे ही राम-भक्ति-शाखा के मुख्य कवि हुए।

कृष्ण-भक्ति के प्रवर्त्तक हुए श्री वल्लभाचार्य जी, और इन्हीं की शिष्य-परम्परा में सूरदास, नन्ददास आदि अष्टछाप के भक्त कवि हुए। इस भक्त-कवि परम्परा के ऊपर माध्व, विष्णु स्वामी के उपदेशों तथा जयदेव के 'गीत गोविन्द' का विशेष प्रभाव पड़ा।

जयदेव

श्री निम्बार्क से प्रभावित होकर श्री जयदेव ने अपने 'गीत गोविन्द' की रचना की, और इसमें राधा का वर्णन किया, जिससे महाकवि विद्यापति प्रभावित हुए। अतः कृष्ण-काव्य का सूत्रपात जयदेव से ही मानना

चाहिये, विद्यापति से नहीं। जयदेव के समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी का प्रारम्भ मानना चाहिए। 'गीत गोविन्द' ने ही सबसे पहिले राधा के व्यक्तित्व को पहिली बार मधुर और प्रेमपूर्ण बनाकर साहित्य में प्रस्तुत किया गया है, इसमें कामदेव के बाणों की मीठी मार है। "गीत गोविन्द" की रचना संस्कृत में है तथा जयदेव ने प्रायः संस्कृत में ही कविता की। उनके द्वारा हिन्दी में रचे गये दो-चार पद इधर-उधर पाए जाते हैं।

अरधि को अरधिया, सरधि को सरधिया।
सलिल को सलिल समान आइया।
बदति जयदेव जयदेव को रमिया,
ब्रह्म निर्वाण लवलीन पाइया।

विद्यापति

विद्यापति मैथिल ब्राह्मण थे। इनका जन्मकाल सन् १३५० तथा मृत्यु सन् १४४० समझना चाहिए। इनके पिताजी शैव थे, तथा इनके ऊपर विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क का प्रर्याप्त प्रभाव पड़ा था। इस प्रकार इन्होंने अपनी कविता में कृष्ण के साथ-साथ राधा के स्वरूप को भी अपनाया।

जैसा हमने अभी-अभी बताया कि ये जयदेव के 'गीत गोविन्द' की शृंगार-भावना से बहुत प्रभावित हुए थे, अतः उन्होंने पदों की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भजन के रूप में नहीं।

वृद्धावस्था में इन्हें अपना भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होने लगा था। निराशा ने इनके हृदय को आच्छादित कर दिया था। उस समय इन्होंने अवश्य ही भक्ति के पद अत्यन्त करुण स्वर में गाये थे, देखिये।

माधव हम परिनाम निराशा।
तुहु जगतारन दीन दयामय अतए तो हर विसवासा।
आध जनम हम नींद गमायनु जरा सिसु कत दिन गेला।
त्रिभुवन रमनि रंग संरग मातनु तोहे भजन कओन बेला।

मीराबाई

मीराबाई का समय सन् १४६१ से १५४६ के बीच में माना जाता

है। इन्होंने विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क के सम्प्रदायों में स्थापित राधा को चिर प्रेयसी के रूप में ग्रहण किया। राधा की चरम उत्कर्ष यही है कि वह श्रीकृष्ण के साथ गोलोक में निवास करी है।

मीराबाई एक सच्ची भक्त कवियत्री थीं। इनके प्रसिद्ध पद 'मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई' में गोपाल कृष्ण का स्मरण सर्वथा निम्बार्क साम्प्रदाय-प्रचलन के अनुसार है। मीराबाई के पदों में अनन्य तन्मयता है। वह निस्सन्देह प्रेमातिरेक के कारण है और सर्वथा सात्विक है। यथा—

(१) भाव भगत भूषण सजे सील संतोष सिंगार।
ओढ़ी चूनर प्रेम की गिरधर जी भरतार॥

(२) बसो मोरे नयनन में नन्दलाल,
मोहनी मूरत सांवरी सूरत, नैना बने बिसाल।
+ + + +
मीरा प्रभु सन्तन सुखदाई, भक्तवछल गोपाल।
+ + + +

(३) मन रे परसि हरि के चरण।
+ + + +
जिन चरण प्रहलाद परसे इन्द्र पदवी धारण
जिन चरण ब्रह्मांड मेट्यों नख सिख सिरी धारण
+ + + +
दासि मीरा लाल गिरधर अगत तरण तारण।

अब तनिक दास्यासक्ति एवं आत्म-निवेदन शक्ति की भी झलक देख लीजिये—

स्याम म्हाने चाकर राखो जी,
गिरधारीलाल चाकर राखो जी।

चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसन पासूँ।
वृन्दावन की कुंज गलिन में गोविन्द का गुण गासूँ।

चाकरी में दरशन पाऊँ सुमिरन पाऊँ खरची।
भावत भति जागरी बाऊँ तीनों बाता सरसी।
मोर मुकट पिताम्बर सोहे गल वैजन्ती माला।
वृन्दावन में धेनु चरावे मोहन मुरली वाला।
+ + + +
जोगी आयो जोग करनकूं तप करने संन्यासी।
हरी भजन कूं साधू आए वृन्दावन के वासी।
मीरा के प्रभु गहिर गम्भीरा हृदे रहोजी धीरा।
आधीरात प्रभु दर्शन दीन्हों प्रेम नदी के तीरा।

दैन्य भक्तों का बड़ा बल है।

भक्ति काल संवत् १३७२ से १७९९ तक

अष्टछाप के कवि

विद्यापति और मीराबाई के उपरान्त कृष्ण भक्ति के प्रसिद्ध अष्टछाप के कवियों का उदय हुआ। वल्लभाचार्य जी के पुत्र उनकी गद्दी के उत्तराधिकारी गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने स्वयं अपने पिता जी की आज्ञानुसार अत्यन्त सरल और मधुर वाणी में भगवान् कृष्ण का यशोगान करने वाले आठ सर्वोत्तम कवियों को चुन कर अष्टछाप की स्थापना की। अष्टछाप के कवियों के नाम ये थे—(१) सूरदास (२) कुम्भनदास (३) परमानन्द दास (४) कृष्णदास (५) छीतस्वामी (६) गोविन्द स्वामी (७) चतुर्भुज दास (८) नन्ददास।

१—सूरदास

इनका जन्मकाल संवत् १५४० तथा निधनकाल संवत् १६८७ है।

रचनाएँ—इनका प्रथम ग्रन्थ "सूर सागर" है इसमें इनके पदों का संग्रह है कहते हैं। कि इसमें सवा लाख पदों का संग्रह है, परन्तु अभी तक 'सूर सागर' की किसी भी प्रति में ८,१००० से अधिक पद नहीं मिल सके हैं। इस ग्रन्थ में श्री मद्भागवत की सम्पूर्ण कथाओं का सन्निवेश किया गया है, किन्तु विशेषतः कृष्ण की बाल-लीला से लेकर उसके गोकुल

त्याग और गोपियों के विरह तक की कथा फुटकर पदों के विस्तार के साथ कही गई है। ये पद मुक्तक रूप में हैं और सभी गेय हैं। वैसे खोज करने पर उनके नाम के कई ग्रन्थ मिले हैं। उनका विवरण इस प्रकार है।

१.	गोवर्धन लीला	पद्य संख्या	३००
२.	दशम स्कंध टीका	,, ,,	१६२३
३.	नाग लीला	,, ,,	४०
४.	पद संग्रह	,, ,,	४१७
५.	प्राण प्यारी	,, ,,	३२
६.	ब्याहली	,, ,,	२३
७.	सूर पच्चीसी	,, ,,	२८
८.	भागवत	,, ,,	११२६
९.	सूर सागर	,, ,,	११०००
१०.	सूर सागर सार	,, ,,	३७०
११.	एकादशी महत्त्व	,, ,,	६३
१२.	राम जन्म	,, ,,	६४०
१३.	सूर सारावली		
१४.	साहित्य लहरी		
१५.	नल दमयन्ती		

इनमें से 'सूर सागर' को प्रामाणिक मानना चाहिये अन्य ग्रन्थ सूर-सागर के ही अंश हैं, अथवा सूर सागर की कथावस्तु के रूपान्तर हैं।

इनका एक पद देखिये—

वा पट पीत की फहरान।
कर धरि चक्र चरन का धावनि नहिं बिसरत वह बान।
मानो सिंघ सैल तै निकस्यो महा मत्त गज जान।
जिन गोपाल मेरो पन राखो मेटि वेद की कान।
सोइ सूर सहाय हमारे निकट भई है आन।

भक्तों को भगवान् हर जगह मिल जाते हैं, उनके बिना उन्हें चैन नहीं भाय, कुभाय, अनख अलसाहू किसी प्रकार उनका स्मरण कीजिए,

यह सदैव मङ्गल करेंगे, संक्षेप में सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों का एक ही इष्ट रहा है।

तुलसी अपने राम कों, रीझ भजो के खीज
उल्टो सूधौ ऊगि है खेत परे को बीज।

वास्तव में सूरदास जी भी ज्ञान के विरोधी नहीं। भक्ति विरोधी ज्ञान उन्हें रुचिकर नहीं हैं :

बार बार ये वचन निवारो,
भक्ति विरोधी ज्ञान तुम्हारो।

परमानन्ददास

इनका समय सम्वत् १६०७ के आस-पास है।

कहा करौं वैकुन्ठहिं जाइ।
जहं नहिं नंद, जहां नहिं जसोदा, नहिं जहं गोपी-ग्वाल न गाय।
जहं नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन कीछांह।
परमानन्द प्रभु चतुर चतुर ग्वालिनि ब्रजरज तजि मेरा जाय बलाय।

कुंभनदास

इनका समय सम्वत् १६०७ के आस-पास है।

सन्तन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरि नाम।
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबै परी सलाम।
कुम्भनदास लाल गिरधर बिनु और सबै बेकाम।

गोविन्द स्वामी

इनका समय सम्वत् १६१२ के आस-पास है।

प्रात समय उठि जसुमति जननी गिरधर सुत को उबटि न्हावति।
करि सिंगार बसन भूषन सजि फूलन रचि रचि पाग बनावति।
दुहु बन्द वागे अति सोभित, बिच बिच चोब अरगजा लावति।
सूथन लाल फुंदना सोभित, आजु की छबि कहत न आवति।
विविध कुसुम की माला उर, धरि श्रीकर मुरली जैत गहावत।

लै दरपन देखें श्रीमुख को गोविन्द प्रभु चरननि सिर नावति।

नन्ददास

यह सूरदास व तुलसीदास जी के समकालीन थे। इनका समय विक्रम की शताब्दी का पूर्वाद्ध माना जाता है। इनकी कविता अत्यन्त सरस तो है ही उसमें अनुप्रास तथा संस्कृत पद विन्यास की ओर झुकाव भी मिलता है। इनके विषय में यह कहावत अक्षरशः लागू है "और कवि गढ़िया, नन्ददासजी जड़िया।" इनके रचे हुये ग्रंथ ये हैं—

रास पंचाध्यायी, भागवत दशम स्कंध, रुक्मिणी मंगल, सिद्धान्त पंचाध्यायी, रूप मंजरी, नामि चिंतामणि माला, अनेकार्थ नाम माला, अनेकार्थ मंजरी, दान लीला, मान लीला, ज्ञान मंजरी, स्याम सगाई, भ्रमर गीत और सुदामा चरित। इनके बनाये हुये दो ग्रन्थ और बताये जाते हैं, हितोपदेश और नासिकेतु पुराण। इनमें रास पचाध्यायी और भ्रमर गीत ही प्रसिद्ध हैं।

गोस्वामी तुलसीदास की तरह यह भी भक्ति के मार्ग को "राज डगरों की सूझें" बताते हैं 'हमारे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधौ' (भ्रमर गीत) रास पञ्चाध्यायी को समाप्त करते समय नन्ददास जी ने ठीक ही कहा है कि—

स्तवन कीरतन, ध्यान सार सुमिरन को है पुनि,
ज्ञान सार हरि ध्यान स्तुति सारगुह्यी गनि।
अघ हरनी मन हरनी सुन्दर प्रेम वितरिनी,
नन्ददास के कंठ बसी नित मंगल करनी॥

जो आनन्द इन्हें मिल चुका है वह भगवान के चरण कमलों की रात-दिन सेवा करते रहने पर भी लक्ष्मी जी को भी नहीं मिला, श्रीकृष्ण और गोपिकाओं का रास उनके लिए स्वयं सच्चिदानन्द का स्वरूप बनकर चराचर को रस आनन्द पहुँचाने के लिए उमड़ रहा है।

कृष्णदास

यह शूद्र थे और अष्ट-छाप के भक्त कवियों में इनकी गिनती है।

इनकी कृष्ण भक्ति विषयक कविता देख लीजिये ।

कंचन मनि-मरकत रस ओपी ।
नंद सुवन के संगम सुख कर अधिक विराजित गोपी ।
मनहु विधाता गिरधर पिय हित रसत ध्वजा सुख रोपी ।
वदन कांति के सुनरी भामिन सघन चंद श्री लोपी ।
प्रान नाथ के चित चोरन भी मोह भुजंगम कोपी ।
कृष्णदास स्वामी बस कीन्हें प्रेम पुञ्ज की चोपी ।

छीतस्वामी

इनका समय सम्वत् १६०० के आस पास है यह मथुरा के एक सुसम्पन्न पंडा थे इनकी कविता का नमूना देखिये ।

भोर भए नव कुञ्ज सदन ते आवत लाल गोवर्द्धनधारी ।
लट पर पाग परगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी ।
बिनु गुन माल बिराजति उर पर, नखछत द्वै चन्द अनुहारी ।
छीत स्वामी जब चितयो मो तन तब हौं निरखि गई बलिहारी ।

गदाधर भट्ट

यह दक्षिणी ब्राह्मण थे । यह श्री चैतन्य महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे अतः सम्वत् १५८४ के भीतर ही इन्होंने अपने महाप्रभु से दीक्षा ली होगी । अन्त सौन्दर्य के अनुसार इनका रचना-काल १५८० से १६०० तक माना जा सकता है ।

सखी हौं स्याम रंग रंगी ।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरति मारि पगी ।
संग हुतो अपनो सपनो सो सोइ रही रस खोई ।
जागेहु आगे दृष्टि पड़ै, सखि नैकु न न्यारो होई ।
एक जु मेरी अँखियन में निसि,घोस रह्यौ करि मौन ।
गाय चरावन जात सुनौ,सखि सोधौं कन्हैया कौन ।
कासौं कहौं कौन पतियावै, कौन करै बकवाद ।
कैसे कै कहि जात गदाधर गूगे ते गुर स्वाद ।

गोस्वामी तुलसीदास

जिस तरह सूरदास जी ने कहने भर को राम विषयक कविता की, ठीक उसी तरह गोस्वामी जी ने कृष्ण विषयक कविता की। सम्भवतः साम्प्रदायिक सहिष्णुता दिखाने के लिए श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में इन्होंने श्रीकृष्ण गीतावली की रचना की इसमें १६१ पद हैं। नमूना देखिये।

माता लै उछंग गोविन्द मुख बारबार निरखै।
पुलकित तनु आनन्दघन छन छन मन हरषै।
पूछत तोतरात बात मातहिं यदुराई।
अतिसय सुख जाते तोहि मोहिं कछु समुझाई।
देखत तव बदन कमल मन अनंद होई।
कहे कौन रसन मौन जानै कोई कोई।
सुन्दर मुख मोहिं देखाई इच्छा अति मोरे।
मम समान पुन्यपुञ्ज बालक नहिं तोरे।
तुलसी प्रभु प्रेम वस्य मनुज रूप धारी।
बाल केलि लीला रस ब्रज जन हितकारी।

हितहरिवंश

इनका समय सम्वत् १५६० के आस-पास है। आपके पदों का संग्रह "हित चौरासी" के नाम से प्रसिद्ध है।

रहो कोऊ काहू मनहिं दिए।
मेरे प्राननाथ श्री स्यामा सपथ करो तिन छिए।
× × × ×
लाए रतन फिरत जे घर घर कौन काज इमि जिए।
हित हरिवंश अनत सचु नाहीं बिनु या रस पिए॥

रसखान

(समय सम्वत् १६१५ से १६८५ तक)

यह दिल्ली के एक पठान सरदार थे। आजन्म कृष्ण-प्रेम के भिखारी बने रहे। यह गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अत्यन्त कृपा पात्र शिष्य

थे तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता में इनकी चर्चा है। इनके ब्रज भूमि के प्रेम से सम्बन्धित छन्द प्रसिद्ध हैं। यथा—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरसहु जाहि निरन्तर गावै।
जाहि अनादि अखंड अनन्त अछेद अभेद सुवेद बतावै॥
नारद से सुक व्यास रहै पचिहारे तऊ पुनि पारि न पावै।
ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछ पै नाचि नचावै॥

इनका तो स्पष्ट मत था कि—

ऐसे ही भए तो नर कहा रसखान जै पै।
चित्त दैना प्रीति, पीत पट वारे सों॥

× × × ×

ध्रुवदास

इनका जीवन वृत्त उपलब्ध न होने से इनके जन्म आदि के विषय में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं है इतना अवश्य है कि यह श्री हित हरिवंश जी के शिष्य स्वप्न में हुए थे। इनकी रचना बहुत ही विस्तृत है। इन्होंने पद, दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैये आदि अनेक छन्दों में भक्ति और प्रेम-तत्त्व का वर्णन किया है। छोटे बड़े सब मिलाकर इनके लगभग ४० ग्रन्थ मिले हैं। इनकी रचनाओं के आधार पर इनका रचना-काल सम्वत् १६६० से सम्वत् १७०० तक माना जा सकता है। इनकी भजन सन्त पुस्तक का एक उद्धरण देख लीजिये।

बहु बीती थोरी रही, सोऊ बीती जाय।
हित ध्रुव बेनि विचर कै बसि वृन्दावन आय।
बसि वृन्दावन आय त्यागि लाजहिं अभिमानहिं।
प्रेम लीन ह्वै दीन आपको तृन सम जानहिं।
सकल सार को सार भजन तू कर रस रीती।
रे मन सोच विचार, रही थोरी बहु बीती।

रहीम (अब्दुर्रहीम खानखाना)

यह अकबर बादशाह के अभिभावक प्रसिद्ध मुगल सरदार बैरामखाँ

के पुत्र थे। इनका जन्म सम्वत् १६१० में हुआ था। यह जहाँगीर के समय तक वर्त्तमान रहे यह भगवत्भक्त तथा उदार दानी थे। इनका भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उनकी भक्ति विषयक कविता का नमूना देखिये—

कमल दल नैनन की उपमानि।
बिसरति नाहीं सखी, मो मन ते मंद मंद मुसकानि।
बसुधा की बस करी मधुरता सुधापगी बतरानि।
मढ़ी रहे चित उर बिसाल की, मुक्तमाल थहरानि।
नृत्य समय पीताम्बर हू की, फहरे फहर फहरानि।
अनुदिज श्री वृन्दावन ब्रज तें आवन आवन जानि।
अब रहीम चित तैन हरति हैं, सबल स्याम की बानि।

इतना अवश्य है उक्त परम्परा के बाद भक्त-कवियों का आविर्भाव कुछ अधिक अन्तर देकर हुआ है। इस काल में भक्ति विषयक रचनाएँ लिखने वाले अन्य कवियों के नाम इस प्रकार हैं– १. छीहल (संवत् १५७५ के आस पास), २. लाल दास (संवत् १५८५ के आस पास), ३. कृपाराम (संवत् १५९८ के आस पास), ४. महापात्र नरहरि बंदीजन (संवत् १५६२ से संवत् १६६७ तक), ५. नरोत्तम दास (संवत् १६०२ के आस पास प्रसिद्ध खण्डकाव्य 'सुदामा चरित' इनकी रचना है), ६. आलम (संवत् १६४० के आस पास), ७. महाराज टोडरमल (संवत् १५८० से १६४६ तक), ८. महाराज बीरबल (संवत् १६३२ के आस पास), ९. गंग (यह शाहंशाह अकबर के दरबारी कवि थे), १०. मनोहर कवि (संवत् १६२० के आस पास), ११. बोभद्र मिश्र (संवत् १६४० के आस पास), १२. जमाल (संवत् १६४७ के आसपास), १३. होला राम (अकबर के दरबार में जाया करते थे), १४. कादिर (संवत् १६६० के आस पास), १५. मुबारक (सवत् १६७० के आस पास), १६. बनारसीदास (संवत् १६८० के आस पास), १७. पुहकर कवि (सवत् १६७० के आस पास), १८. सुन्दर (संवत् १६८० के आस पास)।

ये भक्त कवि हमारे हिन्दी साहित्य में प्रेम माधुर्य का जो सुधास्रोत बहा गये हैं उसके प्रभाव से हमारे काव्य-क्षेत्र में सरसता और प्रफुल्लता बराबर बनी रहेगी। "दुःखनाद" की छाया आकर अपने आप चली जायगी। जिसके नाम मात्र से भव-बन्धन कट जाते हों उसके गुण-गान की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है।

रीतिकाल संवत् १७०० से १९०० तक

इस समय तक वल्लभाचार्य जी द्वारा कृष्णोपासना की पूरी-पूरी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। सूरदास आदि अष्टछाप के भक्तों तथा अन्य कवियों द्वारा जनता के सम्मुख भगवान का लोकरंजनकारी स्वरूप उपस्थित किया जा चुका था। इसमें जनता का जी बहला और उसने अपना दुःख भुलाया। परन्तु साथ ही राजकीय विलासिता एवं मुगल दरबारों की कद्रदानी के कारण प्रेम लक्षणा भक्ति पर कामुकता का रंग चढ़ने लगा था और कविता का स्वरूप विकृत हो चुका था। परमात्मा के सगुण स्वरूप पर रीझना लोग नहीं भूल पाए थे।

वल्लभ सम्प्रदाय में जो सेवा पद्धति ग्रहण की गई उसमें भोग राग तथा विलास की प्रचुर सामग्री की प्रधानता रही। भोग विलास के इस आकर्षण का सेवक-सेविकाओं पर बुरा प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे वे भी भक्त होने लगे जो विशेष धनवान हों। इससे राधा कृष्ण के स्वर्गीय प्रेम के लौकिक विलास का रूप मिला और सम्प्रदाय अधःपतित हो गया। मुगल दरबार के भोग-विलास ने "करेला और नीम चढ़ा" का काम किया। शृंगारी कवियों को अपने-अपने उद्गारों को व्यक्त करने का अवसर मिला और कृष्ण और राधा के नाम नायक-नायिकाओं का जमघट तैयार हो गया। जिसमें अधिकतर वासना पूर्ण भोगवाणी की ही व्यंजना हुई, परिणाम यह हुआ कि कृष्ण भक्ति धर्म-सौन्दर्य से बहुत दूर जा पड़ी। लोग केवल अब उनकी "बांकी अदा" और "तिरछी चितवन" के गीत गाने लगे इस काल के प्रमुख कवि इस प्रकार हैं।

रीति काल के प्रमुख कवि इस प्रकार हैं

बैनी

इनका समय संवत् १७०० के आस पास है।

छहरे सिर पै छबि मोर पखा उनकी नथ के मुकता थहरैं।
फहरैं पियरो पट बैनी इतै, उनकी चुनरी के झबा झहरैं।
रसरंग भिरे अभिरे हैं तमाल दोऊ रस ख्याल चहैं लहरैं।
नित ऐसे सनेह सों राधिका स्याम हमारे हिए में सदा बिहरैं।

बिहारीलाल

इनका संवत् १६५२ से १७२० तक है। यह माथुर चतुर्वेदी थे, इनके दोहे हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। उन्हें कोई नाविक के तीर कहते हैं। और कोई गागर में सागर चरितार्थ करने वाला बताते हैं। दोहे अधिकतर शृंगार रस के हैं। परन्तु इनमें भी यत्रतत्र भक्ति-चर्चा समाई हुई है।

अपने अपने मत लगे, बादि मचावत सोर।
त्यों त्यों सबको सेइवो, एकै नन्दकिशोर।

मतिराम

इनका समय सम्वत् १६७४ के आस पास है।

क्यों इन आंखिन सों निहसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारे कलंक लगै यहि गांव बसै कहु कैसे जीजै।
होत रहै मन यों मति राम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिहै अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै।

देव

इनका समय संवत् १७४० के आस पास है। रीतिकाल के कवियों में सबसे अधिक रचना इन्होंने ही की हैं। इनकी रची हुई पुस्तकों की संख्या कम से कम ६० है। कहीं-कहीं भक्तिभावना परिलक्षित हो जाती है देखिये कृष्ण जन्म-समय का वर्णन—

सूनो के परम पद ऊनी के अनंत मद,
नूनो कै नदीस नद इन्दिरा मुरैपुरी ।
महिमा मुनीसन की संपति दिगासन की,
ईसन की सिद्धि ब्रज वीथी की पुरैपुरी।
भादों की अँधेरी राति मथुरा के पथ,
पाय के संयोग "देव" देवकी दुरैपरी।
पारावार पूरन अपार परब्रह्म रासि,
जसुदा के कोरे एक बार ही कुरैपरी।

घन आनन्द

इनका समय संवत् १७४६ से १७९६ तक है।

गुरनि बतायो, राधा मोहन हू गायो,
सदा सुखद सुहायो वृन्दावन गाढ़े गहिरे।
अद्भुत अभूत महिमंडन परै तैं परे,
जोवन की लाहु हा हा क्यों न ताहि लहिरे।
आनन्द को घन छायो रहत निरन्तर ही,
सरस सुदय सो पपीहापन बहिं रे।
जमुना क तीर केलि कोलाहल मीर ऐसी,
पावन पुलिन पैं पतित परि रहि रे।

चचा हित वृन्दावन दास

इनका समय संवत् १८०० के आस पास है।

प्रीतम तुम तो दृगन बसत हो।
कहा भरोसो व्है पूछत ही, कै चतुराई करि जु हंसत हो।
लीजैं परखि स्वरूप आपनो, पेतरिन पैं तुम्हीं तो लसत हो।
वृन्दावन हित रूप रसिक तुम, कुंज लड़ावत हिय हुलसत हो।

भगवत रसिक

इनका समय संवत् १८०० के आस पास है।

कुंजन तै उठि प्रात गात जमुना में धोवै।

निधुवन करि दण्डवत बिहारी को मुख जोवै।
करैं भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा।
घर घर लेय प्रसाद लगै जब भोजन साधा।
+ + + +
संग करैं भगवत रसिक, कर करवा गूदरि गरे।
वृन्दावन बिहरत फिरैं, जुगल रूप नैन भरे।

श्री हठी जी

इनका समय संवत् १८०० के आस पास है।

गिरि कीजै गर धन, मयूर नव कुंजु को,
पसु कीजै महाराज नंद के नगर को।
नर कौन तौन जीव राधे राधे नाम रटे,
तट कीजै बर कूल कालिन्दी कगर को।
इतने पै जोई कछु कीजिये कुंवर कान्ह,
राखिय न आन फेर हठी के फगर को।
गोपी पद पंकज पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुले नगर को।

कृष्णदास

इनका समय सम्वत् १८५० के लगभग।

कौन काज लाज ऐसी करै जो अकाज अहो,
बार बार कही नर देह कहाँ पाइए।
दुर्लभ समज मिल्यो सकल सिद्धान्त जानि,
लीला गुन नाम धाम रूप सेवा गाइये।
बानी की सयानी सब पानी में बहाय दीजै,
जानी सो न रीति जासों दंपति रिझाइए।
जैसी जैसी गही जिन लही तैसी नैनहू,
धन्य धन्य राधा कृष्ण नित ही गनाइये।

सर्वश्री तोषनिधि, सोमनाथ, नागरीदास, थान कवि, पद्माकर, मधुसूदन दास, मनियार सिंह, नवलसिंह कायस्थ, दीनदयाल गिरि इस काल के अन्य कवि हैं।

आधुनिक काल

समय सम्वत् १९०० से——— इस काल में हिन्दी के अथवा ब्रज भाषा के अनेक उच्च कोटि के कवि हुए यथा—भारतेन्दु, रत्नाकर, श्रीधर पाठक, पं० सत्यनारायण, श्री वियोगी हरि, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय इत्यादि ब्रजवाणी के प्रौढ़ उपासकों के हाथों में पड़कर हिन्दी का रूप पूर्ण परिष्कृत होकर निखर आया। इस बीच में हिन्दी में अनेक उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थों की रचना हुई यथा—उद्धव शतक, गंगावतरण, बुद्ध चरित्र, वीर सतसई, रस कलस, साकेत, प्रिय-प्रवास इत्यादि।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

इनका समय सम्वत् १९०७ से १९४८ तक है। यह आधुनिक काल के प्रौढ़ लेखक थे। भारतेन्दु जी को हम भक्त तो नहीं कह सकते, परन्तु इनकी कृष्ण प्रेम विषयक कविताओं में भक्ति का पुट अवश्य ही परिलक्षित होता है यत्र तत्र उसमें एक प्रेमी कवि के हृदय की पीर पाई जाती है।

ब्रज के लता पात मोहिं कीजै।
गोपी पद पंकज पावन की रज जामें सिर भीजै॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख यह वर मुँह माँग्यो हरि दीजै॥

श्री नवनीतलाल चतुर्वेदी

समय संवत् १९१५ से १९८९ तक है। इनका लिखा हुआ कुब्जा पच्चीसी बहुत प्रसिद्ध है।

प्रेम प्रन प्रान बैठी त्रिपथ त्रिबेनी न्हाय,
पाय पद पूरन प्रवीनता हिये धरी।
"नवनीत" साधे सब साधन सनेह जोग,

जुगत जमाय प्रान ध्यान धारना धरी ॥

मियाँ नजीर अकबराबादी

समय संवत् १७६७..........मृत्यु संवत १८७७। यह एक मनयोगी सूफ़ी भक्त थे। इन्होंने कृष्ण लीला सम्बन्धी बहुत से पद लिखे हैं। नमूना देखिये।

यारो सुनो दधि के लुटैया का बालापन,
श्री मधुपुरी नगर के बा बालापन।
मोहन सरूप नृत्य करैया का बालापन,
बन बन में ग्वाल गौवे चरैया का बालापन।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालापन,
क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालापन ॥

× × ×

परदे में बालापन के ये उनके मिलाप थे।
जीता सरुप कहिए जिनै सो वो आप थे ॥

× × × ×

वाँ कृष्ण मदन मोहन ने जब सब ग्वालों से यह बात कही।
सो आपी से झट गेंद उठा उस काली दह में फैंक दई।
यह लीला है उस नंद लला मन मोहन जसुमत दैया की।
रख ध्यान सुनो दंडवत करो, जय बोलो कृष्ण कन्हैया की

श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय

समय संवत १९२२ से २००४ तक। इन्होंने कृष्ण विषयक कविता की है, परन्तु कृष्ण को केवल एक महापुरुष माना है। उन्हें अवतार रूप में स्वीकार नहीं किया है, अतः इनकी कविता को हम भक्ति काव्य के अन्तर्गत नहीं लेते हैं। कृष्ण विषयक को लेकर इन्होंने 'प्रिय प्रवास' की रचना की है। इनके द्वारा वर्णित राधा कृष्ण का स्वरूप निहारिये।

सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे,
राधे वैसी सदय हृदया विश्व के प्रेम डूबी।

हे विश्वात्मा भरत भुवि के अंक में और आवै,
ऐसी व्यापी विरह घटना किन्तु कोई न होवै ॥
+ + + +
शास्त्रों में है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है।
सो दिव्या है मनुजतन की सर्व संसिद्धियों से।
मैं होती हूँ सुखित यह जो तत्वतः देखती हूँ।
प्यारे की और परम प्रभु की भक्तियों की अभिन्ना ॥

बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर

समय सम्वत् १९२३ से १९८९ तक। इनकी कविता में भी हमें यत्र तत्र कृष्ण भक्ति की झलक मिल जाती है। भागवत से चली आई भ्रमरगीत परम्परा को लेकर इनके द्वारा बनाया हुआ 'उद्धव शतक' हिन्दी वांङ्मय का एक रत्न है। देखिये—

जासों जाति विषय विषद की बिवाइ बेगि,
चोप चिकनाई चित्त चारु गहिबो करै।
कहै रत्नाकर कवित्त बर व्यंजन में,
जासों स्वाद सौगुनों रुचिर रहिबो करै।
जासों जोति जागत अनूप मन मंदिर में,
जड़ता विषम तम तोम दाहिबो करै।
जयति जसोमति के लाड़िले गुपालजन,
रावरि कृपा सों सनेह लहिबो करै।

पं० सत्यनारायण कविरत्न

समय सम्वत् १९४१ से १९७५ तक। इनकी भक्ति विषयक कविता का नमूना देखिये।

तिहारी को पावै प्रभु पार।
विपुल सृष्टि निज नव विचित्र के चित्रकार आधार।
जग में तुम और तुम से जग कासु देव अभिराम।
सकल रंग तन बसत आपके, याही सों घनश्याम।

श्री वियोगी हरि

जन्म सम्वत् १९५३ वर्त्तमान। इनका भी एक पद देखिये।

माधव आज कही किन सांची।
क्यों हम नीचन ते हरि रूठे ऊचन पै मति रांची।
यन्त्रित बज्र कपाटनि गढ़ ए दृढ़ मन्दिर तुम पाए।
बलिहारी रणछोड़ नाथ जू, भले भाजि इत आए।
हम सब कै अघ देखि दुरे हो, चिको मंदिरन मांही।
कै कछु डरति उच्च बासिन को,छुअत न हमरा छांही।

इन कविगणों के अतिरिक्त अनेक कविगण हैं जो यत्रतत्र भक्ति काव्य की रचना किया करते हैं। यथा—पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री० पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्री हरिदयाल, श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी', पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, श्री झलक, पं० हरिशंकर शर्मा, इत्यादि। विस्तार भय से अधिक उदाहरण देना हमारी सामर्थ्य के बाहर है। प० अमृतलाल चतुर्वेदी विरचित 'स्याम सदेसा' का एक उद्धरण देकर अब इस प्रसंग को समाप्त करते हैं।

नाग के नथैया थैया थैया को नचैया दैया,
बांसुरी बजैया गरे गुञ्जहार डारो है।
जसुमति मैया छैया छाछ को छकैया छैल,
गैयन चरैया गोपी ग्वाल मतवारो है।
रास को रचैया छैया अम्बन कदम्ब तरे,
दधि लुटवैया कटि पीत पटवारो है।
वंसीवट बारो न्यारो नन्द को दुलारो प्यारो,
ब्रज रखवारो सोई आसरो हमारो है।

इन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं के फलस्वरूप ही भारतवर्ष के जीवन में आज के विषम वातावरण मे भी सरसता बनी हुई है।

१४ : हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद

रूपरेखा–

१—प्रगतिवाद का अर्थ।

२—प्रगतिवाद की परम्परा।

३—प्रगतिवाद की धारणा।

(क) साहित्य में जीवन का यथार्थ चित्रण।

(ख) समाज के दीन-हीन अङ्ग श्रमिक, कृषक आदि के प्रति सहानुभूति।

(ग) अर्थवाद एवं साम्यवाद का साहित्यिक उच्चार।

(घ) पूंजीवाद और पूंजीपतियों का विरोध।

(ङ) आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकवाद का समर्थन, साहित्य का उद्देश्य।

४—हिन्दी के कतिपय प्रगतिवादी कवि।

५—हिन्दी के प्रगतिवादी काव्य के गुण-दोष।

६—उपसंहार—प्रगतिवाद का भविष्य।

'प्रगति' का सामान्य अर्थ होता है 'उन्नति'। साहित्य की प्रगति का अर्थ होता है साहित्य की उन्नति। जो साहित्य हमें उन्नतिशील बनाने में सहायक हो, 'प्रगतिवादी' साहित्य है। अतएव जहाँ नवीनता है, वहीं प्रगति है। इस दृष्टि से साहित्य सदैव से प्रगतिवादी रहा है। साहित्य के अन्तर्गत जन-हित-साधना के लिए होने वाली रचनाएँ साहित्य की प्रगति की परिचायिका हैं। हमारे विचार से आर्य साहित्य का प्रारम्भ से ही जन-हित-साधना का लक्ष्य रहा है। आदि कवि वाल्मीकि का आदि-श्लोक–

"मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वती समाः
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्"

समाज का एक विराट अङ्ग सदा से दलित और त्रस्त रहा है। दलित और त्रस्त वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करना तथा अत्याचारों के विरुद्ध प्रेरणायें उत्पन्न करना काव्य की एक अति प्राचीन प्रवृत्ति है।

हिन्दी के सन्त कवियों की वाणी दलितों के प्रति तीव्र सहानुभूति से ओत-प्रोत है। कबीरदास की वाणी में समाज-व्यवस्था की विषमता का विरोध स्पष्ट ही दिखाई देता है—

जो बाह्मन तुम बामन जाए, और राह तुम काहे न आए।

भक्तवर तुलसीदास के 'रामचरितमानस' की पृष्ठभूमि में भारतीय जनता की पीड़ा और रुदन हैं। कुटिल, क्रूर, कपटी और कुचाली कलि-काल के दुराचारों के निवारणार्थ ही 'मानस' की रचना हुई थी—

राम-कथा कलि कामद गाई,
सुनत सजीवन-मूरि सुहाई।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने अपनी पुस्तक 'तुलसीदास' में 'मानस' के उक्त तत्त्व को स्वीकार किया है—

"हो रहे आज जो खिन्न-खिन्न
छुट छुट कर दल से भिन्न-भिन्न
यह अकल-कला गह छिन्न, जोड़ेगी
रवि-कर ज्यों बिंदु बिंदु जीवन
संचित कर करता है वर्षण,
लहरा भाव पादप, मर्षण मन मोड़ेगी"

भारतेन्दु युग के लेखकों ने भी साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया था।

सन् १९१० के आस-पास मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' की रचना की और दलित-वर्ग की आवाज़ को साहित्यिक रूप दिया। उन्हीं दिनों प्रेमचन्द ने उर्दू के क्षेत्र को त्याग कर हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में पदार्पण किया और भारतवर्ष के दलित और त्रस्त कृषक समाज का अपने साहित्य में चित्रण किया। हिन्दी साहित्य की इस नवीन प्रवृत्ति 'प्रगतिवाद', का जन्म इसी समय हुआ था, ऐसा समझ लेना चाहिये। भारतीय ग्राम-जीवन का सर्वांगीण चित्रण करने में प्रेमचन्द के समान अन्य कलाकार सफल नहीं हुए हैं। सामन्ती प्रथा के अन्तर्गत किसानों का किस प्रकार शोषण

होता है, इसका चित्र खींचने वाली कहानी 'सवासेर गेहूँ' उदाहरण के रूप में रखी जा सकती है। अपने उपन्यास 'गोदान' में प्रेमचन्द ने 'होरी' के रूप में भारतीय कृषक का अमर प्रतिनिधित्व किया। सन् १९३६ में प्रेमचन्द 'प्रगतिशील लेखक सम्मेलन' के प्रथम सभापति हुये और उन्होंने दलितों के प्रति सहानुभूति रखने वाली सचेत वैज्ञानिक विचार-धारा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया।

सन् १९३६ से यह प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में क्रियाशील है और वर्त्तमान हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख धारा कही जा सकती है। दलितों के प्रति सचेत और संगठित रूप से सहानुभूति की अभिव्यक्ति उसका मुख्य लक्षण अथवा प्रधान गुण है। साहित्य बहुत समय तक शासक-वर्ग और पूंजीपतियों की भावनाओं का चित्रण करता रहा है। दलित वर्ग की भावनाओं का समर्थन तथा पूंजीपतियों और शासक-वर्ग का विरोध इसका सिद्धान्त है। इङ्गलैण्ड के अनुदार-दल के नेता डिज़रेली के स्वर में अपना स्वर मिलाकर आज का प्रगतिवादी साहित्यिक भी यही कहता है कि, "देश एक राष्ट्र नहीं, वरन् दो राष्ट्र हैं", अमीर और गरीब। यथा—

"इस दुनिया में दो दुनिया हैं,
जिसके नाम अमीर गरीब"

—नरेन्द्र, शर्मा

कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रगतिवाद' अब एक पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। वह काव्य को वस्तुवाद की कठोर और कर्कश भूमि पर खड़ा करना चाहता है। शोषित, और पीड़ित मानव उसके काव्य का आलम्बन है। सामन्तशाही और पूंजीवाद से उसका विरोध है। जो लोग इनके इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, उन्हें ये "प्रतिक्रियावादी" कहते हैं।

प्रेमचन्द के बाद इस क्षेत्र में सुमित्रानन्दन पन्त का नाम आता है। पन्त जी सामाजिक व्यथा के प्रति आरम्भ से ही सचेत थे। उनकी नई रचनाएँ 'रूपाभ' पत्रिका में प्रकाशित होती रहती थीं। 'युगवाणी' और

'ग्राम्या' में पन्त जी की नई कविताएँ संग्रहीत हैं। इनमें दलितों के प्रति अनन्य सहानुभूति और करुणा के भाव ओत-प्रोत है। यथा—

"यहाँ न पल्लव वन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों में गुञ्जन,
जीवन का संगी बन रहा,
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन"

ग्राम-युवती का यौवन अकथ परिश्रम के कारण समय के पूर्व ही नष्ट हो जाता है—

रे दो दिन का
उसका यौवन।
सपना दिन का
रहता न स्मरण।
दुःखों से पिस
दुर्दिन में घिस,
जर्जर हो जाता उसका तन।
ढह जाता असमय यौवन अंत।
बह जाता तट का तिनका,
जो लहरों से हँस खेला कुछ क्षण।

जन जीवन की पीड़ा के प्रति यह सहृदयता और करुणा हमें "निराला" जी की नवीन रचनाओं में भी मिलती है। 'कुकुरमुत्ता' 'खजोहारा', 'कुल्ली भाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'निशा-निमन्त्रण', 'बेला, चमेली' विषयगा आदि उनकी इसी सम्बन्ध में लिखी हुई रचनाएँ हैं। वे लिखते हैं—

केश रूखे, अधर सूखे,
पेट भूखे, आज आए।
हीन जीवन, दीन चितवन,
क्षीण आलम्बन बनाए।

तिमिर ने जब घेर कर
तुमको प्रकाश हरा तुम्हारा।
इस धारा के पार खोला
द्वार हति ने विश्वहारा।"

प्रगतिवाद सम्बन्धी रचनाएँ लिखने वालों में 'अंचल', 'दिनकर', भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा, सुमन तथा यशपाल जैन, के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी कविताओं के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुकी है। उसमें नंगे भूखे किसानों के जीवन का हृदय द्रावक ढंग पर चित्रण किया गया है—

'वे भूखे अधखाए किसान,
भर रहे जहाँ सूखी आहें।
नंगे बच्चे चिथड़े पहने,
माताएँ जर्जर डोल रहीं,
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही,
धूल उड़ाती हैं राहें॥'

तथा—

चरमर चरमर चूं चरर मरर
जा रही चली भैंसा गाड़ी।

\+ + + +

नर पशु बन कर पिस रहे जहाँ,
नारियाँ जन रहीं हैं गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना,
बस इन लोगों का एक काम।"

'अंचल' ने सर्वप्रथम छायावाद का विरोध किया था। वे साम्यवाद के कट्टर पक्षपाती हैं। उनकी कविता 'सर्वहारा' में श्रमिकों एवं कृषकों का करुणापूर्ण वर्णन किया गया है—

गाज गिरी श्रमिकों के सुख पर फूली धन सत्ता इतराती।
फाड़ गया हो जैसे कोइ फोड़ों से धुँधुआती है छाती॥
दिन भर प्राण जलाते धू-धू ये पशु से जघन्य कृश जर्जर।
सन्ध्या को ले चुसी हड्डियाँ आते भिखमंगों से कातर॥
ये भी निशि में सुख से सोते पाते अगर पेट भर दाना।
किन्तु इन्हें तो कफन न मिलता, इन्हें कठिन भी तो मरजाना॥

'अंचल' की भाँति 'दिनकर' भी साम्यवादी भावनाओं से ओत-प्रोत हैं और शोषितों एवं पीड़ितों की दशा पर आँसू बहाते हैं। उनके द्वारा लिखे गए पूँजीपतियों और श्रमिक के जीवनों का तुलनात्मक किन्तु मार्मिक चित्र देखिए—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक चिल्लाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती के लज्जा वसन बेंच जब व्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥

इसी प्रकार उदयशंकर भट्ट के एक मज़दूर का कारुणिक स्वरूप देखिये—

मेरा बरसात आँसू है मेरा बसन्त पीला शरीर।
गरमी झरनों सा स्वेद ओत मेरे साथी दुख दर्द पीर॥
दिन उनको मुझको रात मिली श्रम मुझे उन्हें आराम मिला
बलि दे देने को प्राण मिले हन्टर को सूखा चाम मिला॥

हिन्दी के प्रगतिवाद पर रूस के साम्यवाद की गहरी छाप है। 'प्रगतिवाद' ने रूसी साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है। आज का प्रगतिवादी कवि साम्यवाद द्वारा प्रतिपादित रूसी समाज-व्यवस्था को आदर्श मानता है। लाल सेना के गीत गाना तथा समाज व्यवस्था का स्तवन करना उसका एक आवश्यक अंग बन गया है—

जहाँ लहलहाती खेती पर कारिन्दे मँडराते ना।
सजी रास की ढेरी पर लालाजी घात लगाते ना॥
व्याज चुकाते ही न जवानी गई कसील जवानों की।

लाल रूस का दुश्मन साथी सब इन्सानों की ॥

इस प्रकार 'प्रगतिवाद' दलित वर्ग का समर्थक, साम्यवाद का पोषक, पूँजीपति का विरोधी तथा वर्गहीन-समाज की स्थापना का इच्छुक है। संक्षेप में वह मार्क्सवाद का साहित्यिक उन्नायक कहा जा सकता है अपने पक्ष की समर्थन ध्वनि में वह 'यथार्थ-वर्णन' पर ध्यानावस्थित होकर आदर्श से विमुख हो गया है। जैसे —

युद्ध पथ पर लड़खड़ाता हाँफता
हर चरण पर भीति से बिजली सरीखा काँपता
तोड़ने आतुर हुआ यह क्षुद्र बन्धन
आज कर पीले नयन में ज्योति का धुंधला सपन।
जल रहीं प्राचीनताएँ आँज छाती पर मरण का एक क्षण।
इस अँधेरे की पुरानी ओढ़नी को बेधकर
आरही ऊपर नए युग की किरण'

सुमन जी की रचना का तो शीर्षक ही यह है 'मास्को अभी दूर है'

इस वर्णन मे तथ्य का निरूपण तो हुआ है परन्तु यह नहीं बताया गया है कि इसका उपाय क्या है। यदि हम सड़क पर पड़े हुए एक अपाहिज व्यक्ति की करुण दशा का वर्णन भर करके रह जाते हैं और यह नहीं बताते कि हमारा कर्तव्य उसे सहारा देकर अस्पताल तक पहुँचा देना भी है, तो हमारा वर्णन किस काम का ? जो साहित्य हमें उत्साहित करके कार्य में प्रवृत्त न कर सके, वह साहित्य क्यों कर 'प्रगति' का सहायक हो सकेगा ? साहित्य का उद्देश्य 'क्या और कैसा है' का वर्णन मात्र करना नहीं, अपितु यह बताना है कि 'क्या और किस प्रकार होना चाहिये।' बिना इसके वह अपना नाम साहित्य—'हित के भाव सहित'—को कैसे सार्थक कर सकेगा ? गोस्वामी तुलसीदास केवल रावण के अत्याचारों का वर्णन करके ही चुप नहीं होगये ; उन्होंने राम के द्वारा उसके विनाश का भी वर्णन किया। इसी कारण वे अमर कवि बने और उनका काव्य 'रामचरित मानस' सिद्ध काव्य की उपाधि से विभूषित हुआ।

'प्रगतिवाद' के अन्तर्गत हमें एक अन्य प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। और वह है 'कामुकता' अथवा 'काम-वासना'। साहित्य की इस प्रवृत्ति का मूल कारण है यथार्थ वर्णन अथवा समाज का नग्न-वर्णन करने का प्रेम। उस के ऊपर है फ्राइड के 'काम-सिद्धान्त' का चमकीला रंग। प्रगतिवादी साहित्य मे मा और पुत्र, पिता और पुत्री, भाई और बहिन, सबके प्रेम के मूल में 'योनि-भावना' ठहराता है। उनके विचार मे प्रत्येक मन विकृत मन है। समाज के कामुकता पूर्ण भ्रष्ट जीवन का यथार्थ वर्णन करना वह अपना कर्तव्य समझता है। एक नमूना देखिये—

अब तुमसे भला छिपाऊँ क्या मैंने कितने ही प्यार किये।

\+ \+ ×

मैं अन्य यहाँ रचकर सँजोग, तुम अन्य अगर अभिसार मिले॥

इस वर्णन में यह दिखलाया गया है कि विवाह के बाद प्रथम मिलन के समय पति अपना पत्नी के सम्मुख अपने पिछले कुकृत्यों को स्वीकार करता है—पश्चाताप के रूप में नहीं, किन्तु गौरव-पूर्ण अतीत गाथा के रूप में। इतना हा नहीं वह भविष्य के लिए स्वयं लाइसेन्स ले लेता है और पत्नी को भी उन्मुक्त रूप से काम-तुष्टि के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर देता है। हमारे विचार से उक्त-उपर्युक्त वर्णन जन-जीवन के लिये अहितकर होने के अतिरिक्त अस्वाभाविक एवं अवांछनीय भी है। फिर भी प्रगतिवादी है।

प्रगतिवादी मूलतः वर्गहीन समाज के पक्ष के हैं, परन्तु व्यवहार में वह वर्ग-विग्रह का हेतु बन गया है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है, 'प्रगतिवाद' की उद्भावना हुई थी समाज का दलित एवं उपेक्षित अंग की ओर ध्यान आकृष्ट करके उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न करनेके लिये परन्तु परिणाम यह हुआ है कि प्रगतिवाद ने जहाँ कृषक एवं श्रमिक-वर्ग के प्रति सहानुभूति एवं करुणा के भाव प्रदर्शित किया, वहाँ दूसरी ओर वह पूँजीपतियों एवं समाज के समस्त अंग का विरोधी बन गया। प्रेम-भाव की स्थापना करने की बजाय वह घृणा के प्रचार का साधन बन गया। उसने एक अंग को अपनाया, परन्तु दूसरे अंग का विरोधी बन गया। वह भूल

गया कि रोटी और अर्थ ही मनुष्य जीवन के लिये सब कुछ नहीं है। साधन के फेर में वह साध्य को विस्मृत कर बैठा है। प्रगतिवादी निकला था सहानुभूति और प्रेम के प्रचार द्वारा पारस्परिक भेद-भाव को मिटाने के लिये परन्तु प्रमादवश प्रवृत्त हो गया घृणा के प्रचार द्वारा रक्त-क्रान्ति का जयघोष करने में। प्रगतिवादी साहित्य आज मजदूरों के राज्य को स्थापित करने का अस्त्र-मात्र बन कर रह गया है। उनमें तीव्र अनुभूति की व्यंजना का सर्वथा अभाव है। यथा—

> आत्म निर्भरता, अमिट विश्वास, अद्भुत धैर्य से,
> संसार के शोषित दलित, वंचित, दुखी जमकर
> बगावत के लिये तैयार हैं,
> प्रत्येक के मजबूत हाथों में नुकीले, तेज नव हथियार हैं।

'प्रगतिवाद' रूढ़िग्रस्त हो गया है। शोषित-वर्ग के प्रति उसकी सहानुभूति प्रायः बौद्धिक ही है। वह बहुत कुछ फैशन की चीज बन गया है। 'प्रगतिवाद' सम्बन्धी रचनाएँ लिखने वाले अधिकांश कविगण यदि पूँजीपति नहीं तो दलित, श्रमिक अथवा कृषक भी नहीं हैं। उनमें अधिकांश का जीवन विलासमय तथा ठाठ बाट से पूर्ण है। वे अपने ड्राइंग रूम में आरामकुर्सी पर लेट कर कविता करते हैं। वे क्या जानें कि दीनों की दुनियाँ कहाँ और कैसी है। वास्तविक अनुभूति के अभाव में उनकी वाणी में अपेक्षित बल और शक्ति नहीं है। इनकी अधिकांश रचनाएँ प्रकाश में आने के पूर्व ही बीती हुई बातें बन जाती हैं।

हर्ष का विषय है कि हिन्दी के कविगण अब इस ओर सजग हो गये हैं। ये अब यथार्थ के साथ आदर्श को समन्वय करने की ओर अग्रसर हो चले हैं। साहित्यकार जीवन की वास्तविकताओं का यथार्थ चित्रण भले ही करें, परन्तु कुरूपता और अश्लीलता से उसे सदैव दूर रहना चाहिये। साहित्य का उद्देश्य घृणा का प्रचार करना नहीं, प्रेम का उत्कर्ष प्रदर्शित करना है। यदि निम्न श्रेणी एवं दलित वर्ग के व्यक्तियों में भी मानवता के दर्शन हो सकते हैं, तो उच्च वर्ग के व्यक्ति भी उच्च भावनाओं के अधिकारी हो सकते हैं। श्रेष्ठ काव्य का लक्षण ही यह है

कि 'सुरसरि के समान सबका हित-साधन करें'। यही सच्ची 'प्रगति' है। इस अर्थ में हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य का भविष्य सर्वथा समुज्ज्वल है।

---

१५ : हिन्दी साहित्य में नाटकों का विकास

रूपरेखा—

१—हिन्दी में नाटकों की कमी।

२—हिन्दी में नाटकों का प्रारम्भ।

३—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा नाटकों का प्रवर्त्तन।

४— (अ) मौलिक तथा (आ) अनूदित नाटक।

५—एकांकी नाटकों का प्रचार

६—वर्त्तमान नाटकों की मुख्य प्रवृत्तियाँ।

उपसंहार—हिन्दी साहित्य के नाटकों का भविष्य।

प्राचीन एवं सर्वप्रचलित कथानकों के अनुकरण पर भारतवर्ष में नाटकों की रचना प्रारम्भ हुई। भरतमुनिकृत 'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत नाट्य साहित्य को पूर्ण रूपेण शास्त्रीय रूप प्रदान कर दिया गया था। यथा—

सर्व शास्त्रार्थ सम्पन्नं सर्व शिल्प प्रवर्त्तकम्।
नाट्याख्यं पंचमं वेदं से निहासं करोम्यहम्॥

(नाट्यशास्त्र १।१५)

वेद मूलक होने के कारण भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' की यहाँ तक प्रशंसा कर डाली कि 'संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो नाट्य साहित्य में प्रदर्शित नहीं की जा सकती है।' यथा—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

(नाट्यशास्त्र १।१०९)

संस्कृत साहित्य में कालीदास, भवभूति, विशाखदत्त, शूद्रक, राजशेखर आदि नाटककारों ने अत्यन्त मनोरंजक एवं पूर्णतया व्यवस्थित अनेकों नाटकों की रचना की, और यह क्रम दसवीं शती तक चलता रहा। इस बीच में उच्चकोटि के नाटकों की भरमार सी रही।

संस्कृत-साहित्य में नाटक-सम्बन्धी विपुल सम्पत्ति होते हुए भी उसकी उत्तराधिकारिणी हिन्दी में नाटकों की रचना बहुत पीछे प्रारम्भ हुई। इसका कारण हिन्दी का जीवन-इतिहास है। जिस समय हिन्दी का जन्म हुआ, उस समय सारे देश में मार-काट और युद्ध छाये हुए थे। यवनों के आक्रमण हो रहे थे, देवालय गिराये जा रहे थे, शहर लूटे जा रहे थे तथा सबको अपने-अपने प्राणों की पड़ी हुई थी। ऐसे समय में नाटकों और रङ्गमञ्च आदि की चर्चा कौन करता? बाद में मुगल-शासन की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद देश में शान्ति अवश्य स्थापित हो गई थी, परन्तु नाट्य-कला मुसलमानों की संस्कृति और सभ्यता के विरुद्ध ठहरती है। 'अवस्थानुकृतं नाट्यम्' के अनुसार नाटक की आत्मा अनुकरण है और मुसलमान मूर्तिपूजा तक के कट्टर विरोधी थे, और फिर उन दिनों हिन्दुओं के जीवन में न कोई आशा ही शेष थी और न किसी प्रकार का उत्साह ही रह गया था। उनकी आँखें केवल भगवान् के दर्शन की प्यासी थी।

हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' है। इसकी रचना अनुमानतः सन् १७००' में हुई थी। इसे रीवां नरेश महाराज विश्वेश्वरजू ने लिखा था।

वैसे तो नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है, परन्तु उनसे पहिले भी कुछ नाटक लिखे जा चुके थे। ये नाटक दो रूपों में हैं—अनुवादक तथा मौलिक। अनुवादित नाटकों में महाराज राजसिंहकृत 'प्रबोध चन्द्रोदय', हृदयराम कृत 'हनुमान्नाटक' तथा राजा लक्ष्मणसिंह कृत 'शकुन्तला' नाटकों के नाम उल्लेखनीय हैं। मौलिक नाटकों में देव कृत 'देव-माया-प्रपंच', ब्रजबासी दास कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय', बनारसीदास जैन का 'समयसार' तथा भारतेन्दु के पिता गिरधरदास कृत 'नहुष' के नाम

आते हैं। 'देव-माया प्रपंच' तथा 'समय सार' वास्तव में आध्यात्मिकता-सम्बन्धी काव्य-ग्रन्थ हैं, जिन्हें नाटकों का रूप दे दिया गया था। उपर्युक्त नाटकों में छन्द का प्राधान्य था और उनमें नाटकीय तत्वों का भली प्रकार पालन नहीं हुआ है। पात्रों के प्रवेश आदि नियमों का पालन करते हुए सबसे पहिला नाटक 'नहुष' है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को नाटक-रचना की प्रेरणा बंगाली साहित्य से प्राप्त हुई था। संवत् १६ २ में ये सकुटुम्ब जगन्नाथ जी गए थे। इस यात्रा में इन्हें बंग साहित्य की उन्नतिशील स्थिति से परिचित होने का अवसर मिला और इन्होंने नये ढङ्ग के बंगाली नाटकों को रंगमंच पर देखा। संवत् १६२५ में भारतेन्दु ने अपना सर्वप्रथम नाटक 'विद्यासुन्दर' लिखा। यह एक बंगाली नाटक का अनुवाद है। इसके अतिरिक्त विधवा-विवाह आदिक समाज सुधार की बातों से भी ये सर्वप्रथम यहीं परिचित हुए थे। बस नाटकों की रचना का क्रम चल पड़ा। भारतेन्दु ने नाटकों के अनुवाद भी किए और मौलिक नाटक भी लिखे। इनके लिखे हुए १४ नाटक हैं। जो इस प्रकार हैं—

(क) अनुवादित—(१) विद्या-सुन्दर (२) पाखण्ड विडम्बन (३) धनंजय विजय (४) कर्पूर मञ्जरी तथा (५) मुद्राराक्षस।

(ख) मौलिक—(१) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (प्रहसन), (२) सत्य हरिश्चन्द्र (नाटक), (३) श्री चन्द्रावली (नाटिका) विषस्य विषमौषधम् (भाण), (५) भारत दुर्दशा (नाट्यरासक), (६) नीलदेवी (गीतिरूपक) तथा (७) अंधेर नगरी (प्रहसन)।

इनके अतिरिक्त इनके अपूर्ण नाटक मिलते हैं—(१) प्रेम जोगिनी तथा (२) सती प्रताप। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाट्य-रचना से सम्बन्धित 'नाटक' नामक एक निबन्ध भी लिखा था, जो उस समय सर्वथा नई चीज़ थी। इसमें नाटक के भेद, नाटक-रचना, अर्थ प्रतिकृति (Scences), वृत्ति आदि अनेक बातों की विशद चर्चा है।

इनके 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'मुद्राराक्षस', 'नील देवी', 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी', तथा 'चन्द्रावली' नामक नाटक उनके जीवन-काल में सफलता पूर्वक खेले भी गये थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों का उस समय के अन्य लेखकों पर भी प्रभाव पड़ा और अनेक लेखक नाट्य रचना की ओर प्रवृत्त हुये। उस समय के मुख्य नाटककारों तथा उनकी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—(१) बाबू तोताराम (केटो कृतान्त, एडासन के एक अंग्रेजी नाटक का अनुवाद), (२) लाला श्री निवासदास (तप्ता संवरण, रणधीर-प्रेम मोहिनी तथा संयोगिता स्वयंवर), (३) बाबू बदरीनारायण चौधरी (भारत-सौभाग्य, और बाराङ्गना रहस्य, (४) बाबू गोकुलचन्द (बूढ़े मुँह मुँहासे लोग चले तमासे), (५) प० प्रतापनारायण मिश्र (गो-संकट), (६) राधाकृष्ण दास (महाराणा प्रतापसिंह, दुखिनी बाला तथा पद्मावती), (७) अम्बिकादत्त व्यास (ललिता नाटिका वेणी संहार), (८) गदाधर भट्ट (मृच्छकटिक)।

भारतेन्दु के नाटकों पर भारतीय और अंग्रेजी दोनों ही प्रभाव पाए जाते हैं। इन्होंने नाट्य-रचना-सम्बन्धी भारतीय ग्रन्थ पढ़े थे तथा बंगला रंगमंच पर नाटकों का प्रदर्शन देखा था। कहना न होगा कि बंगला नाटकों पर विलायती शैली का अत्यधिक प्रभाव था। दोनों शैलियों के मध्य का मार्ग ग्रहण करना भारतेन्दु की अपनी विशेषता थी।

भारतेन्दु युग के नाटकों के विकास-क्रम में दो मुख्य प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। एक तो जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे दैवी पात्रों, देवता, राक्षस, गन्धर्व आदि पात्रों की संख्या में कमी होती गई अर्थात् नाटक मानव-जीवन के अधिक निकट आते गए। अपौरुषेय चमत्कार का भावचमत्कार एवं बुद्धि-विवेक क्रमशः स्थान लेते गए। दूसरी बात यह हुई कि नाटकों के पद्य के स्थान पर क्रमशः गद्य का प्रयोग होता गया। यह प्रवृत्ति भी नाटकों का मनुष्य-जीवन के साथ सम्पर्क स्थापित करने में सहायक हुई।

नाटकों से पद्य का प्रभाव दूर करने में द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के हिन्दी अनुवादों ने विशेष सहायता की। पं० रामनारायण पाण्डेय ने द्विजेन्द्रलाल राय के अनेक नाटकों के हिन्दी में सफल अनुवाद किए। कहने का अभिप्राय यह है कि भारतेन्दु के बाद हिन्दी-नाटक-रचना पर बंगाली के नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय का गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दी के नाटक-

कार उनके नाटकों की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुये और उसके अनेक नाटकों के हिन्दी में अनुवाद भी किए गए तथा उनकी शैली के अनुकरण पर हिन्दी में अनेक मौलिक नाटक भी लिखे गए। इन नाटकों में अंतर्द्वन्द्व की प्रधानता रहती थी और भावुकता को चरम कोटि तक पहुँचा दिया जाता था। सारांश यह है कि बंगला की देखा-देखी प्रारम्भ से ही हिन्दी के नाटकों की रचना पाश्चात्य शैली पर हुई। संस्कृत नाटकों की शैली के नांदी, प्रस्तावना, विस्कम्भक, गर्भाङ्क आदि का शुरू से ही कोई महत्त्व न रहा।

भारतेन्दु के समय में धूम-धाम के साथ प्रारम्भ की हुई नाटकों की परम्परा एकदम शिथिल पड़ गई। बंगला के नाटकों के अनुवाद द्वारा ही यह सिलसिला चलता रहा। इस शैथिल्य के दो विशेष कारण थे। एक तो उन दिनों लोगों की रुचि उपन्यासों की ओर बढ़ चली थी और दूसरे अभिनय शालाओं अथवा रंगमंच की कमी थी। नाटकों का आकर्षण अभिनय अथवा साक्षात् प्रदर्शन में है। उसके अभाव में नाटकों की ओर से उदासीनता आ जाना स्वाभाविक ही था। एक और बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन दिनों केवल व्यवसायी पारसी कम्पनियाँ ही नाटक खेला करती थीं, वे उर्दू भाषा की प्रेमी थीं। ऐसी दशा में हिन्दी नाटकों के प्रति हिन्दी-प्रेमियों में कोई उत्साह ही न रह गया था।

इस प्रकार 'द्विवेदी युग' में अर्थात् 'हरिश्चन्द्र युग' और वर्तमान युग के बीच में मौलिक नाटकों का रचना-क्रम रुक सा गया। लेखकों ने प्रायः संस्कृत, बङ्गला और अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद ही किए। बंगाली नाटकों का अनुवाद करने वालों में पं० रूपनारायण पाण्डेय का उल्लेख हो ही चुका है। इनके अतिरिक्त बाबू रामकृष्ण वर्मा ने बंगभाषा के नाटक 'वीर नारी', 'पद्मावती', 'कृष्णाकुमारी' का अनुवाद किया। पं० रूपनारायण पांडेय ने द्विजेन्द्रलाल राय के अतिरिक्त गिरीशचन्द्र घोष द्वारा विरचित बंगला नाटकों का भी अनुवाद किया। संस्कृत नाटकों के अनुवाद करने वालों में पंडित सत्यनारायण कविरत्न तथा लाला सीताराम बी० ए० के नाम आते हैं। पं० सत्यनारायण कविरत्न ने महाकवि भवभूति कृत 'उत्तर

रामचरित' और 'मालती माधव' के बहुत ही सुन्दर और सरल अनुवाद किये, जिनमें मौलिकता का आभास आता है। इन अनुवादों के पद्यांश ब्रज भाषा में हैं। अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद करने वालों में लाला सीताराम बी० ए०, बाबू गङ्गाप्रसाद एम० ए०, तथा मुंशी प्रेमचन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। बाबू गङ्गाप्रसाद ने शेक्सपीयर के कई नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया; मुंशी प्रेमचन्द ने अंग्रेजी नाटककार गाल्सवर्दी के कई नाटकों का किया।

इनके अतिरिक्त कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गए। ये प्रायः सभी धार्मिक थे। इन नाटकों में कथावाचक राधेश्याम के 'श्रीकृष्ण अवतार', 'रुक्मिणी मङ्गल' तथा 'वीर अभिमन्यु' और बाबू नारायणप्रसाद 'बेताब' के नाटक 'रामायण' और 'महाभारत' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाबू हरिकृष्ण जौहर ने कई सामाजिक नाटक लिखे, जो काफी अच्छे हैं। कृष्णचन्द्र के नाटकों में राजनीति का पुट है। जयरामदास ने कुछ सामाजिक नाटक लिखे। यद्यपि ये नाटक साहित्यिक कोटि में नहीं आते हैं, तथापि इनके द्वारा सबसे बड़ा यह लाभ हुआ कि हिन्दी को रंगमंच पर स्थान मिल गया तथा नाटकों में उर्दू का बोलबाला अथवा एकछत्र साम्राज्य न रहा।

आधुनिक काल के नाटककारों में जयशङ्करप्रसाद का स्थान बहुत ऊँचा है। इन्होंने हिन्दी में नाटकों के नवीन युग का मानों प्रवर्त्तन ही कर दिया। साहित्यिक दृष्टि से 'प्रसाद' का कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने १६ नाटकों की रचना की, जिनके नाम रचना-काल के क्रमानुसार इस प्रकार हैं—सज्जन, कल्याणी परिणय, करुणालय, प्रायश्चित्त, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजयका नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य, एक घूँट, चन्द्रगुप्त तथा ध्रुव स्वामिनी। इनमें 'सज्जन', 'प्रायश्चित्त', 'कल्याणी' 'परिणय' तथा 'करुणालय' चार एकांकी रूपक हैं।

जयशङ्करप्रसाद के प्रायः सभी नाटक ऐतिहासिक हैं और उन पर बुद्धकालीन वातावरण की स्पष्ट छाप है। 'प्रसाद' के नाटकों में उनके गंभीर अध्ययन एवं पांडित्य की छाप है। जिस प्रकार द्विजेन्द्रलाल राय ने मुगलकालीन भारत का चित्र उपस्थित किया है, उसी प्रकार प्रसाद भारतीय

गौरव गाथा-गान में विशेष समर्थ हुये हैं। बाबू गुलाबराय के शब्दों में 'अन्य नाटककारों ने हिन्दुओं के जात्याभिमान तथा मुसलमानों से लोहा लेने की बात का वर्णन किया है, प्रसाद ने हिन्दुओं की सभ्यता एवं नैतिक श्रेष्ठता दिखलाने का प्रयत्न किया है। उनके नाटकों को पढ़कर यह प्रतीत होने लगता है कि प्राचीन-काल में भी आज कल की सी व्यवस्था थी।" प्रसाद के नाटकों की भाषा संस्कृत गर्भित क्लिष्ट हिन्दी है। उनके नाटकों के अभिनय के लिए विशेष प्रकार का रंगमंच चाहिए। प्रस्तुत रंगमंच पर वे अभिनय करने योग्य नहीं हैं।

'प्रसाद' के बाद हरिकृष्ण 'प्रेमी' जी तथा सेठ गोविन्द दास के नाम विशेषकर उल्लेखनीय हैं। 'प्रेमी' जी ने अपना क्षेत्र मुसलमान-काल से चुना है। इनके 'रक्षा-बन्धन' तथा 'स्वप्न-भंग', ये दो नाटक साहित्यिक दृष्टि से भी उच्चकोटि के हैं और साथ ही रंगमञ्च की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। सेठ गोविन्ददास ने 'उषा', 'हर्ष', 'कर्त्तव्य', 'प्रकाश', 'नवरस', 'कुलीनता', आदि कई नाटक लिखे हैं। सेठ जी ने 'चतुष्पथ' नामक एक संवादात्मक नाटक (monologue) का संग्रह किया है। ऐसे नाटकों में केवल एक ही पात्र रहता है। सेठ जी ने 'स्नेह या स्वर्ग' नाम का एक छोटा सा नाटक सतुकान्त पद्य में लिखा है। यह यूनानी कथा का भारतीय अनुकरण है।

हिन्दी के अन्य मुख्य आधुनिक नाटककार तथा उनके मुख्य नाटक इस प्रकार हैं—लक्ष्मीनारायण मिश्र (राजयोग, राक्षस का मन्दिर, सन्यासी, सिन्दूर की होली, गरुड़ध्वज), जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' (प्रताप-प्रतिज्ञा) माखनलाल चतुर्वेदी (कृष्णार्जुन युद्ध), सुमित्रानन्दन पन्त (वरमाला, अंगूर की बेटी, ज्योत्सना), रामनरेश त्रिपाठी (जयन्त), वृन्दावन लाल वर्मा (हँस मयूर), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (जय पराजय, स्वर्ग की झलक), उदयशंकर भट्ट (सगर विजय, अम्बा, दाहर, विक्रमादित्य, विश्वामित्र), सुदर्शन (अंजना-भाग्यचक्र), भगवती प्रसाद बाजपेयी (छलना) आदि। हास्यरस का पुट देकर नाटक लिखने वालों में बदरीनाथ भट्ट और जी० पी० श्रीवास्तव के नाम उल्लेखनीय हैं। जी० पी० श्रीवास्तव के

नाटकों में साहित्यिक हास्य की अपेक्षा धौल धप्प के हास्यमय दृश्यों का प्राधान्य है। 'सुदर्शन' ने भी 'ऑनरेरी मजिस्ट्रेट' नाम का एक प्रहसन लिखा है। अधिकांश नाटकों पर आधुनिकता की छाप है; उनमें किसी न किसी वर्त्तमान समस्या को स्पष्ट करने के प्रयत्न किये गए हैं।

अभी हाल में महाकवि 'भास' के कुछ नाटकों के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। यथा—'पञ्चरात्र', 'अभिषेक', 'प्रतिमा', 'स्वप्नवासवदत्ता' तथा 'वध्यशिला'।

जीवन की जटिलता के कारण आजकल प्रायः समय की कमी रहती है। आजकल का सामाजिक न्यूनतम समय में अधिकतम कार्य करना तथा मनोरंजन करना चाहता है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप एकांकी नाटकों का आविर्भाव हुआ था। इधर कुछ दिनों से हिंदी में एकांकी नाटकों का लिखना प्रारम्भ हो गया है। प्रसाद के 'सज्जन', प्रायश्चित्त', 'कल्याणी-परिचय' तथा 'करुणालय' ये चार रचनाएँ इस दिशा में सफल प्रयास थीं। आजकल हिंदी के कई साहित्यिक एकांकी नाटक लिख रहे हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने कई एकांकी नाटक लिखे हैं। इन नाटकों के चार संग्रह—रेशमी टाई, चारुमित्रा, सप्त किरण, सही रास्ता—प्रकाशित हो चुके हैं। 'पृथ्वीराज की आँखें' नाम का प्रसिद्ध एकांकी नाटक इन्हीं का लिखा हुआ है। वर्मा जी के अतिरिक्त भुवनेश्वरप्रसाद ने कई एकांकी नाटक लिखे हैं। 'कारवाँ' में उनके नाटकों का संग्रह है। इनके अतिरिक्त प्रमुख एकांकी नाटककारों में भगवतीचरण वर्मा (सबसे बड़ा आदमी), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (देवताओं की छाया), धर्मप्रकाश आनन्द, सेठ गोविन्ददास, तथा गणेशशङ्कर द्विवेदी के नाम उल्लेखनीय हैं।

एकांकी नाटकों के सम्बन्ध में तीन चार बातें समझ लेनी चाहिये। एकांकी नाटकों की रचना की प्रेरणा हिन्दी को अंग्रेजी से प्राप्त हुई है तथा उनके विषय सामाजिक हैं। उनमें कहानी की भाँति जीवन के एक अंग की केवल एक झलक ही दिखाई जा सकती है। एकांकी नाटक में नाटक की अपेक्षा रस एवं कवित्व की उद्भावना अधिक सफलता पूर्वक की

जा सकती है। एकांकी नाटक की रचना का कौशल घटनाओं की संख्या को कम कर देने में नहीं अपितु उनके सफल प्रतिपादन में है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी के वर्तमान नाटकों पर अँग्रेजी का बहुत बड़ा प्रभाव है। हमारे नाटककार प्रायः इब्सन और जौर्ज बर्नार्ड शॉ से प्रभावित हैं। उन पर पाश्चात्य यथार्थवाद का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। परिणामस्वरूप हिन्दी में दुःखांत नाटकों की रचना होने लगी है तथा उनमें कहीं-कहीं समाज के कुत्सित एवं बीभत्स चित्र भी उपस्थित कर दिये जाते हैं। हमारे विचार में यह बात अच्छी नहीं है। सुख और दुःख दोनों का चित्रण कर के समाज का सम्यक दर्शन अवश्य कराया जाये, परन्तु सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से सुख और दुःख का प्रतिघात करते हुए उसका अवसान आनन्द में ही किया जाना चाहिये। संक्षेप में हिन्दी के वर्त्तमान नाटकों की मुख्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं (१)-वे आकार में अपेक्षाकृत छोटे हो गए हैं। लोग एकांकी नाटकों को अधिक पसन्द करने लगे हैं। (२) वे प्रायः समाज की वर्तमान स्थिति से ही सम्बन्ध रखते हैं। (३) उनमें यथार्थवाद अथवा वस्तुवाद (Realism) का प्राधान्य रहता है। (४) वर्तमान नाटक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर विशेष बल देते हैं। (५) उनमें रंगमच के संकेतों का बाहुल्य रहता है यहाँ तक कि मेज़ कुर्सी आदि के रखने तथा तसवीर फिट करने के स्थानों का भी निर्देश कर दिया जाता है। (६) इनमें घात-प्रतिघात की प्रधानता रहती है। (७) हिंदी नाटक अँग्रेज़ी की शैली पर अपना रूप स्थिर कर रहे हैं, संस्कृत के नाटकों के आधार पर नहीं।

हिंदी के नाटकों के लिये अभी भी रंगमंच का अभाव है। जो कमी आरम्भ में भारतेन्दु के समय में थी, वह अब भी बनी हुई है। हर्ष का विषय है कि अब साहित्य-समितियों द्वारा नाटक खेलने के यथासमय आयोजन होते रहते हैं और शिष्ट-समाज का ध्यान इस ओर हो चला है। रेडियो पर भी नाटकों का प्रचलन बढ़ चला है। आकाश-वाणी द्वारा एकांकी नाटक प्रायः विस्तारित होते रहते हैं। वर्तमान गतिविधि के अनुसार नाटक की उत्तमता का मापदण्ड कथावस्तु का पेचीदापन नहीं रहा

है; अब अपेक्षित है मानवीय प्रकृति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन। हिन्दी के नाटककार इस ओर प्रयत्नशील हैं। अतः हम निस्संकोच कह सकते हैं कि हिन्दी के नाट्य-साहित्य का भविष्य सर्वथा समुज्ज्वल है।

१६ : ब्रजभाषा में सतसई की परम्परा

रूपरेखा—

१—सतसई-परिचय।

२—सतसई-मुक्तक काव्य का एक अंग।

३—सतसई-परम्परा और उनके लोकप्रिय होने का कारण।

४—हिन्दी की सतसई-परम्परा विहारी से प्रारम्भ हुई।

५—सतसइयों के दो भेद—नीति और शृङ्गार।

६—प्रत्येक प्रकार की सतसइयों का संक्षिप्त परिचय।

७—उपसंहार—इस प्रकार के काव्य की जीवन के लिए उपयोगिता।

सतसई के सम्बन्ध में चार बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। (१) वे मुक्तक काव्य हैं। (२) उनकी परम्परा 'प्राकृत' से प्रारम्भ हुई थी। (३) इनकी रचना दोहा छन्द में हुई है तथा (४) इनमें छन्दों (दोहों) की सात सौ पर बल दिया गया है।

रचना शैली के विचार से काव्य दो प्रकार का होता है। प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध काव्य में एक आदर्श रख कर किसी लोक प्रचलित कथा के आधार पर एक कथा लिखी जाती है और उसमें जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित घटनाओं का समावेश रहता है। उसके छन्दों में पूर्वापर सम्बन्ध रहना अनिवार्य है। प्रबन्ध का समस्त सौन्दर्य प्रबन्ध कल्पना पर अवलम्बित रहता है। प्रसंग का थोड़ा-सा भी अनौचित्य उसकी रस सिद्धि में व्याघात कर देता है।

मुक्तक काव्य में प्रत्येक पद्य का पृथक अस्तित्व है और वह स्वयं पूर्ण रहता है। मुक्तक के छन्द स्वतन्त्र रूप से अपने समस्त भावों को बिना किसी

बाहरी सहायता के व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ रहते हैं। इस सम्बन्ध में आनन्दवद्ध न का मत उल्लेखनीय है।

"पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्"
—(ध्वन्यालोक)

अर्थात् पूर्वापर प्रसंग के लिए और पद्यों का सहारा न होने पर भी जिसमें रस की अभिव्यक्ति हो जाए उसे मुक्तक कहते हैं।

'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।' हमारे विचार से मुक्तक के अन्तर्गत भाव, विभाव, अनुभाव वाले भरतमुनि के सूत्र के आधार पर 'रस सिद्धि' अत्यन्त कठिन है। उक्ति वैचित्र्य अथवा वाग्वैदग्ध्य द्वारा भी मुक्तक का सौन्दर्य साधन हो जाता है।

मुक्तक में पूर्वापर प्रसंग की कल्पना का कार्य सहृदय पाठक पर छोड़ दिया जाता है। मुक्तक का आनन्द लेने के लिए श्रोता या पाठक को स्वयं ही सम्पूर्ण प्रसंग का अध्याहार करना पड़ता है। मुक्तक के स्निग्ध छींटों के कारण हृदयकलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।' सभा समाज की शोभा के लिए वनस्थली का आयोजन नहीं किया जा सकता है, उसके लिए तो गुलदस्ता ही उपलब्ध किया जा सकता है। बस मुक्तकों के लोकप्रिय होने का यही कारण है। राजा महाराजाओं की सभाओं तथा कवि-मंडलियों में प्रबन्ध पाठ के लिए समय मिलना कठिन है। वहाँ सम्मान पाने के लिए मुक्तक का ही आश्रय ग्रहण किया जा सकता है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सभा समाजों की चहल पहल के कारण मुक्तक काव्य का विशेष प्रचार हुआ। इन्हीं मुक्तकों के संग्रह विभिन्न शतक, सप्तशती, सतसई आदि में मिलते हैं :

आर्यों के प्राचीन साहित्य में दो प्रकार की रचनायें विशेष रूप से मिलती हैं।

१—आध्यात्मिकता अथवा ज्ञान काण्ड-सम्बन्धी और
२—कर्म कांड सम्बन्धी।

प्रथम के अन्तर्गत उपनिषद् दर्शन तथा बौद्धों और जैनियों के धर्म ग्रन्थ उल्लेखनीय थे। द्वितीय के अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थ, गृह्यसूत्रादि, प्राचीन स्मृतियाँ एवं पौराणिक साहित्य आते हैं। इन रचनाओं का दृष्टिकोण धार्मिक था और वे प्रायः पंडित वर्ग तक सीमित थीं।

विक्रम संवत् के आस-पास एक तीसरे प्रकार के साहित्य का श्रीगणेश हुआ। इसमें ऐतिहासिकतापूर्ण सरस कवित्व का प्राधान्य था। जन कवि विरचित सरस कवित्वपूर्ण मुक्तकों, छोटे-छोटे पदों द्वारा जन साधारण का मनोरंजन ही इसका उद्देश्य था। आध्यात्मिकता और कर्म कांड से उसका कोई सम्बन्ध न था।

लौकिक काव्य की ये रचनायें सर्वप्रथम जन-साधारण की भाषा 'प्राकृत' में हुई। इस प्राकृत को वैयाकरणों ने 'महाराष्ट्र प्राकृत' कहा है। इन सरस रचनाओं का सर्वप्रथम ग्रन्थ 'गाथा सतसई' है। इसके रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, परन्तु यह निर्विवाद है कि इसका संकलन विक्रम के प्रथम शतक में आन्ध्र राजघराने के सातवाहन के वंशज राजा हाल द्वारा किया गया था। संकलनकर्त्ता ने लिखा है कि उस समय एक करोड़ के लगभग गाथायें प्रचलित थीं। उनमें से चुनकर सात सौ गाथायें इस सङ्कलन में संग्रहीत हैं। सम्भव है उक्त कथन में कुछ अतिशयोक्ति हो, परन्तु इस प्रकार की प्रचलित गाथाओं का एक नरेश द्वारा संकलन किया जाना उनके महत्त्व मूल्य एवं उनकी लोक प्रियता का परिचायक है।

जन-साधारण की भाषा 'प्राकृत' में ऐसी सरस एवं लोकप्रिय रचनाओं का बाहुल्य होने पर पंडितों का ध्यान भी उस ओर गया और संस्कृत भाषा में भी इस प्रकार की रचनायें होने लगीं।

संस्कृत में की गई इस प्रकार की काव्य रचना का सर्व प्राचीन स्वरूप हमें अमरुक कवि की रचना 'अमरुक शतक' में दिखाई पड़ता है। इसके पूर्व की रचनायें यदि थीं, तो वे अप्राप्य हैं। अमरुक का समय ६ वीं शती से कुछ पूर्व ठहरता है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन (१० वीं शती)

ने इसकी भूरि भूरि प्रशंसा की तथा इसकी गणना सर्वोत्तम मुक्तक रचना के रूप में की है ।

अमरुक की कविता मनोरम शृङ्गार से आकंठ भरी हुई है । इसमें प्रेम का सजीव चित्रण किया गया है । कामी और कामिनियों की विभिन्न अवस्थाओं से उत्पन्न मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण करके मनोरम विवरण प्रस्तुत करना 'अमरुकशतक' की सबसे बड़ी विशेषता है । अमरुक के विषय में यह कहा जाता था कि उसके एक-एक छन्द के ऊपर सौ-सौ प्रबन्ध काव्य न्यौछावर हैं । 'अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते ।'

प्राकृत की 'गाथा सतसई' तथा अमरुक की संस्कृत रचना 'अमरुक शतक' के समान गोवर्धनाचार्य की 'आर्या सप्तशती' एक अन्य प्रसिद्ध रचना है । इसका रचना-काल विक्रमी संवत् की १२ वीं शती के अन्तिम चरण (११७३) के आस-पास माना जाता है । 'गीत गोविन्द' के रचयिता जयदेव तथा गोवर्धनाचार्य समकालीन थे और दोनों ही बंगदेश के अन्तिम राजा लक्ष्मणसेन के आश्रित थे ।

'आर्यासप्तशती' की रचना के पहिले आर्या जैसे छोटे छन्द में किसी अन्य कवि ने ऐसा लाघव नहीं दिखाया था । 'आर्य्यासप्तशती' में शृङ्गार-रस के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों से सम्बन्धित कुशल एवं सजीव वर्णन हैं । गोवर्धनाचार्य ने नायिकाओं की नाना प्रकार की चेष्टाओं के अत्यन्त मार्मिक वर्णन लिखे हैं ।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए । गोवर्धनाचार्य ने 'गाथा सतसई' की ही देखा-देखी संस्कृत में 'आर्यासप्तशती' लिखी थी । उन्होंने स्वयं कहा है—

वाणी प्राकृत समुचितरसा यत्नेनैव संस्कृतं नीता ।
निम्नानुरूपनीरा कलिंदकन्येव गगनतलम् ॥

अर्थात् वाणी प्राकृत में ही रसीली लगती है, उसे मैं बलपूर्वक संस्कृत में बदल रहा हूँ, नीचे बहने वाली यमुना को आकाश की ओर ले जाने का प्रयत्न कर रहा हूँ । 'आर्यासप्तशती' में विषय और छन्द संख्या, दोनों ही दृष्टियों से अनुकरण किया गया है । केवल एक अन्तर है । गाथाओं में पाई

जाने वाली वन्य सुकुमारता का आर्याओं में सर्वथा अभाव है। आर्याओं की नायिकाओं में नागरिक जीवन की कृत्रिमता आगई है।

ब्रजभाषा (हिन्दी) में दो प्रकार की सतसइयाँ पाई जाती हैं।

१—नीति सुभाषित अथवा सूक्ति सतसइयां और

२—शृंगार सतसइयां।

प्रथम के अन्तर्गत रहीम, तुलसी और वृन्द की सतसइयाँ आती हैं तथा द्वितीय के अन्तर्गत बिहारी सतसई, मतिराम सतसई, रसनिधि सतसई, राम सतसई और विक्रम सतसई आती है। रसनिधि ने 'रतन हजारा' लिखा था। उसका संक्षिप्त संस्करण रसनिधि सतसई कहलाने लगा है। एक धार्मिक ग्रन्थ दुर्गा सप्तशती भी मिलता है। आधुनिक काल में वियोगी हरि ने 'वीर सतसई' लिखी है। इस प्रकार ब्रजभाषा साहित्य सागर में नौ सतसइयां पाई जाती हैं।

शृङ्गार सतसई की परम्परा बिहारी से प्रारम्भ होती है, शेष सतसइयां इन्हीं के अनुकरण पर लिखी गई हैं। बिहारी गाथा सतसई, आर्या-सप्तशती तथा अमरुक शतक से भली प्रकार प्रभावित हुये थे। बिहारी का निम्नलिखित दोहा बहुत प्रसिद्ध है :

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहि काल।
अली कली ही सों बंध्यौ, आगे कौन हवाल॥

यह भाव 'गाथा सतसई' तथा 'आर्या सप्तशती' दोनों में ही पाया जाता है।

जाव ण कोशविकासं पावइ ईसीस मालई कलिका।
मअरन्द पाण लोहिल्ल भमर तावच्चिय मलेसि॥

—गाथा सतसई

यावन्न कोशविकासं प्राप्नोतीषन्मालतीकलिका।
मकरन्दपानलोलुप भ्रमर तावदेव मर्दयसि॥

—आर्याशप्तशती

अभी मालती की कली के कोश का विकास भी नहीं हो

पाया कि मकरन्द पान करने के लोभी भौंरे तूने उसका मर्दन आरम्भ कर दिया।

बिहारी के बहुत से दोहे अपभ्रंश के दूहों से भी इसी प्रकार मिलते हैं।

बिहारी के पहिले भी हिन्दी में दोहा छन्द में शृङ्गारी रचना होती थी। रहीम के ग्रन्थ 'नगर शोभा' में बराबर शृङ्गारी दोहे मिलते हैं। रहीम ने सतसई लिखी थी या नहीं इस सम्बन्ध में मतभेद है। रहीम सतसई के लगभग आधे छन्द मिलते हैं।

बिहारी के पहिले कृपाराम ने अपनी 'हिततरंगिणी' में लिखा था कि—

बरनत कवि सिंगार रस छन्द बड़े विस्तारि।
मैं बरन्यों दोहान बिच, यातें सुघर विचारि॥

वास्तव में बात यह है कि दोहा जैसे छोटे छन्द को एक प्रकार से समास पद्धति के चमत्कार, वाग्वैदग्ध्य एवं काव्य-कौशल का माध्यम माना गया है। अनेक कविजनों ने दोहा रचना की प्रशंसा की है। यथा—

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुंडली, सिमिटि कूदि चल जाहिं॥
रूप कथा पद चारु पर, कंचन दोहा लाल।
ज्यों ज्यों निरखत सूक्ष्मगति, मोल रहीम बिसाल॥

—रहीम

मनिमय दोहा दीप जहँ उर घर करै प्रकास।

—तुलसी

बिहारी ने दोहा-रचना में चरम सफलता प्राप्त की है। दोहा जैसे छोटे छन्द में भाव-व्यंजना करने में वह बेजोड़ हैं। इन्होंने सचमुच ही "गागर में सागर" चरितार्थ किया है।

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।

विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।
—अमरुकशतक ८२

इस लम्बे छन्द के भाव को बिहारी ने अपनी अद्वितीय समास पद्धति के कौशल द्वारा एक छोटे से दोहे में पूर्ण सफलतापूर्वक तथा अधिक मनोवैज्ञानिक रूप में व्यक्त किया है :

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुंह चूम्यौ ढिग जाइ।
हंस्यौ, खिस्यानी, गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ।

अमरुक ने स्वयं परिस्थिति का वर्णन कर डाला है, किन्तु बिहारी ने पाठकों के ऊपर उसका अध्याहार छोड़ दिया है।

बिहारी के दोहों के विषय में प्रचलित यह लोकोक्ति सर्वथा सार्थक है :

सतसइया के दोहरा, ज्यौं नावक के तीर
देखत में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर

'सतसई' 'संस्कृत सप्तशती' का रूप है। मुक्तकों को सौ के बन्धन में बांधने की परम्परा-सी चली आती है। मुक्तकों के संग्रहों में सात-सौ की संख्या के लिए सब से अधिक आग्रह दिखाई देता है। रसनिधि ने "हजारा" लिखकर मुक्तक को "हजार" का पद देने का प्रयत्न किया, परन्तु वह लोक को रुचिकर न हुआ, और "हजारा" का निर्माण फिर किसी ने न किया। सात-सौ से कुछ अधिक पद रहने पर भी संग्रह को "सतसई" ही कहा जाता है। मन्त्र साहित्य में भी सात-सौ संख्या को ही महत्त्व दिया जाता है। हो सकता है कि अनुप्रास प्रियता, सतसई शब्द का श्रुति माधुर्य उसकी लोकप्रियता का कारण बन गया हो।

सूक्ति सतसई—सतसइयों के दो भेद हैं—सूक्ति सतसई और शृंगार सतसई। सूक्ति का प्रधान उद्देश्य है उपदेश। नित्य प्रति की बातों को सूक्तिकार एक ऐसे मार्मिक ढंग पर कहता है कि वह हृदय पर सीधा प्रभाव डालने में समर्थ होता है। सूक्ति या सुभाषित का अर्थ है—'अच्छा

कथन" और इसके अन्तर्गत सामाजिक, नैतिक, धार्मिक तथा पारमार्थिक तथ्यों को एक नवीन एवं विशेष ढग से कह कर उपदेशात्मक बना देता है। इसके लिए आवश्यक है कि सूक्तिकार प्रत्युत्पन्नमति एव बृहत् ज्ञान भंडार से युक्त हो। दृष्टान्त, सूक्तिकार का सब से बड़ा बल है। तुलसी और वृन्द की सतसइयां सूक्ति सतसई हैं।

तुलसी सतसई—जन्म संवत् १५८६। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता के बारे में विद्वानों में मतभेद है। दोहावली के लगभग डेढ़ सौ "दोहे सतसई" में मिलते हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास ने "सतसई सप्तक" में इसे सर्वथा प्रामाणिक ग्रन्थ माना है और उन्होंने तुलसी सतसई का इस प्रकार विवेचन किया है। "तुलसी सतसई" में सात सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में भक्ति विषयक दोहे हैं, द्वितीय में उपासना पराभक्ति के, तीसरे में सांकेतिक वक्रोक्ति से राम भजन किया है। चौथे, पांचवें और छठे में क्रमशः आत्मबोध, कर्म सिद्धांत और ज्ञान सिद्धांत सम्बन्धी दोहे और सातवें सर्ग के दोहों में राजनीति का निरूपण किया है। सूक्ति की कसौटी पर गोसाईं जी के दोहे सर्वथा खरे उतरते हैं, उनमें महान् तथ्यों का कथन है।

१. ज्ञान गरीबी गुरु धरम, नरम बचन निरमोख।
तुलसी कबहुँ न छाँड़िए, सील सत्य सन्तोख।
२. स्वामी होना सहज है, दुरलभ होना दास,
गाडर लायौ ऊन को, लाग्यो चरन कपास।
३. बरखत हरखत लोग सब, करखत लखै न कोइ,
तुलसी भूपति भान सम प्रजा भानु बस होइ।
४. हरे चरहिं तापहिं बरे, फिरे पसारहिं हाथ,
तुलसी स्वारथ मीत जग, परमारथ रघुनाथ।

वृन्द सतसई—जन्म संवत् १७२० के आस-पास। नीति पर इनके दोहे सर्वाधिक प्रचलित हैं। उनमें सर्वत्र एकरस विदग्धता है। वृन्द की भाषा सरल, मुहावरेदार तथा कहावतों से पूर्ण है। यथा—

१. बुरे लगत सिख के बचन, हिए बिचारो आप,
करुवे भेषज बिन पिये, मिटे न तन को ताप।
२. अपनी पहुँच बिचारि कें, करतब करिए दौर,
तेते पाँव पसारिए, जेती लांबी सौर।
३. अति परिचै ते होत है, अरुचि अनादर भाय,
मलयागिरि की भीलनी, चन्दन देत जराय।
४. सबै सहायक सबल के, निबल न कोउ सहाय,
पवन जगावत आग कों, दीपहिं देत बुझाय।

रहीम सतसई—जन्म संवत् १६१० । अब्दुल रहीम खानखाना वृन्द की टक्कर के ही सूक्तिकार हैं, इनकी सतसई की प्रामाणिकता के बारे में भी मतभेद है। इनके लिखे हुए लगभग साढ़े-तीन-सौ दोहे मिलते हैं। इनकी सूक्तियों के दृष्टान्त बेजोड़ हैं :

१. काज परे कछु और है, काज सरे कछु और,
रहिमन भाँवर के भए, नदी सिरावत मौर।
२. रहिमन चाक कुम्हार को मांगे दिया न देइ,
छेद में डंडा डारिके, चहै नांद लइ लेइ।
३. रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ मांगन जांइ,
उनते पहिले वे मरे, जिन मुख निकसत नाइ।
४. उरग, तुरग, नारी, नृपति, नीच जाति, हथियार,
रहिमन इन्हैं संभारिए, पलटत लगै न वार।

इनके अतिरिक्त श्रृंगारी कवियों ने भी नीति-सम्बन्धी सूक्तियां लिखी हैं। 'बिहारी सतसई' एवं "मतिराम सतसई" की कई सूक्तियां तो खूब प्रचलित हैं :

(अ) बिहारी—

१. जो चाहत चटक न घटै, मैलौ होय न मित्त
रज राजस न छुवाइए, नेह चीकने चित्त।
२. बढ़त-बढ़त संपत्ति सलिल मन सरोज बढ़ि जाइ,

घटत घटत फिर ना घटे, बरु समूल कुम्हिलाइ।

(ब) मतिराम—

१. राधा मोहन लाल कौं जाहि न भावत नेह,
परियो मुठी हजार दस ताकी आँखिन खेह।

२. अद्भुत या घन को तिमिर मो पै गह्यौ न जाइ,
ज्यौं ज्यौं मनिगन जगमगत त्यौं त्यौं अति अधिकाइ।

श्रृंगार सतसई—"रचना चमत्कार" आजाने से सूक्ति का उद्देश्य पूरा हो जाता है, श्रृंगार-रस परक कविता में सिद्धि आवश्यक है। अतः श्रृंगार सतसइयाँ "वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्" के उदाहरण स्वरूप समझी जानी चाहिये।

सर्वत्र व्याप्त एवं रसराज होने से श्रृंगार रस परक रचनायें सर्व प्रिय होती है। श्रृंगार सतसइयों के इतने अधिक प्रचार का कारण श्रृंगार रस की लोकप्रियता ही है। इस कोटि के अन्तर्गत बिहारी सतसई, मतिराम सतसई, रसनिधि सतसई, राम सतसई तथा विक्रम सतसई ये पांच सतसइयां आती हैं।

श्रृंगार सतसइयों की परम्परा बिहारी सतसई से प्रारम्भ होती है। उत्कृष्टता की दृष्टि से भी बिहारी सतसई का स्थान सर्व प्रथम है। महाराज जयसिंह की आज्ञानुसार बिहारी लाल ने "सतसई" की रचना की थी:

हुकुम पाइ जयसाहि को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद॥

अब हम प्रत्येक सतसई के कुछ दोहे उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

बिहारी सतसई—जन्म संवत् १६६०। रसिक समाज में सबसे अधिक सम्मान बिहारी सतसई का है। काव्य रीति के प्रत्येक अङ्ग-उपांग की विशेषतायें उसमें मिलती हैं। एक ही दोहे में मधुर भावापंजना, पद-लालित्य, अलंकार, विधान, शब्द-सौष्ठव सब कुछ एक साथ मिल जाते हैं।

१. जुरे दुहुन के दृग झमकि, रुके न झीने चीर,
हलुकी फौज हरौल ज्यों परै गोल पर भीर।
२. लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं,
ये मुंह जोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं।
३. बिथुरयौ जावक सौति पग, निरखि हँसी गहि गांसु,
सलज हंसौहीं लखि, लियौ आधी हंसी उसासु।
४. दृग उरझत, छूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिए दई नई यह रीति।

मतिराम सतसई—जन्म संवत् १६७४ के आस पास। यह सतसई किसी भोगनाथ नामक राजा को समर्पित है। इसके अधिकांश दोहे मतिराम कृत "रस राज" और "ललित ललाम" ग्रंथों से लिये गए हैं। इनके भाव और इनकी भाषा सर्वथा स्वाभाविक है।

१. लिखति अवनि तल चरन सों विहंसत विमल कपोल,
अध निकरे मुख इंदु तें, अमृत विन्दु से बोल।
२. नवल नेह में दुहुनि की लखी अपूरब बात।
ज्यौं सूखति सब देह है त्यौं पानिप अधिकात।
३. चन्द किरन लगि लाल तन उठै आग अति जागि,
परस करत दिनकर किरनि ज्यौं दरपनि में आगि।
४. मंत्रिनि के बस जो नृपति सो न लहति सुख साज,
मनहिं बांधि दृग देत दृग मन कुमार कौं राज।

रसनिधि सतसई—रचनाकाल संवत् १६६० से १७१७ तक। यह रसनिधि कवि के 'रतन हजारा' का संक्षिप्त संस्करण है। इनकी कविता में तन्मयता खूब है। फारसी के ढंग की तबियतदारी के फेर में पड़ जाने से उसमें सुरुचि की अवहेलना हो गई है।

१. रसनिधि जब कबहूँ बहै, वह पुरबइया बाइ,
लगी पुरातन चोट जो, तब उभरति है आइ।

२. तौ तुम मेरे पलन तैं, पलक न होते ओट,
ब्यापी होती जो तुमैं, ओट भये की चोट।
३. दरदहि पै जानत लला, सुधि लौं जानत नाहिं,
कहो बिचारे ने हिया, तुव घाले किन जाहिं।
४. सबन सुनौ है यह नयौ, नेह नगर में भाव।
देत न तहँ मन भावतौ, मन के साहे पाव।

राम सतसई—रचनाकाल संवत् १८६० से १८८० तक। इसके रचयिता रामसहाय दास हैं, जो काशी नरेश के आश्रित थे। इसमें माधुर्य और प्रसाद गुण की प्रचुरता है।

१. जान कहौ तौ जाइए, कुसल रहौ हे कंत,
हौं बाचिहौं हिमंत सौं सुख साचिहौं बसंत।
२. निज घट उठवाती अरी, मो देती न उठाय,
आन कका के साथ की, साथ न जाउं लवाय।

विक्रम सतसई—रचनाकाल संवत् १८३९ से १८८६ तक। इसके रचयिता महाराज विक्रमसाहि हैं जो बुन्देलखण्ड की चरखारी रियासत के राजा थे। विक्रम सतसई के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। उदाहरण देखिए।

१. मिलत अगाऊ बिन कहे, यहै दोष इन मांहि,
उर उरझावत हठ नयन, सुरझावत फिर नांहि।
२. होरी में जोरी करत, भोरी करि ब्रजबाल,
कहूँ तकत घालत कहूँ भरि भरि मूठ गुलाल।
३. अरुन उदै लौं तरुनई, अंग अंग झलकी आइ,
छन छन तिय तन ओस सी मिटत लरिकई जाइ।

शृंगार सतसइयों के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :

१. सूक्ति सतसइयों की भाँति इनमें शील एवं मर्यादा का निर्वाह नहीं हो सका है। कतिपय वर्णन अश्लील भी हो गए हैं।

२. इनमें तल्लीनता कम और बाह्यार्थ निरूपण अधिक है। कविजनों का ध्यान कला-पक्ष अथवा काव्य-नैपुण्य पर विशेष रूप से केन्द्रित हो गया है।

३. इनका प्रवर्त्तन बिहारीलाल ने किया तथा 'बिहारीसतसई' के अनुकरण पर अन्य सतसइयों की रचना हुई, परन्तु बिहारी जैसी सफलता किसी को न मिल सकी। भाषा की समास शक्ति और भाव की समाहार शक्ति बिहारी में चरम सीमा को प्राप्त हो गई थी। यथा—

पाइ महावरु देन को नाइनि बैठी आइ
फिरि फिरि जानि महावरी एडी मीडति जाइ।

बिहारी के इस दोहे के भाव को लेकर रामसहाय और विक्रमसिंह ने क्रमशः निम्नलिखित दोहे लिखे, परन्तु वह बात न आसकी।

छैल छबीली की छटा लहि महावरी संग।
जानि परै नाइन लगै जबहिं निचोरन अंग।
× × × ×
सहज अरुनि एडीनि की लाली लखै बिसेखि।
जावक दीवे जाके रही नाइन पाइन पेखि।

नायक परदेश जाना चाहता है, उसे रोकने के लिये बिहारी की नायिका ने एक युक्ति सोची :

पूस मास सुनि सखिन पै साईं चलत सवारु,
गहि कर बीन प्रबीन तिय राग्यौ राग मलारु।

मतिराम ने भी कुछ कुछ ऐसी ही बात कहलाई है :

प्राननाथ परदेस कौं चलिए समौ बिचारि,
स्याम नैन घन बाल के बरसन लागे बारि।

यही भाव विक्रम ने लिया है।

मांगी बिदा बिदेश कौं दै जराइ अनमोल।
बोली बोल न सुघर तिय दिय अलाप हिंडोल।

मतिराम ने साक्षात् वर्षा की झड़ी लगादी और विक्रम ने वसंत ऋतु का आभास कराया। बिहारी की नायिका सबसे उत्कृष्ट रही। वह तो वर्षा प्रारम्भ कराके नायक को विरह-व्यथा का अनुभव कराने के प्रयत्न में लग गई थी।

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिए दई नई यह रीति।

इस भाव को प्रकाशित करने के लिये रसनिधि ने दो दोहे लिखे।

उरझत दृग बंधि जात मन कहो कौन यह रीति।
प्रेम नगर में आइकै देखी घनी अनीति।
अद्भुत गति यह प्रेम की लखौ सनेही आइ,
जुरै कहूँ टूटै कहूँ, कहूँ गांठि परि जाइ।

रसनिधि का वाग्विस्तार भी बिहारी की संक्षिप्त सूक्ति के समान समर्थ न बन सका।

४. विभावों, हावों और चेष्टाओं की सुन्दर योजना एवं सजीव चित्रण में केवल मतिराम ही कुछ-कुछ बिहारी के निकट पहुँच सके हैं।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि नीति परक सतसइयों का जीवन के लिए उपयोगी होना निर्विवाद है। उनके दोहे सूत्र रूप में महत्त्वपूर्ण सूक्तियों का कार्य करते और यथा समय हमारा पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता रखते हैं। शृंगार-परक सतसइयां, व्यावहारिक जीवन के लिए कहां तक उपयोगी हो सकती हैं, इस सम्बन्ध में मत-भेद हो सकता है। हम इतना अवश्य निवेदन करेंगे कि जिस प्रकार आर्थिक क्षेत्रों में आराम और विलास की वस्तुओं द्वारा हमारी कार्य-क्षमता में वृद्धि होती है, उसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में संवेदनशीलता को गति प्रदान करने के लिए, शृंगार-परक सतसइयों का उपयोग तो है ही।

१७ : हिन्दी-गद्य का विकास

रूपरेखा—

१—पूर्वाभास--१४ वीं शती का गद्य।
(क) गोरखनाथ के गद्य-ग्रन्थ।
(ख) दक्षिण के गद्य-ग्रन्थ।

२—विक्रम की १७ वीं शती का गद्य।
(क) ब्रज-भाषा का गद्य।
(ख) दक्षिण का गद्य।

३—विक्रम की १६ वीं शती से नियमित गद्य-लेखन।
(क) मुंशी सदासुखलाल।
(ख) इंशाउल्लाखाँ।
(ग) लल्लूलाल जी।
(घ) सदल मिश्र।

४—ईसाइयों द्वारा हिन्दी-गद्य की सेवा।

५—राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा गद्य का उत्थान।

६—भारतेन्दु-युग।

७—द्विवेदी-युग।

८—वर्तमान-काल का विशद विकास।
(क) नाटक।
(ख) उपन्यास।
(ग) आख्यायिका।
(घ) निबन्ध।

९—उपसंहार—हिन्दी-गद्य का भविष्य।

हिन्दी के गद्य काव्य का सब से प्राचीन रूप हमें गोरखपन्थी ग्रन्थों में मिलता है। ये ग्रन्थ ब्रज-भाषा में हैं तथा इनका निर्माण-काल संवत् १४०० के आस-पास है। इनमें हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि से सम्बन्धित

बातों का वर्णन है। इन ग्रन्थों में कौन से ऐसे ग्रन्थ स्वयं गोरखनाथ के लिखे थे और कौन से उनके शिष्यों के, यह बताना अत्यन्त कठिन है और इस खोज से हमें कुछ विशेष लाभ नहीं होता है। एक पुस्तक के गद्य का नमूना देखिये—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द-स्वरूप हैं सरीर जिन्हि को, जिनके नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ? आत्मज्योति निश्चल है अंतहकरन जिनके अरु मूलद्वार तें छह चक्र जिनि नीकी तरह जानैं।

विक्रम की १६ वीं शती के प्रारम्भ में तैमूरलङ्ग के अत्याचारों से उत्पीड़ित होकर दिल्ली और उसके आस-पास के बहुत से लोग दक्षिण की ओर भाग गये थे। इनमें कुछ साहित्यिक भी थे। इन लोगों की लिखी हुई कई गद्य-पुस्तकें दक्षिण में पाई गई हैं। गद्य का यह स्वरूप खड़ी बोली के बिलकुल निकट ठहरता है और इसमें अरबी तथा फारसी के शब्दों का बाहुल्य है। मेरठ और दिल्ली के आसपास की बोलचाल की भाषा दक्षिण आकर 'दखनी' कहलाई; जिसमें सबसे पहिला गद्य-ग्रन्थ संवत् १५-२७-१५३६ के मध्य का लिखा हुआ प्राप्त होता है।

ख्वाजा बन्देनवाज़ दखनी भाषा के गद्य के प्रथम लेखक हैं। आपका रचना-काल सन् १४७०-८० के आस-पास ठहरता है। आपकी लिखी हुई गद्य-पुस्तक का नाम 'मेहराजुल आशक़ीन' है। इसके गद्य का नमूना देखिये

"× × × इन्सान के बूझने को पाँच तन, हर एक तन को पाँच दरवाज़े हैं। और पाँच दरबान हैं। पहिला तन वाजिबुल वजूद१ माने कबीरोंर से तबियत का मैल धोना। मुकाम इनाम नफ़स३ शैतानी इसका अम्मारा४......

......होर माटी में माटी, माटी में पानी, माटी में आग,

१ मन को साफ़ करना। २ सद्गुणों से। ३ आत्मा। ४ इच्छायें।

माटी में बारा५ माटी में खाली। इन पाँच अनासराँ६ का बाजिबुल वजूद बूझा तो मारिफत७ तमाम हुआ।"

ख्वाजा बन्देनवाज़ के समकालीन एक अन्य गद्य-लेखक थे मिरांजी शमसुल शाक़। आपका लिखा हुआ गद्य-ग्रन्थ है 'मरक़ूबुल क़ुलूब'। इसकी भाषा भी विशेष साहित्यिक नहीं है।

मीरोंजी शमसुल शाक़ के पुत्र बुरहानुद्दीन भी गद्य-लेखक थे। आपकी गद्य-पुस्तक 'क़लमतुल इक़ायक़' में सूफ़ी सिद्धान्तों और नियमों का प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन किया गया है। इनकी भाषा अधिक साफ़ है। यथा—

"........अल्ला करे सो होये, कि कादिर८ तवाना सोए९ क़दी मुल क़दीम१० का भी करनहार है। सहज-सहज सों तेरा ठार, वह सहज-हुआ भी तुझ थी वाद। जुदा कुछ नहीं।"

यहां यह बता देना आवश्यक है कि ये समस्त लेखक सूफ़ी सन्त थे और इनकी रचनाओं में सूफ़ी मत और सूफ़ी-सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है।

इसके उपरान्त फिर हमें भक्तिकाल में कृष्ण-भक्ति-शाखा के अन्तर्गत गद्य-ग्रन्थ मिलते हैं। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने 'शृंगाररस-मण्डन' नामक एक गद्य-ग्रन्थ ब्रजभाषा में लिखा। इसकी भी भाषा अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है। नमूना देखिए—

"प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मंद हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुञ्ज विषै शृंगार रस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।"

'शृंगाररस-मण्डन' के पश्चात् (विक्रम की १७वीं शती का पूर्वार्द्ध) दो साम्प्रदायिक ग्रंथ मिलते हैं—'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' तथा 'दो सौ

---

५ इना। ६ तत्वों। ७ ज्ञान।

तात्पर्य यह कि प्राणी जिन पाँच तत्वों से बना है, उन्हें जान जाए, तो वह ईश्वर को पहचान लेता है।

८ शक्तिमान्। ९ वही है। १० पुराने से भी पुराना आदिम।

बावन वैष्णवों की वार्त्ता'। इनमें वैष्णव भक्तों की कथायें हैं। इनकी भाषा बोलचाल की ब्रजभाषा है तथा उसमें अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया गया है। यथा—

"सो श्री नन्दगाम में रहतो हतो सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ़्यो हतो।.........भगवद्यश सुननो होवै सो इहाँ आवो।"

इसके बाद विक्रम की सत्रहवीं शती के मध्य तक हमें ब्रजभाषा के कई गद्य-ग्रन्थ मिलते हैं। नाभादास जी ने संवत् १६६० के आस-पास 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक लिखी जिसमें भगवान् राम की दिनचर्या का वर्णन है। संवत् १६८० के लगभग वैकुण्ठ मणि शुक्ल ने 'अगहन माहात्म्य' और 'वैशाख माहात्म्य' नाम की दो छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं। संवत् १७६० के लगभग ब्रजभाषा में लिखा हुआ एक 'नासिकेतोपाख्यान' मिलता है। संवत् १७६६ में सुरति मिश्र ने 'बैताल-पचीसी' लिखी। संवत् १८५२ में लाला हीरालाल ने आईन अकबरी की भाषा वचनिका नाम की एक बड़ी पुस्तक लिखी। इसकी भाषा बोलचाल की ब्रजभाषा है। सारांश यह कि ब्रजभाषा के गद्य के नमूने इधर-उधर पाए जाते हैं और उसका स्वरूप साहित्यिक नहीं हो पाया था।

विक्रम की १७ वीं शती में खड़ी बोली में गद्य के प्रथम दर्शन होते हैं। अकबर के दरबारी कवि गंग ने 'चंद-छन्द बरनन की महिमा' नामक एक गद्य-पुस्तक खड़ी बोली में लिखी थी। उसकी भाषा का नमूना देखिए—

"सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपति जी अकबर-साहजी आमखास में तख्त ऊपर विराजमान हो रहे। और आम-खास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी-अपनी मिसल में जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।"

स्पष्ट है कि इस समय के गद्य पर अरबी-फ़ारसी का गहरा प्रभाव था। उपर्युक्त उद्धरण में 'आमखास', मिसल, ताज़ीम आदि अरबी-फ़ारसी

के शब्दों के अतिरिक्त फ़ारसी के व्याकरण का भी प्रभाव दिखाई देता है। 'उमराव' शब्द 'अमीर' का बहुवचन है। हिन्दी व्याकरण के अनुसार 'अमीर' का बहुवचन होता है 'अमीरों' तथा फ़ारसी के व्याकरण के अनुसार बहुवचन होता है 'उमरा'।

इसके पश्चात् संवत् १७६८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योग वाशिष्ठ' नामक गद्य-ग्रन्थ लिखा। इसकी भाषा साफ़-सुथरी खड़ी बोली है। यथा—

"हे रामजी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। ....इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्त्व को देखो तब विगतज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म-मरण के बन्धन में न आवोगे।"

इसके बाद पं० दौलतराम ने 'पद्मपुराण' का खड़ी बोली में अनुवाद किया। भाषा का नमूना देखिए—

"जम्बूद्वीप से भरतक्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इन्द्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै हैं—"

आगे चलकर संवत् १८३० और १८४० के बीच राजस्थान के किसी लेखक ने 'मंडोवर' का वर्णन लिखा था, जिसकी भाषा साधारण बोलचाल की है। यथा—

"अवल में यहाँ मांडव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम 'मांडव्याश्रम' हुआ। इस लफ़्ज़ का बिगड़ कर मंडोवर हुआ है।"

इन गद्य-ग्रंथों की भाषा के उदाहरण देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'योगवाशिष्ठ' के गद्य की भाषा सर्वथा शृंखलाबद्ध एवं व्यवस्थित है। अतः हम 'योगवाशिष्ठ' को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और निरंजनी जी को प्रथम प्रौढ़-गद्य-लेखक मान सकते हैं।

उधर दक्षिण में भी गद्य-ग्रन्थों का क्रम चलता रहा। संवत् १६६३ तथा १७२२ के बीच दखनी भाषा में लिखे गए दो-तीन ग्रन्थ मिलते हैं। इस समय का सर्वोत्तम ग्रन्थ है हज़रत मुल्लावज़ीउद्दीन का लिखा हुआ

'सबरस'। इसकी भाषा परिष्कृत, स्पष्ट और साहित्यिक है तथा इसके भाव सुलझे हुये हैं। 'सबरस' की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

"......किस के करने से क्या होवे जो खुदा करे सो होवे। आशिक़ को इश्क दिया, माशूक़ को हुसन दिया। इन दोनों में अपना भेद प्रकट किया। एक को किया पुरुष और एक को किया नारी। एक को किया प्यारा और एक को किया प्यारी।......इश्क़ इसका नाम, हर दिल में इसका ठाऊँ। सब सों जोड़ियाँ किसी सौं नहीं तोड़ियाँ।"

'सबरस' जायसी के 'पद्मावत' के ढंग का एक सूफ़ी ग्रन्थ है। यह एक प्रेमकथा है। दखनी गद्य के विकास की दृष्टि से 'सबरस' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

विक्रम की उन्नीसवीं शती में पुनः गद्य की प्रतिष्ठा हुई और उस समय से आज तक नियमित रूप से खड़ी बोली का गद्य विकसित होता चला आ रहा है। गद्य की प्रतिष्ठा करने वाले थे चार महानुभाव—(१) मुंशी सदासुखलाल (२) इंशाउल्लाखाँ (३) लल्लूलाल और (४) सदलमिश्र।

मुंशी सदासुखलाल ने श्रीमद्भागवत का अनुवाद 'सुखसागर' नाम से किया। इनकी भाषा का रूप संस्कृत-मिश्रित खड़ी बोली था और उसमें पंडिताऊपन था। इंशाउल्लाखाँ ने खड़ी बोली में 'रानी केतकी की कहानी' नामक एक मौलिक आख्यायिका लिखी। इसकी भाषा चटकीली और चुलबुलाहटपूर्ण है। उसमें अरबी-फ़ारसी के बहुत से शब्द हैं तथा कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास भी फ़ारसी का सा होगया है। भाषा में पद्य के सदृश अनुप्रास की सुन्दर छटा है।

लल्लूलाल और सदल मिश्र ने कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालिज में अंग्रेजों की प्रेरणा से खड़ी बोली में गद्य-रचनायें लिखीं। लल्लूलाल ने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की कथा का वर्णन 'प्रेमसागर' नामक ग्रन्थ में किया और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। प्रेमसागर की भाषा में पंडिताऊपन की गन्ध है और अरबी-फ़ारसी के शब्दों से बचने का प्रयत्न है। 'नासिकेतोपाख्यान' में ब्रज-भाषा और पूर्वी हिन्दी का पुट है।

इन चारों लेखकों में मुन्शी सदासुखलाल की भाषा सबसे अधिक व्यवहारोपयोगी है। इनकी भाषा का नमूना देखिए—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्राण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो वह सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो तुरन्त ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे। हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा का यह स्वरूप भी परिष्कृत एवं व्यवस्थित गद्य नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक चारों लेखकों में किसी की भी भाषा टकसाली और साहित्यिक नहीं थी। किसी में पण्डिताऊपन था, तो किसी में फारसीपन; किसी में ब्रज-भाषा का पुट था, तो किसी में पूर्वीपन का। अस्तु।

इस समय तक भारतवर्ष में अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था और ईसाई धर्म का प्रचार करने के हेतु अनेक पादरी, चारों ओर, विशेष-कर भारतवर्ष के पूर्वी भाग में घूम रहे थे। उन्होंने बाइबिल के अनुवाद तथा हिन्दू-धर्म-पुस्तकों के खण्डन-मण्डन की पुस्तकें शुद्ध खड़ी बोली-गद्य में लिखीं-लिखाई। पादरियों की इन पुस्तकों में कहीं भी अरबी-फ़ारसी के शब्दों को नहीं अपनाया गया है। शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकें भी सर्व प्रथम पादरियों ने ही लिखी थीं। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में हिन्दी के गद्य का प्रसार एवं विकास करने का बहुत कुछ श्रेय इन ईसाई पादरियों को ही है।

संवत् १६११ में चार्ल्स वुड (Charles Wood) के आयोजन पत्र के अनुसार भारतवर्ष में शिक्षा की व्यवस्था हुई और यह प्रश्न उप-स्थित हुआ कि शिक्षा की भाषा क्या हो, हिन्दी या उर्दू?

संवत् १६१२ में राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में इन्सपेक्टर नियुक्त हुए। उनके प्रयत्न द्वारा हिंदी को स्थान मिला। राजा साहब यह आवश्यक समझते थे कि 'आम फ़हम' स्वरूप द्वारा ही हिंदी की रक्षा हो

सकती है। उनके विचार से हिंदी में अरबी और फारसी के चलते शब्दों को निस्संकोच ग्रहण कर लेना चाहिये, क्योंकि मुसलमान संस्कृत-निष्ठ हिंदी का 'मुश्किल ज़बान' कहकर विरोध करते थे। उन्होंने स्वयं पाठ्य-क्रम के लिए 'राजा भोज का सपना', 'वीरसिंह का वृत्तान्त', 'आलसियों का कोड़ा', आदि कई पुस्तकें चलती हिंदी में लिखीं। इसी समय संस्कृत-बहुला हिंदी का पक्ष लेकर राजा लक्ष्मणसिंह हिंदी गद्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए। वे विशुद्ध हिंदी के पक्षपाती थे और उन्होंने राजा शिवप्रसाद की 'आमफहम' हिंदी के विरुद्ध आवाज़ उठाई। उन्होंने महाकवि कालिदास प्रणीत 'अभिज्ञान शाकुंतल' नाटक का विशुद्ध हिंदी में अनुवाद किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी गद्य के विकास में परोक्ष रूप से हाथ बटाया। वे खड़ी बोली में धारा प्रवाह उपदेशात्मक व्याख्यान दिया करते थे और उन्होंने अपनी धार्मिक पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना खड़ी बोली गद्य में की। उनके पश्चात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय हुआ और उनकी अप्रतिम प्रतिभा के फलस्वरूप हिंदी के विभिन्न अंग पुष्ट हुए और गद्य के साहित्यिक स्वरूप का प्रवर्तन हुआ। भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक हिंदी गद्य का क्रमिक विकास होता चला आरहा है। इस प्रकार हिन्दी गद्य के क्रमिक विकास के अनेक कारण ठहरते हैं—ईसाइयों का धर्म प्रचार, तथा आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज जैसी संस्थाओं का धर्म-प्रचार तथा संरक्षण के निमित्त शास्त्रार्थ का प्रचार; विज्ञान, मनोविज्ञान, राजनीति तथा राजनियम के अध्ययन की नई प्रवृत्ति तथा पाश्चात्य सभ्यता एवं साहित्य के संसर्ग तथा राष्ट्रिय-आन्दोलन। राष्ट्रिय-आन्दोलन के साथ राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उत्पन्न हुआ और इसके कारण हिन्दी का महत्त्व बढ़ा। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, हिन्दी साहित्य संमेलन, प्रयाग, दक्षिण भारतीय हिन्दी-प्रचार सभा, राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, वर्धा आदि संस्थाओं के प्रयत्न स्वरूप हिन्दी को पर्याप्त बल मिला है।

विकास-क्रम की दृष्टि से हिन्दी-गद्य को हम तीन भागों में विभाजित करते हैं—(१) प्रथम उत्थान-काल अथवा 'भारतेन्दु-

युग', संवत् १९२४ से संवत् १९६० तक। इस काल में हिन्दी-गद्य का स्वरूप व्यवस्थित हुआ। (२) द्वितीय उत्थान-काल अथवा 'द्विवेदी युग' संवत् १९६० से संवत् १९७५ तक। इस काल में भाषा की शुद्धि हुई अथवा भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित हुआ और भाषा के साहित्यिक स्वरूप का परिमार्जन हुआ। तथा (३) तृतीय उत्थान-काल अथवा वर्त्तमान युग, संवत् १९७५ से अब तक। इस काल में गद्य का पूर्ण विकास हुआ है और हिन्दी के विभिन्न अङ्ग पुष्ट हो रहे हैं।

गद्य-साहित्य के प्रधानतया ५ अङ्ग ठहरते हैं—(१) नाटक, (२) उपन्यास, (३) कहानियाँ, (४) निबन्ध तथा (५) समालोचना। हम अब प्रत्येक युग के अन्तर्गत विरचित साहित्य के इन पांचों अङ्गों पर संक्षेप में पृथक् पृथक् विचार करते हैं।

भारतेन्दु जी स्वयं तो गद्य-रचना में प्रवृत्त हुए ही, साथ ही अपने अनेक मित्रों को भी इस ओर लगा दिया। इनसे प्रभावित होकर इस ओर कार्य करने वालों में बदरीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र तथा श्रीनिवास दास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति में युग-प्रवर्त्तक का हाथ बटाया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मौलिक और अनुवादित, सब मिलाकर १४ नाटक लिखे। मौलिक नाटकों में 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी' तथा 'चन्द्रावली', और अनुवादित नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'मुद्रा राक्षस', तथा 'कर्पूर मञ्जरी' के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्य मुख्य नाटककारों तथा उनकी कृतियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) श्री निवासदास (रणधीर-प्रेम मोहिनी, संयोगिता-स्वयंवर तथा तप्तासंवरणी। (२) अम्बिकादत्त व्यास (ललिता) (३) प्रतापनारायण मिश्र (गो सङ्कट)। (४) बदरी नारायण चौधरी (भारत-सौभाग्य) तथा (५) राधाकृष्ण दास, (महाराणा प्रताप-सिंह, दुखिनी बाला तथा महारानी पद्मावती)। भारतेन्दु तथा राधा-कृष्ण दास के अनेक नाटक अभिनेय हैं।

भारतेन्दु ने उपन्यास कोई नहीं लिखा। इस क्षेत्र में श्री निवासदास का नाम सर्व प्रथम आता है। उन्होंने हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु लिखा। इन दिनों अंग्रेजी, बंगला, मराठी, फ्रांसीसी, जर्मनी तथा रूसी भाषाओं के अनेक उपन्यासों के अनुवाद हुए। इस युग के प्रमुख उपन्यासकार तथा उपन्यास इस प्रकार हैं—(१) बालकृष्णभट्ट, (२) ('सौ अजान एक सुजान' और 'नूतन ब्रह्मचारी',) राधाकृष्ण दास, ('निस्सहाय हिन्द')। इस युग के उपन्यासों में 'वस्तु' प्रधान रही और 'चरित्र-चित्रण' का स्थान गौण बना रहा। बंगला तथा विदेशी भाषाओं के कई उपन्यासों के अनुवाद भी हुए।

निबन्धों तथा समालोचना का प्रारम्भ भी भारतेन्दु से ही होता है। निबन्ध तथा समालोचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले लेखों के रूप में होती थीं। भारतेन्दु ने 'कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका', तथा 'बाला-बोधिनी' नामक तीन पत्र निकाले। श्री प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' पत्र निकाला। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी-प्रदीप' निकाला। हरिश्चंद्र के जीवन-काल में लगभग २७ पत्र प्रकाशित होते थे। इनके द्वारा लोगों में निबन्ध-लेखन के प्रति रुचि उत्पन्न हुई।

भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी लोगों का दृष्टिकोण साहित्य-निर्माण ही था। भाषा की शुद्धता पर ध्यान देने-दिलाने का काम पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने हाथ में लिया। भाषा-शुद्धि के आन्दोलन के प्रवर्त्तक होने के कारण ही यह युग उनके नाम पर चला। द्विवेदी जी 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के सम्पादक थे। उसको माध्यम बनाकर उन्होंने भाषा की व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया और उन्हें अपने कर्त्तव्य के लिये सचेत किया।

द्विवेदी-युग में मौलिक नाटकों की रचना नहीं हुई। केवल संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए गए। संस्कृत नाटकों के अनुवाद करने वालों में कविरत्न पंडित सत्यनारायण और लाला सीताराम मुख्य हैं। लालाजी ने अंग्रेजी के नाटकों का भी अनुवाद

किया। रूपनारायण पाण्डेय ने द्विजेन्द्रलालजी राय एवं गिरीशचन्द्र घोष के बंगाली नाटकों के हिन्दी में सुन्दर अनुवाद किये।

इस युग में प्रधानतया अनूदित उपन्यासों की ही रचना हुई। मौलिक उपन्यास लिखने वालों में देवकी नन्दन खत्री ने सबसे अधिक प्रसिद्धि पाई। उनके 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता सन्तति' तथा 'कुसुम-कुमारी' ये तीन उपन्यास बहुत ही सफल सिद्ध हुए। 'चन्द्रकांता' तो इतना अधिक लोक-प्रिय हुआ कि उसे पढ़ने के लिए न मालूम कितने लोगों को हिन्दी सीखनी पड़ी। इनके बाद किशोरीलाल गोस्वामी का नाम आता है। समाज का विलासमय वातावरण अङ्कित करने वाले इन्होंने ६५ उपन्यास लिखे। इनमें 'चपला', 'तारा', 'लीलावती', 'अंगूठी का नगीना' तथा 'लखनऊ की कब्र' विशेष प्रसिद्ध हुए। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल', ये दो उपन्यास लिखे। गोपालराम गहमरी ने कई जासूसी उपन्यास लिखे।

इस युग में आख्यायिका लेखन का क्रम भी प्रारम्भ हो गया था। गिरिजाकुमार घोष ने कुछ कहानियाँ लिखीं अवश्य, परन्तु उनमें प्रौढ़ता नहीं थी।

निबन्ध-क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक कार्य हुआ। द्विवेदीजी तो स्वयं निबंध-लेखक एवं आलोचक थे ही, इनके अतिरिक्त चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा, बा० श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अच्छे निबन्ध लिखे। पं० रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध विचारात्मक हैं और अत्यन्त उच्च कोटि के हैं।

समालोचना का प्रारम्भ बदरी नारायण चौधरी ने किया। इन्होंने अपनी पत्रिका 'आनन्द-कादम्बिनी' में श्री निवासदास विरचित नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की समालोचना प्रकाशित की। यह एक लेख के रूप में थी। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पुस्तक रूप में समालोचनाएँ लिखीं। मिश्र बन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' नामक दो आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे। पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक समालोचना की शैली पर कविवर बिहारीलाल की आलोचना लिखी। इस युग की समालोचनाओं

में कवि या लेखक की अन्तः प्रकृति में पैठने का प्रयास लक्षित नहीं होता है।

गद्य के तृतीय उत्थान-काल अथवा वर्त्तमान युग में गद्य के विकास के विशद स्वरूप के दर्शन होते हैं। नाटक, उपन्यास, आख्यायिका निबंध और समालोचना-साहित्य के सभी अङ्गों की भी वृद्धि हो रही है।

बाबू जयशङ्कर प्रसाद ने नाटक के क्षेत्र की काया ही पलट दी। जहाँ अभी तक के नाटकों में चरित्र-चित्रण पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था, वहाँ प्रसाद ने चरित्र-चित्रण को विशेष महत्त्व दिया। साथ ही नाटकों के 'रस' वाले तत्त्व पर विशेष बल दिया। प्रसाद ने अपना क्षेत्र प्राचीन हिन्दू-काल से चुना है। इन्होंने 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नाग यज्ञ', 'स्कंदगुप्त', 'विशाख', 'चन्द्रगुप्त', 'कामना' आदि कई उच्च कोटि के नाटक लिखे हैं। 'स्कन्दगुप्त' सर्वोत्तम है। इनके नाटकों में दो दोष हैं। भाषा अपेक्षाकृत अधिक क्लिष्ट है तथा नाटक अभिनय करने योग्य नहीं।

प्रसाद के बाद नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी का नाम आता है। उन्होंने अपना क्षेत्र मुसलिम-काल से चुना है। 'रक्षा बन्धन' इनका सबसे अच्छा नाटक है। इनके अतिरिक्त आज कल अन्य अनेक नाटककार सुन्दर रचनाएँ लिख रहे हैं। यथा—(१) बद्रीनाथ भट्ट (दुर्गावती, तुलसीदास) (२) उग्र (महात्मा ईसा) (३) माखनलाल चतुर्वेदी, (कृष्णार्जुन युद्ध) (४) जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद (प्रताप-प्रतिज्ञा) (५) राधेश्याम (वीर अभिमन्यु) (६) सुमित्रानन्दन पन्त (ज्योत्स्ना) (७) लक्ष्मी नारायण मिश्र (राजयोग, राक्षस का मन्दिर, संन्यासी, सिन्दूर की होली आदि)। (८) सेठ गोविन्द दास ('उषा', 'हर्ष', 'कर्त्तव्य', 'प्रकाश', 'नवरस', कुलीनता आदि) (९) रामनरेश त्रिपाठी (जयन्त) तथा (१०) उदयशङ्कर भट्ट (सगर विजय)।

इधर कुछ वर्षों से हिन्दी में एकांकी नाटकों की रचना प्रारम्भ हो गई है और वे अत्यधिक लोक प्रिय हो रहे हैं। एकांकी नाटककारों में मुख्य हैं। सर्व श्री सुदर्शन, रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, उपेन्द्र नाथ 'अश्क' भगवती चरण वर्मा, धर्मप्रकाश तथा उदयशङ्कर भट्ट।

मौलिक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत के कुछ नाटकों के हिन्दी में अनुवाद भी हुए हैं। यथा—'स्वप्नवासवदत्ता' (अनुवादक सत्यजीवन वर्मा), 'पंचरात्र', 'मध्यम व्यायोग', 'प्रतिज्ञा-यौगंधरायण (अनु० व्रज-जीवन दास), और 'प्रतिमा' (अनुवादक बलदेव शास्त्री)। 'दिङ्नाग' के नाटक 'कुन्दमाला' का वागीश्वर विद्यालङ्कार ने हिन्दी में अनुवाद किया है।

उपन्यास-क्षेत्र में सबसे पहिले प्रेमचन्द का नाम आता है। वे हिन्दी के उपन्यास सम्राट हैं। उन्होंने हिन्दी को कई सामाजिक उपन्यास दिए। इनके उपन्यासों में चरित्र-चित्रण, परिस्थिति चित्रण, वस्तु-विन्यास तथा मानव-हृदय का विश्लेषण उच्चकोटि के होते हैं। इनकी भाषा चलती हुई तथा प्रवाहयुक्त है। इन्होंने 'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'सेवा-सदन', 'निर्मला', 'गबन', प्रेमाश्रम', 'रंग भूमि', 'काया कल्प', 'कर्म भूमि' तथा 'गोदान', ये १० उपन्यास लिखे हैं। हिन्दी के अन्य प्रमुख उपन्यास-कारों की कृतियाँ इस प्रकार हैं—(१) जयशंकर प्रसाद (कङ्काल, और तितली)। (२) विश्वम्भरनाथ कौशिक (भिखारिणी और माँ)। (३) सुदर्शन (जीत की हार)। (४) वृन्दावनलाल वर्मा (गढ़कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, मृगनयनी, सोना, कुण्डली चक्र और संग्राम)। (५) मुंशी प्रतापनारायण श्रीवास्तव (विदा, विकास, विजय)।

इनके अतिरिक्त चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', विनोदशंकर व्यास, जैनेन्द्रकुमार, शिवपूजन सहाय, आदि अनेक लेखक इस क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं।

प्रारम्भिक कहानी लेखकों में प्रेमचन्द और 'प्रसाद' के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द ने घटनात्मक तथा प्रसाद ने भावात्मक कहानियाँ लिखी हैं। प्रेमचन्द की कहानियों का सामाजिक दृष्टि से तथा प्रसाद की कहानियों का ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी साहित्य में उच्च स्थान है। आज-कल कहानियों की बाढ़-सी आगई है। प्रत्येक पत्र-पत्रिका में कहानियों की भरमार रहती है। प्रमुख कहानीकारों में 'कौशिक', 'हृदयेश', 'उग्र',

'सुदर्शन', जैनेन्द्रकुमार, रायकृष्णदास, बिनोदशङ्कर व्यास तथा 'रावी' के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। हास्यरस की कहानियां लिखने वालों में जी० पी० श्रीवास्तव तथा अन्नपूर्णानन्द प्रसिद्ध हैं।

इस युग में निबन्ध-क्षेत्र में भी काफी उन्नति हुई है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताञ्जलि' के भाव लेकर इधर भावात्मक निबन्धों की ओर लोग विशेष आकर्षित होने लगे हैं। रायकृष्णदास ने 'साधना', चतुरसेन शास्त्री ने 'अंतस्तल', तथा वियोगी हरि ने 'आर्तनाद' और 'भावना' नामक भावात्मक निबन्ध-ग्रन्थ लिखे हैं। भावात्मक निबन्धों के कारण भाषा के प्रकृत विकास में बाधा पड़ती है।

विश्लेषणात्मक समालोचना के पथ-प्रदर्शक हैं आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल। वर्त्तमान समालोचना इन्हीं के द्वारा प्रशस्त पद्धति पर हो रही है। शुक्ल जी कवि या लेखक की अन्तरात्मा में प्रवेश करके उसके गुण-दोषों का विवेचन करते हैं। उनकी जायसी, सूर तथा तुलसी की समालोचनायें हिन्दी साहित्य की अमर विभूतियाँ हैं। अन्य विद्वानों ने भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनमें प्रमुख हैं—बाबू श्यामसुन्दर दास, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, कृपाशङ्कर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल, डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सद्गुरुशरण अवस्थी, कन्हैयालाल पोद्दार, बाबू गुलाबराय तथा पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि हिन्दी गद्य-साहित्य की वर्तमान गतिविधि सर्वथा आशाजनक है, उसकी सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है। दोष केवल एक है—आजकल के बहुत से हिन्दी लेखक अंग्रेजी का अनुकरण करने लगे हैं। चिन्तन एवं मनन द्वारा मौलिक विचार-धारा का प्रतिपादन करने के स्थान पर वे अंग्रेजी के भावों को हिन्दी में लिखने में अधिक गौरव समझते हैं।

हिन्दी अब राज भाषा एवं राष्ट्र भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी है। हिन्दी में अब अन्यान्य विषयों—विज्ञान, गणित, वाणिज्य, राजनीति, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, आदि पर नित्य नई पुस्तकें लिखी जा रही हैं। हमें विश्वास है कि निकट भविष्य में ही हिन्दी का गद्य साहित्य पूर्णतया

समुन्नत होकर विश्व की किसी भी भाषा के गद्य के समकक्ष अपना मस्तक उन्नत कर सकेगा। भारत और भारती की प्रतिष्ठा और शोभा इसी में है कि भारतवर्ष के विचारक हिन्दी गद्य-साहित्य को अपनी श्रेष्ठतम कृतियाँ समर्पित करें।

---

१८ : सूर सूर तुलसी ससी

रूपरेखा—

(१) उक्ति का अभिप्राय।

(२) दोनों भक्त, एक कृष्ण के और दूसरे राम के।

(३) उनकी उपासना पद्धति में अन्तर।

(४) सूर ने मानव-जीवन के आत्म-पक्ष का उद्घाटन किया और तुलसी ने उसके साथ लोक-पक्ष का समन्वय भी किया।

(५) सूर ने केवल पद रचे। तुलसी ने समस्त प्रचलित काव्य पद्धतियों पर लिखा।

(६) सूर मुक्तक गीतिका। तुलसी दोनों—मुक्तक तथा प्रबन्ध काव्य के रचयिता।

(७) सूर ब्रजभाषा के कवि। तुलसी ब्रज और अवधी दोनों के।

(८) सूर ने केवल वात्सल्य रस तथा शृंगार रस के क्षेत्र को अपनाया। तुलसी ने समस्त रसों से सम्बन्धित रचनायें लिखीं।

(९) चरित्र-चित्रण, तुलसी की सबसे बड़ी विशेषता।

(१०) अनूठी उक्तियाँ, सूर की विशेषता।

(११) उपसंहार।

उपर्युक्त उक्ति निर्णयात्मक समालोचना का एक उदाहरण है। इससे जन साधारण भली भाँति परिचित है। इसके द्वारा तुलसीदास और सूरदास की पारस्परिक तुलना करते अथवा उनके हिन्दी-काव्य जगत् में

स्थान निर्दिष्ट करने का प्रयास किया गया है। यह उक्ति अन्त में 'उडुगन केसवदास' जोड़कर पूरी होती है। इसके अनुसार सूर का स्थान प्रथम, तुलसी का द्वितीय तथा केशव का स्थान तृतीय ठहरता है। इस प्रकार उपर्युक्त उक्ति का यह अर्थ होता है कि "सूरदास सूर्य हैं, तुलसीदास चन्द्रमा हैं तथा केशवदास तारागण हैं।" तब तो यह समझ लेना चाहिये कि तुलसीदास में जो कुछ है वह सूरदास का ही है, क्योंकि चन्द्रमा में निजी प्रकाश तो होता नहीं है, वह सूर्य के प्रकाश को प्रतिफलित करके ही चमकता है। हमारा विश्वास है कि पाठक तुलसी को इतना तुच्छ स्थान देने में असमर्थ होंगे।

इस उक्ति का दूसरा अर्थ इस प्रकार किया जाता है। साहित्य में चन्द्रमा का ही अधिक वर्णन होता है; उसे सुन्दरता, शीतलता तथा आनन्द तीनों का ही प्रतीक माना जाता है। बस हिन्दी के साहित्याकाश में तुलसीदास का भी यही स्थान है।

जो भी हो, हमारे विचार से दोनों की तुलना करना उचित नहीं है। इनमें कौन बड़ा है तथा कौन छोटा है, यह निर्णय करना केवल बालहठ है। दोनों ही कवि हैं, दोनों ही भक्त हैं, दोनों ही स्रष्टा हैं, दोनों ही महान् हैं, तथा दोनों ने ही लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर लिखा है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेष रूप से मनन करने योग्य हैं—

"पहले भगवान् का हँसता-खेलता रूप दिखाकर सूरदास ने हिन्दू जाति की नैराश्य-जनित खिन्नता हटाई जिससे जीवन में प्रफुल्लता आगई। पीछे तुलसीदास ने भगवान् का लोक-व्यापार-व्यापी मंगलमय रूप दिखा कर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया। अब हिन्दू जाति निराश नहीं है।"

+ + + +

"यहाँ तक कि सूरदास तक आते-आते भगवान् की लोकरंजनकारिणी प्रफुल्लता की पूर्ण व्यञ्जना हो गई। अंत में उनकी अखिल जीवन-वृत्ति-व्यापिनी कला को अभिव्यक्त करने वाली वाणी का मनोहर स्फुरण तुलसी के रूप में हुआ।"

वास्तव में दोनों की कला निरपेक्ष है।

तुलसीदास राम के भक्त हैं और सूरदास कृष्ण के। तुलसीदास के राम राजकुमार हैं तथा सूर के एक गायें चराने वाले ग्वालिया। फलस्वरूप तुलसी की भक्ति है दास्य भाव को लिये हुये तथा सूर की भक्ति है सख्य भाव समन्वित।

लोग कहते हैं कि तुलसीदास के राम, सौन्दर्य और शील के साथ-साथ शक्ति से भी परिपूर्ण हैं। जहाँ एक ओर वह भक्तों को आनन्द देने वाले तथा स्वजनों के आज्ञाकारी हैं, वहाँ दूसरी ओर वह दुष्टों, पापियों तथा राक्षसों का निष्ठुरतापूर्वक वध करने में सर्वथा समर्थ हैं। सूरदास के कृष्ण में सौन्दर्य की ही प्रधानता है। तुलसीदास ने अपने उपास्यदेव राम में सौन्दर्य और सदाचार के उत्कर्ष के साथ-साथ लोक की रक्षा करने वाली शक्ति का भी पूर्ण प्रदर्शन किया है और सूरदास ने अपनी भक्ति के आलम्बन के व्यक्तिगत जीवन की ही प्रतिष्ठा की है, समाज से सम्बन्धित उनके स्वरूप की प्रतिष्ठा नहीं की है। परन्तु हम इस विचार से सहमत नहीं हैं। हालांकि तुलसी की भांति सूर ने कृष्ण-जन्म के कारण की इस प्रकार स्पष्ट घोषणा तो नहीं की है—

जब जब होय धरम कै हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाहि नहिं बरनी।
सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

परन्तु श्रीकृष्ण का समाज-सेवी वाला स्वरूप सर्वथा उनकी आँखों से ओझल ही बना रहा हो, यह बात नहीं है। सूरदास की अंधी आँखों ने कृष्ण का वीर-स्वरूप भी देखा था। महाभारत का प्रसंग है। जब श्रीकृष्ण भीष्म पितामह के ऊपर चक्र लेकर दौड़ पड़े थे। पितामह शर-शय्या पर पड़े-पड़े कृष्ण का स्मरण कर रहे हैं। सूरदास ने बाल-ब्रह्मचारी के अनुरूप ही भगवान् का चित्र खींचा है—

वा पट पीत की फहरान ।
कर लै चक्र चरन की धावन नहिं विसरत वह बान ।
रथ तें उतरि अवनि आतुर है कच रज की लपटान ।
मानों सिंह सैल तें निकस्यो महामत्त गज जान ।
जन गुपाल मेरौ पन राखौ मेंट बेद की कानि ।
सोई सूर हमारे सहाय निकट भए हैं आनि ।

जिस प्रीति-पद्धति पर जयदेव और विद्यापति ने कृष्ण का गुणगान किया था, सूरदास ने उसी पद्धति पर मुक्तक पदों की रचना की। सूरदास ने काव्यावेग में मुक्त होकर एक ही विषय पर अनेक पद लिखे हैं और वे श्रीकृष्ण के बाल-चरित्र तक ही सीमित रहे हैं। अतः उनका क्षेत्र संकुचित है परन्तु गहरा अथवा अगाध है। तुलसीदास ने काव्य के दोनों रूपों—प्रबन्ध और मुक्तक—को अपनाया है, और दोनों पर खूब लिखा है। 'रामचरितमानस' प्रबन्ध काव्य-कौशल का अद्वितीय उदाहरण है। इसमें कहीं भी तनिक-सी भी शिथिलता नहीं आने पाई है। प्रबन्ध का प्रवाह अबाध रूप से प्रवाहित होता चला आता है। तुलसी की 'विनय पत्रिका' उनकी प्रबन्ध-पटुता का दूसरा उदाहरण है। दोहावली, उनकी मुक्तक रचना है। गीतावली, कृष्ण गीतावली कवितावली, जानकी मंगल, पार्वती मङ्गल आदि उनकी प्रबंधात्मक मुक्तक रचनायें हैं। मुक्तक और प्रबंध, दोनों क्षेत्रों पर अधिकार तुलसी की अप्रतिम प्रतिभा का परिचायक है। डा० सत्येन्द्र के शब्दों में "सूर ऐसा प्रतीत होता है केवल वर्णन के लिए लिखता चला जा रहा है, और उनमें यह उमंग स्पष्ट दीखती है कि वह इस विषय पर अंतिम शब्द कह देना चाहते हैं। तुलसी का वर्णन कथा के लिए है।" सूर ने जिस विषय पर कहना प्रारम्भ किया, उस पर वह कहते ही चले गए और परवर्ती कवियों के लिए कुछ न छोड़ा। सूर की गहराई तक तुलसी भी न पहुँच सके। इनके बाद के कविगण केवल इन्हीं की परिपाटी को पीटते रहे। फलस्वरूप निम्नलिखित लोकोक्ति चल पड़ी—

तत्त तत्त की कबिरा कहिगा सूरै कही अनूठी।
रही सही कठमलिया कहिगा और कही सब जूठी॥

सूरदास और तुलसीदास के समय में पाँच काव्य-शैलियाँ प्रचलित थीं। यथा—

(१) वीर-गाथा काल की छप्पय पद्धति (ग) कबीरदास की नीति-सम्बन्धी वानी की दोहा-पद्धति, जो अपभ्रंश काल से चली आती थी। (३) जायसी आदि सूफ़ी कवियों की दोहा-चौपाई वाली पद्धति। (४) विद्यापति और सूरदास की गीति-पद्धति तथा (५) गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया वाली पद्धति। और उन दोनों काव्य-रचनाओं के दो रूप थे—अवधी और ब्रजभाषा। सूरदास ने ब्रजभाषा में गीत-पद्धति पर (जन श्रुति के अनुसार) सवालाख पद लिखे! तुलसीदास ने भाषा के दोनों रूपों तथा रचना-शैली की पाँचों पद्धतियों में रचना की।

ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर में पाते हैं, वही माधुर्य हम गीतावली तथा कृष्ण गीतावली में पाते हैं। विनयपत्रिका तथा हनुमान बाहुक में वह और भी सुसंस्कृत होगया है। जायसी के पदमावत में मिलने वाला ठेठ अवधी का मिठास हमें गोस्वामीजी कृत जानकी मंगल, पार्वती मंगल, बरवैरामायण और रामलला नहछू में मिल जाता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि न जायसी का ब्रजभाषा पर अधिकार था और न सूर का अवधी पर।

भाषा के दोनों रूपों के समान उनका विभिन्न रचना शैलियों पर भी पूर्ण अधिकार था।

वीरगाथा-काल की छप्पय पद्धति पर इनकी 'कवितावली' के कुछ छप्पय ही लिखे गए हैं, परन्तु वे पूर्ण निपुणता से लिखे गए हैं—

कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत।
चरन-चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
विकट कटक विद्दरत वीर बारिद जिमि गज्जत।
लंगूर लपेटत पटकि भट, 'जयति राम जय' उच्चरत।
तुलसीदस पवननंदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥

कबीर की दोहावाली पद्धति पर उनकी दोहावली है। इसमें नीति के उपदेश की सूक्ति पद्धति पर अनेक दोहे हैं—

रीझि आपनी बूझि पर, खीझि विचार विहीन।
ते उपदेस न मानहीं, मोह-महोदधि मीन॥

जायसी की दोहा-चौपाई वाली पद्धति पर इनका 'रामचरित मानस' लोक-प्रसिद्ध है ही।

गीत पद्धति पर गीतावली, कृष्ण गीतावली तथा विनयपत्रिका, ये तीन ग्रन्थ हैं। यथा—

बिलोके दूर तें दोउ बीर।
मन अगहुँड़ तन पुलक सिथिल भयो,नयन-नलिन भरे नीर।
गड़त गोड़ मनो सकुच पङ्क महँ, कढ़त प्रेम बल धीर॥

कहना न होगा कि गीतावली की रचना गोस्वामीजी ने सूरदास के अनुकरण पर की थी। बाललीला के कई पद ज्यों के त्यों रख दिए गए हैं। केवल 'राम' और 'श्याम' का अन्तर है। इस अनुकरण के कारण गीतावली के 'उत्तरकाण्ड' में तुलसीदास को राम की मर्यादा का भी ध्यान नहीं रहा और उन्होंने राम के हिंडोला, होली आदि के भी वर्णन लिख डाले। यथा—

आजु बन्यो है बिपिन देखो रामधीर।
मानों खेलत फागु मुद मदनबीर॥

गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया-पद्धति पर 'कवितावली' उपलब्ध है। कवितावली में रसानुकूल शब्द योजना बड़ी ही सुन्दर है। यथा—

सुनि सुन्दर बैन सुधा रस साने सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुझाइ कछू मुसकाइ चली॥
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकत लोचन-लाहु अली।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै बिगसी मनो मंजुल कंज कली॥

प्रसंग कोमल है। अतएव भाषा भी अत्यन्त कोमल है। कवित्त में वीर और भयानक प्रसंग के अनुकूल कठोर शब्दावली का प्रयोग भी उन्होंने बड़ी कुशलता से किया है।

सूरदास को मुख्यतः शृंगार और वात्सल्य का कवि समझना चाहिये। यह बात दूसरी है कि दो-एक जगह भयानक रस तथा वीर रस

सम्बन्धी रचनायें मिल जाती हैं। वात्सल्य रस का स्थायी भाव है, अपत्यस्नेह, जो छोटों के प्रति रति भाव के अतिरिक्त, और कुछ नहीं है, तो वात्सल्य रस भी शृंगार रस में अन्तर्भूत हो जाता है। इस दृष्टि से सूरदास केवल शृंगार रस के कवि ठहरते हैं। वात्सल्य रस के अन्तर्गत उन्होंने माता यशोदा के प्रेम का वर्णन किया है और शृंगार रस के अन्तर्गत कृष्ण के प्रति राधा और गोपियों के प्रेम का। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि सूरदास ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का सर्वांगीण एवं सर्वांग सुन्दर निरूपण किया है। इन दोनों रसों के वह सबसे बड़े कवि हैं।

कृष्ण की बाल लीलाओं के वर्णनों में वह माता के हृदय का कोना-कोना झांक आए हैं। कहीं बाल सुलभ स्पर्द्धा के भाव का 'मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी' जैसे पद में सुन्दर वर्णन है, तो कहीं हार-जीत के खेल में बालकों के क्षोभ का इस प्रकार वर्णन किया है—

खेलत में को काको गोसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैया।
जाति पाँति हमते कछु नाँहि, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।

इसी प्रकार माता के कोमल हृदय का स्वरूप देख लीजिये :

सिखवत चलन जसोदा मैया।
अर बराइ कर पान गहावत, डगमगाइ धरती धरै पैयाँ।

तथा—

संदेसों देवकी सों कहियो।
हौं तौ धाइ तिहारे सुत की मया कहत ही रहियो।

सूर के प्रेम में रूप-लिप्सा और साहचर्य दोनों हैं। बाललीला के सखा-सखी आगे चलकर यौवन-क्रीड़ा के पति-पत्नी बनते हैं। संयोग-सुख के जितने प्रकार के भी क्रीड़ा-विधान हो सकते हैं, सूर ने सबका वर्णन किया है। आगे चल कर जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं, तब गोपियों की विरह-व्यथा का वर्णन करके सूरदास ने विरह के समस्त रूपों का उद्घाटन

किया है। उद्धव-गोपी संवाद अथवा भ्रमरगीत के अन्तर्गत उन्होंने शुष्क-ज्ञान पर भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन तथा विरह-निरूपण की गङ्गा-जमुना एक साथ बहाई है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, "प्रेम नाम की मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और पूर्ण परिज्ञान सूर को था वैसा और किसी को नहीं।" सूरदास के वर्णन सर्वथा स्वाभाविक एवं सजीव हैं। वे बड़े ही मार्मिक हैं। उनके पदों के विषय में निम्नलिखित लोकोक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है—

किधौं सूर कौ सर लग्यौ किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर कौ पद लग्यौ तन मन धुनत सरीर।

तुलसीदास ने राम-चरित-सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्य लिखा और समस्त रसों का निरूपण किया। उन्होंने प्रेम, शोक, भय, उत्साह, क्रोध, हास्य, निर्वेद आदि समस्त भावों को स्पर्श किया है। जनकपुर की वाटिका में सीता और राम के मिलन में प्रेम का, रामचन्द्र जी के वन-गमन के अवसर पर तथा लक्ष्मण के शक्ति लगने के समय शोक का, हनुमान जी द्वारा लंका जलाई जाने पर भय का, राक्षसों के बध के समय उत्साह का, नारद-मोह प्रसंग में हास्य का, परशुराम-संवाद में क्रोध का, लङ्का काण्ड में राक्षसों की लोथों के साथ पिशाचिनियों की क्रीड़ा में जुगुप्सा का, द्रोणाचल पर्वत को ले जाते हुए हनुमान जी के चित्र में अद्भुतता के सफल चित्रण हुए हैं। उत्तरकाण्ड तो शान्त रस निरूपण के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। हरिऔधजी ने ठीक ही कहा था कि 'कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।" यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि तुलसीदास के श्रृंगार-वर्णन सदैव मर्यादित रहे हैं और सूरदास के वर्णनों में कहीं-कहीं मर्यादा का अतिक्रमण हो गया है। यथा—

नीवी ललित गही हरि राई।
ज्यों ही हाथ धर्यौ श्रीफल पर त्यों जसुमत गई आई।

परन्तु इतना अवश्य है कि तन्मयता तथा बाल-लीला के सूक्ष्म,

स्वाभाविक और हृदयग्राही वर्णन की दृष्टि से सूरदास तुलसीदास से बहुत आगे बढ़े हुए हैं।

बाह्य-दृश्यों के चित्रण में प्रकृति-चित्रण का स्थान प्रमुख है। इस क्षेत्र में भी तुलसीदास सूरदास को पीछे छोड़ जाते हैं। हालांकि दोनों कवियों ने प्रकृति-चित्रण प्रायः अलङ्कार-सामग्री और उद्दीपन विभाव के ही रूप में किया है, परन्तु फिर भी कहीं-कहीं पर प्रकृति की संश्लिष्ट योजना द्वारा तुलसीदास आगे बढ़ गए हैं। तथा—

दादुर मुदित, भरे सरित सर, महि उमग जनु अनुराग।
पिक, मोर, मधुप, चकोर चातक सोर उपवन बाग।

(वर्षा-वर्णन, उत्तरकाण्ड गीतावली)

फटिक सिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललितलता-जाल हरति छबि बितान की।
मंदाकिनीतटिनि-तीर, मंजुल-मृग-बिहंग-भीर,
धरि मुनि गिरा गभीर सामगान की।
मधुकर पिक बरहिमुखर, सुन्दर गिरि निरझर झर,
जल-कन छन छाँहि, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतु-पति प्रभाउ, संतति बहै त्रिबिधि बाउ,
जनु बिहारबाटिका नृप पंचबान की।

(चित्रकूट वर्णन)

इसी प्रकार तुलसीदास जी ने तत्पर मनुष्य की मुद्रा का चित्रण करके रूप का प्रत्यक्षीकरण किया है। देखिए आखेट के समय मृग को लक्ष्य करके बाण खींचते हुए रामचन्द्र का कैसा सजीव चित्र उन्होंने सामने खड़ा किया है—

सुभग सरासन-सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे।
जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौहैं तकत सुभौंह सकोरे।

मारीच के पीछे लक्ष्य साधते हुए राम की छवि देखिए :

जटा-मुकुट, कर सर-धनु संग मरीच।
चितवनि बसति कनखियनु अँखियन बीच।

काव्य के कलापक्ष के अन्तर्गत उक्ति वैचित्र्य अथवा अनूठी उक्तियों का विशेष महत्त्व रहता है। इस क्षेत्र में सूरदास तुलसीदास से बहुत आगे हैं। 'सूरै कही अनूठो' का यही अभिप्राय है। यथा—

(१) उर में माखन चोर गड़े।
कब कैसेहुँ निकसति नहिं ऊधौ, तिरछे ह्वै जु अड़े।

(२) निर्गुन कौन देस को बासी।
मधुकर ! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।

ऐसी ही अनूठी उक्तियों के द्वारा ज्ञान-मण्डिता भक्त गोपियों ने उद्धव जैसे प्रकाण्ड पंडित एवं अद्वितीय ज्ञानी को निरुत्तर कर दिया था। ज्ञान-मार्त्तण्ड ने झुलसे हुए उद्धव भक्ति की सुधा धार के कारण सरस सुहाए हो गये थे।

सूर और तुलसी दोनों ही भक्त थे और दोनों ही ने स्वान्तः सुखाय काव्य का सृजन किया था। परन्तु तुलसी की विशेषता यह है कि उन्होंने लोकहित का सदैव ध्यान रखा। प्रत्येक क्षण वह इस बात का ध्यान रखते थे कि इस विषय में लोग क्या कहेंगे। उनका तो स्पष्ट मत था कि—

जे प्रबन्ध नहिं बुध आदरहीं। सो श्रम बाद बाल कवि करहीं।

तथा—

कीरति भनित भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई।

उनकी तो भक्ति भी वेद-शास्त्रसम्मत थी—

श्रुति-सम्मत हरिभक्ति-पथ, संजुत बिरति बिवेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह-बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥

गोस्वामीजी केवल भक्त और कवि ही नहीं थे। वह एक सुधारक भी थे। सूरदासने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ सिद्ध किया। तुलसीदास ने दोनों में सामंजस्य स्थापित किया। इतना ही नहीं विभिन्न उपास्य देवों के भेद-भाव को भी मिटाया। शैवों और वैष्णवों के विरोध के परिहार का प्रयत्न रामचरितमानस में स्थान-स्थान पर लक्षित होता है। शिव को राम का

सबसे बड़ा भक्त बनाया, पर साथ ही राम को शिव का उपासक बनाकर गोस्वामीजी ने दोनों का महत्त्व प्रतिपादन किया। तुलसी के राम ने स्पष्ट घोषणा की थी—

शिव द्रोही मम दास कहावै। सो नर सपनेहुँ मोहि न भावै ॥

वे कहते हैं कि "शंकर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास" मुझे कदापि पसद नहीं है।

आप जीवन के किसी भी प्रसंग अथवा अवसर को ले लीजिए। उससे संबन्धित चौपाई आपको तुलसी कृत रामचरितमानस में मिल जाएगी। बस, तुलसी की सबसे बड़ी यही विशेषता है।

सूरदास ने उत्प्रेक्षा तथा उपमा अलङ्कारों को ही विशेषतया अपनाया है। तुलसी की रचनाओं में इमें प्रायः समस्त अलङ्कार मिल जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अलङ्कारों को चार विभागों (भावों की उत्कर्ष व्यंजना में सहायक अलङ्कार, रूप का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलङ्कार, क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलङ्कार तथा गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलङ्कार) में विभक्त करके 'गोस्वामी तुलसीदास' पुस्तक के अन्तर्गत 'अलङ्कार-विधान' वाले पाठ में इस विषय को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट किया है। सूर के अलंकार उक्ति-वैचित्र्य को बढ़ाने, रंग को तीव्र करने के लिए तथा उनकी ऊहा की पूर्ति करने के लिए हैं। तुलसी के अलङ्कार रूप भी खड़ा करते हैं, गति भी प्रदान करते हैं तथा उपदेश भी देते हैं। संक्षेप में अलंकार उनके भावों की अभिव्यक्ति के लिए हैं।

सूर ने मानव-जीवन के तत्त्वों का स्पर्श किया है, तुलसी ने जीवन के तत्त्वों के उद्घाटन के साथ-साथ नियम आचार और नीति का प्रतिपादन किया है। सारांश यह है कि मानव-जीवन पर तुलसी ने सूर की अपेक्षा अधिक विस्तार से लिखा है।

१६ : विश्व शान्ति और भारतीय संस्कृति

रूपरेखा—

१—विश्व में अशान्ति के कारण।
(अ) अर्थवाद।
(ब) राष्ट्रिय भावना पर अत्यधिक बल।
(स) आध्यात्मिक जीवन की उपेक्षा।

२—विश्व शान्ति के उपाय।
(अ) सरल जीवन तथा उच्च विचार।
(ब) जीवन में आध्यात्मिकता की आवश्यकता।
(स) अंतर्राष्ट्रियता तथा विश्व बन्धुत्व के भावों का प्रचार

३—भारतीय संस्कृति विश्व-शान्ति-स्थापन में सर्वथा समर्थ है।
(अ) भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ।
(ब) भारतीय संस्कृति को व्यावहारिक बनाने के उपाय

४—उपसंहार—भारतीय दर्शन के अनुरूप समाजवाद की स्थापना।

सन् १६१४ से १६१६ तक, ५ वर्षों तक होने वाले महायुद्ध के बाद विश्व के बड़े राष्ट्रों ने मिलकर राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना की। राष्ट्र-संघ की स्थापना का उद्देश्य था विश्व से युद्धों को मिटा देना। सम्भवतः वे लोग यह समझते थे कि आपसी छोटे-मोटे झगड़े ही बढ़कर विश्व-व्यापी युद्ध का स्वरूप धारण कर लेते हैं। यदि इन पारस्परिक झगड़ों को सुलझाया जा सके, इन मत-भेदों को दूर किया जा सके, तो विश्व में युद्ध का होना रोका जा सकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्र-संघ की स्थापना की गई थी। परन्तु उसके बाद घटित होने वाली घटनाओं ने बताया कि राष्ट्र-संघ अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहा। उसके अनेक सदस्य एक-एक करके उसे छोड़ने लगे और अन्ततोगत्वा वह भङ्ग कर दिया गया।

सन् १६३६ में द्वितीय विश्व व्यापी महायुद्ध छिड़ गया। वह

सन् १९४५ तक, ६ वर्षों तक चला। उसके बाद संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई। उसकी स्थापना के भी वे ही प्राचीन एवं उच्च उद्देश्य थे और उसे स्थापित करने वाले भी वे ही पुराने राष्ट्र थे। संयुक्त राष्ट्र-संघ बहुत कम समस्याओं को सुलझा पा रहा है, वह किसी प्रकार भी जीवित है। उसके कार्यालय में लम्बे-लम्बे व्याख्यान, भीषण भाषण, उच्च आदर्शों का प्रतिपादन आदि सभी कुछ देखने और सुनने को मिलते हैं। परन्तु संसार के प्रत्येक देश में पूरी शक्ति के साथ युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं। भाषण दिये जाते हैं शान्ति प्रियता एवं शान्ति-स्थापना पर, और प्रबन्ध किये जाते हैं आगामी युद्ध में विजयी होकर एकछत्र राज्य-स्थापन के। कथनी और करनी का यह अन्तर आपको छोटे पैमाने पर अपने देश में भी मिल सकता है। जिसे देखिए वही ईमानदारी, सचाई, त्याग, देश-सेवा, नैतिकता आदि के गुणगान करता हुआ नहीं अघाता है, परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि देश में ईमानदार व्यक्तियों का अकाल पड़ गया है। जिस प्रकार धर्म अब एक रूढ़ि मात्र अथवा भगवान् को धोखा देने का साधन भर रह गया है, उसी प्रकार पूज्य गांधीजी का नाम पाप कर्मों के लिए सुदृढ़ ढाल का काम करने लगा है। प्रातःकाल किया हुआ पूजन हमें मानों दिन भर पाप-कर्मों में प्रवृत्त होने का लाइसेन्स दे देता है। हमारे विचार से प्रत्येक देश की ऐसी ही दशा है। नाम और रूप की दृष्टियों से थोड़ा-बहुत अन्तर भले ही हो।

इस प्रकार विश्व की अशान्ति के मूल में देश की अशान्ति ठहरती है। यदि और आगे तक गम्भीरता पूर्वक विश्लेषण किया जाए, तो इस अशान्ति का क्रम इस प्रकार ठहरेगा। व्यक्ति की अशान्ति समाज की अशान्ति का कारण है और देश की अशान्ति के मूल में समाज की अशांति ठहरती है। विभिन्न देशों की सामूहिक अशान्ति का ही दूसरा नाम विश्व की अशान्ति है। इस अशान्ति को दूर करने के लिए युद्ध छेड़े जाते हैं और युद्ध की समाप्ति को शान्ति समझ कर मानव अगले युद्ध की तैयारी में लग जाता है। स्पष्ट है कि विश्व की अशान्ति को दूर करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को, समाज के प्रत्येक घटक को अपने मन की अशान्ति

दूर करनी पड़ेगी ।

विश्व में युद्ध सदा से होते आए हैं । वे पुरुषार्थ के भी प्रतीक हैं और उन्नति एवं विकास के भी । जीवन स्वयं एक बहुत बड़ा संघर्ष है । मनुष्य का शरीर कुरुक्षेत्र के धर्म-क्षेत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इस धर्म-क्षेत्र में पाण्डव और कौरव रूपी दैवी और आसुरी वृत्तियों का पारस्परिक संघर्ष सदैव चलता है । यह तो हुआ युद्ध का आध्यात्मिक रूप । परन्तु वैसे भौतिक युद्ध भी हमेशा से होते आए हैं । विचारकों के मतानुसार ज़र, ज़मीन और जोरू (धन, पृथ्वी, तथा स्त्री) के कारण ही युद्ध होते हैं । परन्तु हमारे विचार से केवल धन ही समस्त झगड़ों अथवा संघर्षों एवं युद्धों के मूल में ठहरता है । धन और पृथ्वी तो एक ही है । राज्य का विस्तार भी राजकीय कोष में वृद्धि करने की ही दृष्टि से किया जाता है । स्त्री केवल गौण कारण बनती है । राम और रावण के युद्धों का कारण सीता-हरण नहीं था । उसके मूल में था रावण द्वारा अत्यधिक कर वसूल किया जाना, जिसके कारण प्रजाजन दुःखी थे और उनका उद्धार करने के लिए भगवान् को अवतार लेना पड़ा था । महाभारत का युद्ध भी पांच गांवों की संधि-वार्त्ता समाप्त हो जाने के बाद ही छिड़ा था । द्रौपदी का अपमान उसका गौण कारण था । गत दो विश्व व्यापी युद्ध के कारण आर्थिक ही थे, इस तथ्य को कौन नहीं जानता है ?

प्राचीनकाल में महायुद्ध कम होते थे और इस युग में २५ वर्षों के भीतर दो विश्व व्यापी महायुद्ध हो गये । इसका कारण स्पष्ट है । पहिले अर्थ की चर्चा कम थी और अब अधिक है । प्राचीनकाल में जीवन में आध्यात्मिकता का प्राधान्य था । त्यागमय जीवन का विशेष महत्त्व था । व्यक्तित्व का सम्मान था, और धन इत्यादि से सम्बन्धित बातें पीछे थीं । आजकल जीवन में अर्थवाद का प्राधान्य है । अन्य बातें पीछे पड़ गई हैं ।

गत दो शताब्दियों में विज्ञान ने अत्यधिक उन्नति की और हमारा जीवन विलास-प्रिय अथवा आरामपसन्द हो गया । विज्ञान ने हर प्रकार के सुभीते के साधन उपलब्ध कर दिये । अर्थशास्त्र का निरूपण भी नवीन

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया गया और मानव सभ्यता भी अर्थ की मुखापेक्षी बन गई। "जितनी ही अधिक आवश्यकताएँ होंगी, मानव उतना ही अधिक सभ्य समझा जाएगा" सभ्यता एवं उन्नतिशील जीवन की इस नवीन परिभाषा के परिणामस्वरूप मानव-जीवन के आर्थिक स्तर को उच्च करने की चर्चा छिड़ गई और 'अधिकतम धन एकत्रित करो' की प्रवृत्ति का प्रवर्त्तन हुआ, जिसका उदारतम रूप राष्ट्रोन्नति हो सका।

नैतिकता की भी इस दृष्टिकोण के अनुरूप परिभाषा की गई। 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' का प्रतिपादन करके प्रतियोगितावाद वाले सिद्धान्त (Utilitarian Theory) का प्रतिपादन किया गया। १६ वीं शती में भी ब्रैडले ने उसमें इतना और जोड़ दिया कि "यदि किसी की हानि हो, तो न्यूनतम"। नैतिकता की दृष्टि से ब्रैडले ने प्रतियोगितावाद वाले सिद्धान्त में निस्सन्देह कुछ सुधार किया, परन्तु आर्थिक दृष्टि से इसमें कोई मौलिक अन्तर न आया, और उपयोगितावाद वाला सिद्धान्त भी देश की सीमाओं में बद्ध हो गया अर्थात् राष्ट्र-हित-साधन में उपयोगितावाद की पराकाष्ठा समझी जाने लगी। कहने का सारांश यह है कि आधुनिक नवीन विचारधाराओं के प्रवाह में हम अन्तर्राष्ट्रियता की भावना से विमुख होकर राष्ट्र-हित-चिन्तन में मग्न हो गए। देश-प्रेम की झोंक में हम विश्व-प्रेम की चर्चा भूल गए।

इन्हीं दिनों पश्चिम की औद्योगिक क्रान्ति हुई। इस सबका सामूहिक परिणाम यह हुआ कि अर्थवाद ने सभ्यता के नाम पर अनेक नवीन आवश्यकताएँ उत्पन्न कीं, विज्ञान ने उन्नति के नाम पर विलास के नित्य नये साधन उपलब्ध किए तथा मशीनों ने उपयोगिता के नाम पर विपुल उत्पादन प्रारम्भ किया। अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए धन एवं वस्तुओं की आवश्यकता हुई। फल यह हुआ कि प्रत्येक देश राष्ट्रिय संपत्ति की वृद्धि में संलग्न हो गया। उसने उत्पादन को शक्ति भर बढ़ाया। उत्पन्न की हुई सामग्री का यथाशक्ति उपभोग किया। बची हुई सामग्री को विदेशों में खपाने का प्रयत्न किया तथा जो वस्तुएँ स्वदेश में उत्पन्न न हो सकती थीं, उन्हें विदेशों से उपयोगिता की ओट में कम से

कम मूल्य में प्राप्त करने का प्रयत्न किया। बस यहीं से संघर्ष अथवा साम्राज्यवाद का श्रीगणेश हुआ। क्योंकि विश्व के साधन और विश्व के निवासियों की क्रयशक्ति दोनों ही सीमित है। अतः साधनों और बाज़ारों पर अधिकार करने के लिये उपनिवेश और राज्य स्थापित किए जाने लगे। इस आपाधापी में 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' वाली लोकोक्ति का चरितार्थ होना स्वाभाविक ही था। विश्व की अशान्ति की सक्षेप में यही कहानी है।

विश्व को धोखा देने के विचार से नेतागण युद्ध करने के विभिन्न तर्क उपस्थित करते रहते हैं। कभी वे युद्ध को मिटाने के लिए युद्ध की घोषणा करते हैं, तो कभी अन्य देशों को सुसम्पन्न बनाने के लिए आर्थिक सहायताएँ प्रदान करते है। परन्तु सबके मूल में एक ही उद्देश्य ठहरता है। अन्य देशों की आर्थिक व्यवस्था पर अधिकार प्राप्त करना। हम जितनी ही शान्ति वार्त्ताएँ करते हैं, उतनी ही अधिक तीव्रता के साथ युद्ध की तैयारियाँ होती हैं। उपयोगितावाद यदि राष्ट्रिय सीमाओं का उल्लंघन करके अन्तर्राष्ट्रिय क्षेत्र में आसके तो भले ही लाभप्रद सिद्ध हो; यदि हमारी आवश्यकताएँ कम हो जायें, तो भले ही युद्धों की चर्चा बन्द हो। यदि हम सबको एक ही पिता, परमात्मा की सन्तान मानने लगें तो, भले ही पारस्परिक वैमनस्य दूर हो। तात्पर्य यह है कि विश्व की अशान्ति दूर करने के लिये हमें व्यक्ति से प्रारम्भ करना होगा, विश्व की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना होगा। खराबी जड़ में है, डाल-पात सींचने से काम न चलेगा।

व्यक्तिगत जीवन में शान्ति प्राप्त करने का केवल एकमात्र उपाय है अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम कर देना। जितनी ही कम आवश्यकतायें होंगी, उतने ही कम धन की आवश्यकता होगी, और उसी के अनुसार हमें कम आर्थिक संघर्ष करना पड़ेगा। आवश्यकतायें कम करने का उपाय है अपने मन को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित वायुमण्डल के ऊपर उठाना, अर्थात् अपने जीवन को आध्यात्मिक बनाना। आध्यात्मिक जीवन का मूलमन्त्र है 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' अर्थात् जो

बात अपने को बुरी लगती हो, वह दूसरे के प्रति कभी मत करो।' बिना विश्वबन्धुत्व की भावना के उक्त विचार-धारा का व्यवहारगत होना असम्भव है। यदि विश्व-बन्धुत्व के भाव और सर्वांगीण नैतिकता हमारे जीवन के मूल-मन्त्र हों, तो विश्व में शान्ति की स्थापना सम्भव हो।

उपर्युक्त विचार-धारा का भारतवर्ष के आर्य ऋषियों ने बहुत पहले प्रतिपादन किया था। अर्थवाद की उन्होंने एक स्वर से उपेक्षा की थी। 'उच्च विचार, सरल जीवन', आध्यात्मिक जीवन मानव का सबसे बड़ा अधिकार है आदि विचार 'भारतीय संस्कृति' के अभिन्न अंग एवं अनिवार्य तत्त्व हैं। अतएव यह आवश्यक है कि 'भारतीय संस्कृति' के स्वरूप को स्पष्ट कर लिया जाए।

किसी जाति विशेष के चाल चलन, रहन-सहन, आचार-व्यवहार से सम्बन्धित कल्याणमय स्वाभाविक आचरण का नाम 'संस्कृति' है।

सभ्यता और संस्कृति दो पृथक् वस्तुयें हैं। सभ्यता बाह्य परिधान है और संस्कृति अन्तरात्मा के सदृश है। इन दोनों को एक समझ लेने के कारण ही आजकल अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं।

संस्कार, संस्कृत और संस्कृति तीनों शब्दों का एक ही मूल है। संस्कार का अर्थ है दोष-मार्जन अथवा सुधार। धार्मिक कृत्यों को भारतवर्ष में संस्कार कहा जाता है। विदेशों में जड़ वस्तुओं का ही दोष मार्जन किया जाता है। भारतवर्ष में चेतन का भी संस्कार होता है। इस प्रकार भारतीय दृष्टिकोण से 'संस्कृति' शब्द का वाच्यार्थ हुआ 'शुद्ध करना' और लक्ष्यार्थ हुआ, "धर्म, विद्या आदि की उन्नति करना।"

हमारे मानसिक संस्थान पर प्रत्येक क्रिया का प्रभाव पड़ता है और उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप कुछ प्रभाव उत्पन्न होता है। प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न यही प्रभाव वासना, भावना अथवा संस्कार कहा जाता है। अतएव 'संस्कार' शब्द का वाच्यार्थ हुआ 'दोष मार्जन' और दार्शनिक अर्थ हुआ "मनोगत भावना विशेष"। भारतीय संस्कृति में लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार के आचरण सन्निहित हैं और उसका मुख्य उद्देश्य है 'आत्मा का उत्थान करना'।

वेद, उपनिषद् और दर्शनशास्त्र भारतीय संस्कृति के आधार हैं। उनमें धर्म, अर्थ और काम के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का विधान है; त्याग और तपस्या उसके प्राण हैं। भारतीय संस्कृति में आर्थिक दृष्टिकोण का भी समावेश है। गोसेवा उसका प्रमुख अङ्ग है।

भारतीय संस्कृति में सबसे पहिले गुरु और शिष्य आते हैं। सर्वप्रथम शिष्य के प्रति गुरु का उपदेश होता है कि "गुरु की आज्ञा मानना और अधर्म का आचरण न करना।" ऐसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता जो कभी भी उच्छृंखलता का रूप धारण न कर सके, अथवा ऐसी आज्ञाकारिता जो अन्धविश्वास न बन जाए, भारतीय संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। हमें आज ऐसी शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि ईश्वर में आस्था, संयम और तप (सुख दुःख सहने और उनमें समान रूप से बरतने की शक्ति) भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। उसमें अर्थ में त्याग और काम में संयम का पूर्ण विधान है। विश्व की मंगल-कामना लेकर ही भारतवर्ष के आर्य ऋषियों ने साधना की है। भारतीय दृष्टिकोण से हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिये, जो हमारे हृदय में संयम, सहयोग और कर्म-फल-त्याग की भावना से कार्य करने के भाव का वपन करे। इस प्रकार की सांस्कृतिक शिक्षा के द्वारा ही उत्तर-दायी नागरिकों का निर्माण सम्भव हो सकता है। व्यक्तित्व का निर्माण करना ही भारतीय संस्कृति का उद्देश्य है। वही विश्व-शान्ति की आधार-शिला हो सकती है।

भारतीय संस्कृति की उपर्युक्त संक्षिप्त समीक्षा द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष की संस्कृति के अन्तर्गत प्रतिपादित मानव-जीवन का दृष्टिकोण ही विश्व में शान्ति स्थापित कर सकता है।

गत दो महायुद्धों की विभीषिका एवं राष्ट्र-संघ तथा संयुक्त राष्ट्र-संघ की असफलताओं को देखकर विश्व के विचारक सजग होगए हैं। उनका निश्चित मत है कि युद्ध का उपचार युद्ध नहीं है। अग्नि को शान्त करने के लिए घृत नहीं अपितु जल की आवश्यकता है। फलस्वरूप विश्व में आज चारों ओर 'शान्ति' की चर्चा है। वे लोग यह भी समझने लगे हैं कि

जीवन का महत्त्व संग्रह में नहीं बल्कि त्याग में है। इस प्रकार के विचारों का प्रचार करने के लिये सरकारी तथा गैर सरकारी अनेक संस्थाएँ भी स्थापित होने लगी हैं। इस वातावरण के फलस्वरूप विश्व-युद्ध कई बार टाला भी जा चुका है।

पाठक! एक बात भली प्रकार समझ लें। विश्व-युद्ध स्थगित ही किया जा चुका है, निर्मूल नहीं। आग बुझी नहीं है, वह अभी सुलग रही है। बादल बरसे नहीं हैं, परन्तु छिन्न-भिन्न भी नहीं हुये हैं, वे अभी घुमड़ और घिर रहे हैं। इसके कतिपय कारण हैं। प्रथम तो इस प्रकार की शान्ति चर्चाएँ करने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत थोड़ी है। दूसरे चर्चा करने वालों में अधिकांश व्यक्ति केवल चर्चा ही करते हैं, उनमें विश्वास बहुत कम। अर्थात् विश्व-बन्धुत्व, अन्तर्राष्ट्रियता आदि से सम्बन्धित भाव भी मानसिक विकास अथवा मस्तिष्क के व्यायाम के हेतु ही बने हुये हैं, मानव समाज अभी तक उन्हें हृदयगत नहीं कर सका है। उन भावों को केवल महात्मा गांधी ने हृदयंगम किया था और भारतवर्ष जैसे विशाल देश का कल्याण होगया। यदि विश्व में केवल बीस गांधी उत्पन्न हो जायें, तो विश्व का कल्याण हो जाए और मानव समाज को युद्धों की विभीषिका से त्राण मिल जाए।

विश्व में आदर्श समाज स्थापित करने की चर्चाएँ प्रायः होती ही रहती हैं। इसकी व्यवस्था करने के लिए विभिन्न विचारधाराएँ भी यथा-समय जन्म लेती रहती हैं। समाजवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद, लेनिनवाद आदि मत उसी एक वृक्ष की अनेक शाखायें हैं। परन्तु इन सब विचार-धाराओं के अन्तर्गत केवल इस लोक की चर्चा है। वे केवल मानव की चर्चा करती हैं, उसके स्रष्टा की नहीं। यही कारण है कि मानव-समाज की विषमताओं का निदान और उपचार दोनों ही अधूरे हैं। पूर्ण उपचार के लिए पूर्ण निदान करना होगा। भारतीय दर्शन में पूर्ण निदान की व्यवस्था है। उसके अनुसार परमात्मा प्राणी-मात्र का माता-पिता है, अतः हम सब भाई-भाई हैं। पड़ौसी के प्रति भ्रातृवत् व्यवहार करना भारतीय समाज-व्यवस्था का प्रथम सोपान है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी ऐसी ही बात कही

थी—"यदि तुम अपने पड़ौसी से जिसे तुम नित्य देखते हो, प्रेम नहीं कर सकते हो, तो तुम परमात्मा से, जिसे तुमने कभी नहीं देखा है, कैसे प्रेम कर सकोगे ?"

भारतीय दर्शन के अनुरूप समाज की व्यवस्था करके ही विश्व में शान्ति स्थापित करना सम्भव हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

---

२० : साम्यवाद और भारतवर्ष

रूपरेखा—

१—विषय प्रवेश।

२—साम्यवाद का प्रादुर्भाव।

३—साम्यवादी शासन का स्वरूप।

४—भारतवर्ष में साम्यवाद का प्रचार।

५—साम्यवाद की बौद्धिक भूल।

६—साम्यवाद के वर्तमान स्वरूप का भारतीय संस्कृति के अनुकूल न होना।

७—उपसंहार—भारतवर्ष में साम्यवाद का स्वरूप।

आजकल साम्यवाद समस्त विश्व की चर्चा का विषय बना हुआ। विश्व का एक बड़ा भाग अथवा विश्व के अनेक देश उसके विरोधी बने हुये हैं। भारतवर्ष में भी 'साम्यवाद' महत्त्वपूर्ण चर्चा का विषय है। गत निर्वाचन में साम्यवादी विचार-धारा को भारतवर्ष की उल्लेखनीय जन-संख्या का समर्थन प्राप्त हुआ और कई साम्यवादी कार्यकर्त्ता, जिन्हें कम्युनिस्ट कहा जाता है, निर्वाचन में विजयी हुये। भारतवर्ष की वर्त्तमान शासन-पद्धति को साम्यवाद आज चुनौती दे रहा है। यहां का विपुल जन-समुदाय उसकी प्रशंसा के गीत गाता है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने

वाले लेख इत्यादि, कवि सम्मेलनों अथवा मुशाइरों में सुनाई जाने वाली कवितायें आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। गत निर्वाचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतवर्ष में साम्यवाद की धारा दो दिशाओं से—दक्षिण पूर्व तथा उत्तर-पूर्व से बढ़ती चली आरही है।

वर्त्तमान वस्तु स्थिति यह है कि आधे से अधिक विश्व में साम्यवाद का प्रचार है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में उसकी ५ जड़ें भली प्रकार जम चुकी हैं। हम साम्यवाद के समर्थक हों, अथवा विरोधी, परन्तु हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि (१) साम्यवाद का अस्तित्व है (२) साम्यवाद जीवन एवं समाज-व्यवस्था का एक स्वरूप है (३) साम्यवाद मानव जीवन का एक दार्शनिक दृष्टिकोण है (४) साम्यवाद ने जीवन को एक नवीन गति प्रदान की है तथा (५) साम्यवाद के फलस्वरूप दो सुदृढ़ राष्ट्रों का निर्माण हुआ है। इनके नाम रूस और चीन हैं। ये दोनों ही देश सब प्रकार सम्पन्न तथा सुरक्षित हैं। उनका सैन्य-बल इतना अधिक एवं व्यवस्थित है कि उनमें से प्रत्येक विश्व के अन्य देशों से मोर्चा लेने के लिए ताल ठोंक रहा है। कोरिया में होने वाले महायुद्ध में अकेले चीन के सैनिकों के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाओं की बोलती बन्द हो गई है।

इंगलैण्ड और अमरीका साम्यवाद के सबसे बड़े विरोधी हैं। परन्तु साम्यवाद की चर्चा वहां भी है। भारतवर्ष के कर्णधार भी साम्यवाद की भर्त्सना करते हैं। इंगलैण्ड, अमरीका, भारतवर्ष आदि समस्त देशों में साम्यवाद के आन्दोलन हो रहे हैं, वहां के पूंजीपतियों के विरुद्ध वहां के मजदूर अथवा श्रमिक-वर्ग आए दिन आन्दोलन करते रहते हैं। विभिन्न देशों में उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण साम्यवाद का ही प्रतिफल है। कहने का तात्पर्य यह है कि आजकल समस्त संसार में साम्यवाद की लहर फैली हुई है। उसके विरोधी, पूंजीवादी देश भी उसकी लपेट में आगये हैं। इंगलैण्ड और भारतवर्ष के उत्तरदायी विचारकों का साम्यवाद के सैद्धांतिक पक्ष से कोई विरोध नहीं है। वे उसके वर्त्तमान रूप—रूसी ढङ्ग के साम्यवाद—के विरोधी हैं।

भारतवर्ष में दिन प्रतिदिन साम्यवादी विचारों एवं सिद्धान्तों का प्रचार बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में हमारे सम्मुख इस सम्बन्ध में इस प्रकार के अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं कि—क्या साम्यवाद भारतवर्ष के अनुकूल पड़ता है? क्या भारतवासी उसे ग्रहण करने योग्य हैं? क्या हमें उसका विरोध करना है? यदि हां, तो किन उपायों द्वारा? इन समस्त प्रश्नों के उत्तर देने के पूर्व साम्यवाद के लक्षण, उसकी पृष्ठभूमि, उसके सिद्धान्त पक्ष, उसके व्यवहार पक्ष, आदि पर विचार कर लेना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

आदि काल से मानव ने अपने समाज को सुव्यवस्थित बनाने का प्रयास किया है। उस सुव्यवस्थित समाज का लक्ष्य है—समाज के प्रत्येक घटक को सुखी बनाना। भगवान् राम के राज्य में समाज अपने इस आदर्श के बहुत कुछ निकट पहुँच गया था। उसमें समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य-पालन में रत था और किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न था :

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि व्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।

समाज की ऐसी आदर्श स्थिति की व्यवस्था करने के हेतु आधुनिक काल में भी अनेक प्रयोग किए गये। पिछली दो शताब्दियों में इस संबंध में विश्व के सम्मुख अनेक विचारधाराएँ आईं। ये विचारधाराएं 'वाद' कहलाईं। 'साम्यवाद' भी इन्हीं में से एक 'वाद' अथवा विचारधारा है। साम्यवाद का मूल मन्त्र है—मनुष्य मात्र की पारस्परिक समानता और उसका मूल सूत्र है—From each according to his ability to each according to his needs. अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति यथाशक्ति एवं यथायोग्य कार्य करे और प्रत्येक को अपनी आवश्यकतानुसार प्राप्ति हो। इस प्रकार के सामाजिक संगठन से पूंजी और पैदावार दोनों ही व्यक्तियों के हाथों में न रहकर समाज अथवा राज्य के हाथों में चले जाएंगे; उद्योग-धन्धों का समाज अथवा राज्य द्वारा नियन्त्रण होगा, ताकि पूंजीपतियों द्वारा श्रमजीवियों का आर्थिक शोषण दूर हो सके। इस मत को दो भागों में

विभक्त किया जा सकता है—सैद्धांतिक और व्यावहारिक। व्यक्ति यथाशक्ति करे और उसे आवश्यकतानुसार प्राप्ति हो, यह तो हुआ सिद्धान्त पक्ष, तथा शेष हुआ उसका व्यावहारिक पक्ष। हमारे मत में सिद्धान्त पक्ष सर्व मान्य है और व्यवहार पक्ष विवाद ग्रस्त है, अथवा उसके सम्बन्ध में विचारशील विद्वानों में मत-भेद हो सकता है।

उपर्युक्त समाजवादी व्यवस्था का आन्दोलन इंगलैंड के श्रमिक नेता रॉबर्ट ओवेन ने चलाया था। फ्रांस में इसी प्रकार के विचार चार्ल्स फोरियर ने अपनाए। इस व्यवस्था को कार्ल मार्क्स ने एक नवीन रूप दिया। उसने इतिहास की भौतिकवादी मीमांसा की और उसी के आधार पर अपनी विचारधारा बाँधी। सन् १८४८ में समाजवाद के नये रूप की घोषणा हुई और समाजवाद के रूप में वह जनता के समक्ष आया। साम्यवादी विचार-धारा ने विश्व को आदर्शवाद की अनेक उलझनों से छुटकारा दिलाया।

सन् १९१७ में रूस में साम्यवादियों के हाथ में राजसत्ता आई और तब से लेकर वह निरन्तर समृद्ध होती गई। रूस, साम्यवाद तथा साम्यवादी प्रगति की वर्तमान स्थिति सर्व विदित है, और हम उसकी अन्यत्र चर्चा भी कर चुके हैं। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि कार्ल-मार्क्स को आधुनिक समाजवाद अथवा साम्यवाद का प्रवर्त्तक कहा गया।

कार्ल मार्क्स का कहना था कि आर्थिक कठिनाइयां ही समाज के समस्त दुर्गुणों का कारण है। यदि श्रमजीवी सन्तुष्ट रहें, उन्हें पर्याप्त पारिश्रमिक मिल जाए, तो संसार के समस्त कलुष धुल जाएं, समस्त पाप, अनाचार, अत्याचार, व्यभिचार, आदि स्वतः नष्ट हो जाएं; किम्बहुना युद्ध होना ही बन्द हो जाए। इस प्रकार कार्ल मार्क्स के साम्यवाद का अभिप्राय समाज के आर्थिक भेद-भाव का निराकरण था। उसके मतानुसार समाज के केवल दो ही भाग हो सकते हैं—धनी और दरिद्र अथवा पूंजीपति और श्रमजीवी। उनके मतानुसार कोई भी व्यक्ति या तो पूंजीपति है अथवा मज़दूर। इस प्रकार समाज में मध्यमवर्ग के लोगों का कोई स्थान ही नहीं रह जाता है। वे न पूंजीपति हैं और न श्रमजीवी ही।

कार्ल मार्क्स के मन में समाज के एक वर्ग में वे लोग आते हैं, जो व्यक्तिगत लाभ एवं सुख के लिए गरीबों का खून चूसकर अपनी तिजोरियां भरते रहते हैं और दूसरी श्रेणी में वे श्रमजीवी आते हैं जो दिन और रात परिश्रम करते-करते मरे जाते हैं, फिर भी उन्हें भूखा और नंगा रहना पड़ता है। उनके पास न पेट भरने को अन्न है और न तन ढकने को वस्त्र। इस सम्बन्ध में हम केवल इतना ही निवेदन करेंगे कि समाज की स्थिति बहुत कुछ ऐसी ही है और अर्थ मानव-जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है, परन्तु हमारे विचार से मार्क्स ने अर्थ वाले तत्त्व पर अत्यधिक बल दे दिया। अर्थ पर अनुचित बल देने का परिणाम यह हुआ कि समाज में वर्ग-विग्रह अथवा वर्ग-संघर्ष के बीज का वपन हो गया।

साम्यवाद अर्थ पर व्यक्तिगत अधिकार का विरोध करता है। साम्यवादी जमीन और सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार स्वीकार नहीं करता है। उसके मतानुसार राष्ट्र की समस्त सम्पत्ति, जिसमें श्रमजीवी भी सम्मिलित हैं, समाज अथवा राज्य की है। संसार की प्रत्येक वस्तु पर प्रत्येक मनुष्य का समान अधिकार है। धनिक के घर में जन्म लेने मात्र से ही धनिक बन जाना अन्याय है। इस प्रकार साम्यवाद ने पूंजीवाद का खुल्लम खुल्ला विरोध किया और कालान्तर में अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हिंसात्मक उपायों को वैध एवं वांछनीय घोषित कर दिया। आज-कल के तथा कथित साम्यवादी इसी विचारधारा में पल्लवित होकर आए दिन तलवार और खून की चर्चायें करने लगते हैं। शांति-प्रिय विचारकों का इसी कारण उनसे विरोध है। वे साम्यवाद के पोषक होकर भी साम्य-वादी बनते हुये झिझकते हैं।

साम्यवाद अर्थवाद का समर्थक होकर आया। फलस्वरूप समाज की आवश्यकतायें दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ने लगीं। यथाशक्ति कार्य करने की व्यवस्था के अन्तर्गत लोगों में आलस्य आने लगा। उसे दूर करने के लिये साम्यवाद की परिभाषा में कुछ परिवर्तन किया गया, और उसका स्वरूप यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति को कार्य के अनुसार ही पारिश्रमिक मिले। इस परिवर्तन तथा जीवन में अर्थ के महत्त्व के कारण

सम्यक् वितरण की नई समस्या उत्पन्न हो गई। उधर प्रथम महायुद्ध ने अनेक आर्थिक कठिनाइयां उत्पन्न करदीं। विश्व की आर्थिक कठिनाइयों में मार्क्सवाद की मनमाने ढङ्ग पर व्याख्या की जाने लगी। मार्क्सवाद का समर्थक रूस अन्य राष्ट्रों के विनाश में अपना हित देखने लगा, और अन्य देशों को अनिवार्य रूप से अपना शत्रु मान बैठा।

अनेक विद्वान् कहते हैं कि वास्तव में आज के दिन मार्क्सवाद तो रूस में है ही नहीं, वहाँ तो केवल स्टालिनवाद है, मार्क्सवाद तो स्टालिन की तानाशाही को छिपाने के लिए एक धोखे की टट्टी बना हुआ है। जो भी हो हमें इस विवाद में नहीं पड़ना है, परन्तु हम इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि वर्तमान रूस की गतिविधि मार्क्सवाद से कोसों दूर है, उसे हम यदि मार्क्सवाद, एञ्जलवाद, लेनिनवाद तथा स्टालिनवाद (Marxism, Engelism, Leninism, Stalinism) का मुरब्बा कहदें तो अनुचित न होगा। अक्टूबर सन् १९१७ में होने वाली क्रान्ति के बाद रूस की कार्य-प्रणाली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। उसके सिद्धान्त एवं आदर्श तथा कार्य-कलापों में पृथ्वी आकाश का अन्तर आगया। उसके सामने अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ आई। उन कठिनाइयों को पार करने के लिए मनमाने ढंग बरते गये। उसके लिए जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए (क्योंकि जनता के हृदय में मार्क्सवाद के प्राचीन सिद्धान्तों के प्रति आस्था उत्पन्न हो चुकी थी) मार्क्सवाद के मनमाने अर्थ लगाये गए, तथा मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का नवीन तथापि मौलिक से सर्वथा भिन्न रूप में प्रचार किया गया। सिद्धान्त और व्यवहार की यह खाई क्रमशः चौड़ी होती गई। परिणाम स्वरूप आज हम मार्क्सवादी रूस को सर्वथा विपरीत रूप में ही पाते है। वही रूस, जो कुछ वर्षों पहिले साम्राज्यवाद का कट्टर विरोधी था, आज दिन पूर्वी एशिया और पूर्वी योरुप में करोड़ों व्यक्तियों को अपना दास बनाए हुए है; उनका देश हड़पने पर उतारू है। वही रूस जो अपने आपको शान्ति और विश्व-प्रेम का अग्रदूत कहता था आज संसार को अन्य समस्त राष्ट्रों की अपेक्षा कहीं अधिक स्थलीय एवं वायु सेनायें रखता है, विभिन्न देशों के विरुद्ध शीत युद्ध कर रहा है। किसी से

हवाई अड्डे का स्थान माँगता है, तो किसी देश से रास्ता माँगता है। विश्व के श्रमजीवी वर्ग के योगक्षेम का दम भरने वाला रूस आज राष्ट्र संघ द्वारा प्रस्तावित श्रमिकों की निवास स्थान की योजना का विरोधी बना हुआ है। रूस मे आज नभूतो न भविष्यति के ढग पर बेगार ली जाती है। दास-प्रथा के ढग पर वहाँ इतने कैम्प स्थापित हैं कि उन्हें देखकर हिटलर भी ईर्ष्या करने लगेगा।

यह सब काम चाहे परिस्थितियों वश ही किये जारहे हों, रूस वालों का इसमें कोई विशेष उद्देश्य निहित न हो। परन्तु इतना अवश्य है कि रूस के इन विपरीत व्यवहारों के कारण विश्व के समस्त राष्ट्रों को यह विश्वास-सा हो गया कि मार्क्सवाद केवल एक दम्भ है। रूस आज तानाशाही बन चुका है। हमारे विचार से यदि रूस वाले तनिक सन्तुलित होकर विश्व पर विचार करलें, तो उन्हे मार्क्सवाद के वास्तविक स्वरूप का पता पड़ जाय। तब न तो वे ही अन्य देशों के प्रति अविश्वासी रहेंगे और न अन्य राष्ट्र ही उनके प्रति शंकाशील रहेंगे।

कुछ दिनों पूर्व, सम्भवतः मई १९५० में अमेरिका की न्यूज़ एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट (U. S. News And World Report) में प्रकाशित एक अग्रलेख में कहा गया था कि प्रेसीडेण्ट ट्रूमैन के मत से न तो रूस में मार्क्सवाद है न स्टालिन कम्युनिस्ट है। रूस एक पुलिसस्टेट है तथा स्टालिन बजाय मार्क्स के हिटलर का समर्थक है। आदि बात कुछ अजीब सी है। यदि स्टालिन कम्युनिस्ट नहीं है, तब संसार में कम्युनिस्ट कौन है ? कम्युनिस्ट के नाम पर विश्व को विरोधी बनाने वाला स्टालिन कम्युनिस्ट क्यों नहीं है ? इस प्रश्न का प्रेसीडेण्ट ट्रूमैन ने अत्यन्त तर्कपूर्ण समाधान किया है। सामन्तशाही एवं सत्ताधारी वर्ग का उत्थान, दृढ़ शासन-व्यवस्था आदि स्टालिन के अङ्ग हैं। मार्क्स इनका कट्टर विरोधी था।

अपने उक्त कथन के समर्थन के लिए प्रेसीडेण्ट ने तीन मापदण्ड उपस्थित किये। संख्या १—मार्क्स के मत में भूमि, कारखाने, उत्पादन के साधन आदि समस्त राष्ट्रिय सम्पत्ति केवल राष्ट्र और जनता की होनी चाहिये, किसी भी व्यक्ति का उनके ऊपर निजी अधिकार नहीं होना

चाहिए। इस परीक्षा में रूस आंशिक रूप से खरा उतरा है। वहाँ निजी भूमि और खेत तो नहीं हैं, परन्तु व्यक्ति जायदाद तथा फर्नीचर आदि का स्वामी बन सकता है और है। मापदण्ड संख्या २—मार्क्स के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार राष्ट्र को अपना सहयोग प्रदान करे, तथा राष्ट्र उसे उसकी आवश्यकतानुसार दे। (From each according to his ability to each according to his need) मार्क्स के मतानुसार यदि कोई मज़दूर रोगी है अथवा कार्यकुशल नहीं है, तब भी उसे उतना ही मिलना चाहिये जितना एक स्वस्थ एवं कार्यदक्ष श्रमजीवी को मिलता है, क्योंकि उसकी भी समान आवश्यकताएँ हैं तथा उन्हें पूरा करना राष्ट्र का कर्त्तव्य है। रूस में यह प्रयोग किया गया। अगणित मज़दूरों ने बिना काम किये ही पुरस्कार पाने की इच्छा की। मार्क्स का सिद्धान्त स्टालिन के इस सिद्धान्त में बदल दिया गया। प्रत्येक अपनी योग्यतानुसार दे। राष्ट्र इसे काम के अनुसार देगा (From each according to his ability, to each according to his work.) परिणाम स्वरूप आज रूस में विभिन्न श्रेणी के लोगों के जीवनस्तर में बहुत बड़ा अन्तर हो गया है। मिल के मज़दूर की अपेक्षा मैनेजर को बीस गुना वेतन मिलता है। वहाँ पर काम के अनुसार वेतन देने का क्रम है। वह भी अत्यन्त दुर्लभ ढंग पर। अतः इस दृष्टि से भी रूस कम्युनिस्ट नहीं है।

मापदण्ड संख्या ३—मार्क्स के मतानुसार राजनीतिक राष्ट्र टिक नहीं सकता। जब श्रमजीवी विजयी रहेंगे 'तब मज़दूर राज्य' की स्थापना होगी, तथा समाज सर्वथा वर्ग विहीन हो जाएगा और पूर्ण स्वतन्त्रता एवं शान्ति का साम्राज्य हो जायेगा। परन्तु आज रूस की स्थिति क्या है? वहाँ की सरकार दृढ़ है, सामन्तों का वहां साम्राज्य है। छोटी-से-छोटी बात का निर्णय बड़े-से-बड़ा अधिकारी ही करता है। जनता के पीछे खुफिया पुलिस रहती है, यह देखने के लिये कि कहीं कोई राज्य का विरोधी तो नहीं है। तनिक भी विरोधी आवाज़ उठाने भर का फल होता है, सरकार की देखरेख में स्थापित कैम्पों में निवास यानी जेलखाना। इन जेलवासियों से वहाँ खूब बेगार ली जाती है। श्रम-संस्थाओं पर राजकीय कर्मचारियों

का अधिकार है, तथा हड़ताल करना वहाँ अवैध है। राष्ट्रद्रोह है आदि। यही कारण है कि प्रेसीडेण्ट ट्रूमैन ने विश्व के तथाकथित कम्युनिस्टों को स्टालिनिस्ट बताया है। वास्तव में कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त एवं उसकी शिक्षाएँ आज गई बीती हो चुकी हैं। समाजवादियों में प्रचलित एक कहावत के अनुसार यदि आज दिन कार्ल मार्क्स स्टालिन के रूस में उत्पन्न हुआ होता, तो वह स्वयं भी अधिक दिनों तक जीवित न रह पाता। साम्यवाद की यह सबसे बड़ी बौद्धिक भूल है।

साम्यवाद में प्रत्येक बात सामाजिक दृष्टिकोण से देखी जाती है। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था के अनेक लाभ हैं। सच्चे साम्यवाद का अर्थ है प्रजातन्त्र वादी समाज की स्थापना। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना सर्वथा निर्मूल हो जाती है। साम्यवाद का एक अन्य लाभ यह है कि ऐसी शासन-पद्धति के अन्तर्गत समाज के प्रत्येक व्यक्ति के योग-क्षेम का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। साम्यवादी शासन के अन्तर्गत स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता के लिए कोई स्थान नहीं है। साम्यवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समाज के द्वारा नियन्त्रित प्राणी है और समाज के हित को ही ध्यान में रखकर प्रत्येक कार्य करने के लिए बाध्य है। साम्यवादी शासन में कोई भी व्यक्ति बेकार, बेरोज़गार नहीं रह सकता है, क्योंकि यदि वह काम न करेगा, तो उसे भोजन, वस्त्र आदि प्राप्त न हो सकेंगे। इस दृष्टि से साम्यवाद भारतवर्ष के लिये विशेष हितकर सिद्ध हो। देश के कोने-कोने में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने वाले लाखों भिखारी काम में लगा दिये जाएँ और मानव समाज का अभिशाप, भीख माँगना, समाप्त हो जाए। भीख मांगना हमारे देश में एक नियमित व्यवसाय है। इसके कारण लोगों के काम में जी चुराने की प्रवृत्ति बढ़ती है और समाज अधोगति की ओर अग्रसर होता है।

हमने साम्यवाद का जो कुछ निरूपण किया है उससे यह स्पष्ट निकलता है कि पूँजीपति वर्ग साम्यवाद का विरोधी है और श्रमिक वर्ग उसका समर्थक। निर्धनता और बेकारी के क्षेत्रों में इसके पनपने के लिए अत्यन्त उपयुक्त वातावरण रहता है। भारतवर्ष की भूमि साम्यवाद नाम

की फसल के फूलने और फैलने के लिए सर्वथा उपयुक्त ही है। यहाँ पर निर्धनता का एकछत्र साम्राज्य है। भारतवर्ष के करोड़ों व्यक्ति भूखों मरते हैं अथवा एक समय रूखी-सूखी रोटी खाकर किसी प्रकार जीवित हैं। भारतवर्ष की हृदय-विदारक निर्धनता के कई कारण रहे हैं। पिछले एक हजार वर्षों की दासता के कारण जन-साधारण के जीवन में तनिक भी आकर्षण नहीं रह गया है। शासक जाति के लोग और शासन व्यवस्था से सम्बन्धित अधिकारियों एवं कर्मचारियों ने जी भर कर यहाँ के श्रमिक वर्ग का, विशेष कर किसानों का आर्थिक शोषण किया है। ज़मींदार इस आर्थिक शोषण के महत्वपूर्ण माध्यम थे, कृषि इस देश के ग्राम्य जीवन का प्राधान्य है, क्योंकि भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश है। अब स्थिति में सुधार हो चला है। विदेशी शासन समाप्त हो चला है और जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हो चला है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष के किसानों के आर्थिक शोषण के अब थोड़े से ही दिन शेष हैं।

भारतवर्ष के निवासियों के आर्थिक शोषण को दूर करने के लिए कतिपय कानून भी बना दिये गए हैं। परन्तु ये सब योजनाएँ कागज़ तक ही सीमित हैं। उनका व्यवहार अत्यन्त सीमित रूप में होता है।

इतना होने पर भी अन्य निर्धन देशों की भाँति भारतवर्ष में साम्यवाद पनपने नहीं पाया है। पाठक स्मरण रखें, हमारा अभिप्राय रूस के साम्यवाद से है। इसका एक कारण है। भारतवर्ष का सांस्कृतिक वायु-मण्डल रूसी पद्धति के साम्यवाद का विरोध करता है। भारतीय संस्कृति में अर्थ के त्याग का महत्त्व है और साथ ही है कर्म-फल सिद्धान्त का प्रतिपादन। भारतवासी के सम्मुख अर्थ का कितना ही अधिक गुणगान कीजिए, परन्तु वह अन्त में यही कहेगा—अरे! होगा जी। कोई छाती पर तो रखकर ले ही नहीं गया है। इसी प्रकार वह यह कहकर कि "जो भाग्य में बदा है, होगा वही, क्यों व्यर्थ परेशान हुआ जाए", अपने मन को समझा लेता है। ऐसा कदाचित् ही कोई भारतवासी हो जिसे रामायण की यह चौपाई याद न हो, "होइ है वही जो राम रचि राखा"। यही कारण है कि आर्थिक संकटों को सहन करने की भारतवासियों में

अपरिमित शक्ति है और इसीलिये अर्थ के नाम पर विद्रोह करते हुए उन्हें संकोच होता है। भारतवर्ष के औसत व्यक्ति का यही दृष्टिकोण रहता है कि, "कर्मगति टारे नाहिं टरी", हमारे भाग्य में यदि गरीबी लिखी है तो कागज का मोर नौ लखा हार निगल जाएगा और यदि भगवान् को धनवान् बनाना होगा, तो छप्पर फाड़ कर देगा। धनवान् होना पूर्वजन्म के पुण्यों का फल माना जाता है।

इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति के दार्शनिक विवेचन के अनुसार प्राणिमात्र का माता-पिता वही एक ईश्वर है। अतः हम सब भाई-भाई हैं। तब फिर किसी का विरोध क्यों किया जाये? पूज्य बापू ने इसी आधार पर अपने अहिंसावाद का प्रतिपादन किया था, और उस सिद्धान्त ने भारतवर्ष का हृदय स्पर्श किया था।

वर्ण व्यवस्था भारतीय संस्कृति का आधार स्तम्भ है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार कर्म अथवा व्यवसाय करने का विधान है। गुण कर्म और स्वभाव तथा जन्म पर्यायवाची बन गए हैं। दर्जी का पुत्र दर्जी ही बनेगा, यह बात हम भारतवासियों के हृदयों में घर कर गई है। अतएव इस सम्बन्ध में असन्तोष प्रकट करना मूलतः हमारे स्वभाव के प्रतिकूल ठहरता है।

वर्ण-व्यवस्था का सबसे बड़ा गुण यह है कि उसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्यों का विधान तो है, परन्तु अधिकारों की चर्चा नहीं है। भारतीय संस्कृति प्रत्येक व्यक्ति से यह तो कहती है कि तुम अमुक कार्य करो, परन्तु उसके बदले में उसे क्या मिलेगा, इस विषय में वह सर्वथा मौन है। आदर्श राज्य, रामराज्य में भारतवर्ष में कोई दुःखी नहीं था, क्योंकि—

सब उदार सब पर हितकारी। विप्र चरन सेवक नर नारी।

राजा राम चक्रवर्ती राजा थे और उनको भोग-विलास के लिए समस्त साधन प्राप्त थे, परन्तु फिर भी उनकी पत्नी महारानी सीता अपना काम आप करती थीं—

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी ।
विपुल सदा सेवा विधि गुनी ॥
निज कर गृह परि चरिजा करई ।
रामचन्द्र आयसु अनुसरई ॥

साम्यवाद का सांस्कृतिक स्वरूप मनुष्य को मनुष्यता की शिक्षा देता है, क्यों कि उसके अन्तर्गत काम में संयम और अर्थ में त्याग का विधान है। गांधीवाद साम्यवाद के इसी सांस्कृतिक रूप को लेकर चला था और अपनी धार्मिकता के कारण ही वह इतना लोकप्रिय बन गया।

साम्यवाद का बाह्य अथवा आर्थिक रूप मनुष्य को अर्थलोलुप और काम का दास बना देता है, उसके कारण वह भोग-विलास को अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझ बैठता है। राजनीतिक रूप में वह मनुष्य को मशीन के पुर्जे के समान बना देता है। राज्य अथवा समाज मानो एक मशीन है और मनुष्य उसका एक छोटा-सा पुर्जा है। जैसे और जब मशीन चलेगी, वैसे ही पुर्जा भी काम करेगा; उसका स्वतन्त्र अस्तित्व मनों है ही नहीं। यह बात भी भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल ठहरती है। उसके अनुसार जीवन स्वतन्त्र है, वह ब्रह्म स्वरूप बनने की क्षमता रखता है और ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ही जीवात्मा को मनुष्य की योनि मिलती है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय समाजवाद में धर्म, अर्थ और काम, तीन पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं, क्यों कि भारतीय संस्कृति अथवा भारतीय दर्शन के अनुसार मानव जीवन का चरम लक्ष्य धर्म, अर्थ अथवा काम, किसी एक की प्राप्ति नहीं है, बल्कि धर्म, अर्थ और काम, तीनों के संतुलित उपभोग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करना ही मानव जीवन का परम फल है। धर्म, अर्थ और काम केवल साधन हो सकते हैं, साध्य नहीं। पूज्य बापू ने भारतीय संस्कृति की इसी भित्ति पर सत्य और अहिंसा का प्रतिपादन किया था। उन्होंने भारतीय दर्शन के अनुसार व्यवस्थित साम्यवाद के बोझिल अंश को हटाकर उसको अधिक व्यावहारिक बना दिया था। भारतीय समाजवाद (साम्यवाद) के अन्तर्गत धर्म और राजनीति एक ही सिक्के की दो पीठें हैं। जहाँ साम्यवाद समाप्त होता है, वहाँ

गांधीवाद अथवा भारतीय समाजवाद प्रारम्भ होता है। हमारे देश के कर्णधारों को चाहिये कि इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर भारतवर्ष का नव-निर्माण करें।

---

२१ : भारतीय संस्कृति की विशेषतायें

रूपरेखा

१—संस्कृति शब्द का अर्थ और उद्देश्य
२—आर्य साहित्य में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग
३—भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ
(क)—आध्यात्मिकता
(ख)—जीव-प्रेम
(ग)—अर्थ में त्याग और काम में संयम का विधान
(घ)—सदाचार
(ङ)—गुरु का महत्त्व
(च)—नारी-समाज का सम्मान
(छ)—गार्हस्थ्य-जीवन का महत्त्व
(ज)—प्राणिमात्र की मंगल-कामना
४—उपसंहार—भारतवर्ष के नव निर्माण के लिये सांस्कृतिक वातावरण की आवश्यकता।

संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं जिससे कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि-निक्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातों पर निर्भर रहता है। किसी समुदाय की वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप ही इस दृष्टि-कोण का निर्माण होता है। जो आज की अनुभूति है वह कल के संस्कार के रूप में अवशिष्ट रह जाएगी और कल की अनुभूति भिन्न प्रकार की होगी ही। संस्कृति किसी

देश अथवा जाति की आत्मा है। इसके द्वारा उसके उन सब संस्कारों का बोध होता है जिनके सहारे वह अपने सामूहिक अथवा सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण-कर्त्ता होता है।

एक ही प्रकार के पर्वत, निर्झर, नदी आदि देखने वाले, एक ही प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक वातावरण में पालित-पोषित व्यक्तियों का झुकाव प्रायः एक-सा ही होगा। उनकी आशायें, आकाँक्षाएँ एवं मान्यताएँ प्रायः एक-सी ही होंगी। उनकी धारणाओं और कलाकृतियों एवं साहित्यिक रचनाओं का मूलतः एक ही स्रोत होगा। अतः संस्कृति व्यक्तिगत सम्पत्ति न होकर जनसमूह की आत्मा होती है, जिसके मूल में समष्टिगत अनुभव ठहरते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृति किसी जाति विशेष के चाल-चलन, रहन-सहन, आहार-व्यवहार से सम्बन्धित स्वाभाविक कल्याणमय आचरण का नाम है।

आजकल सभ्यता और संस्कृति को प्रायः अभिन्न अथवा एक ही वस्तु समझ लिया जाता है। इस कारण 'संस्कृति' के सम्बन्ध में अनेक भ्रांतियाँ फैल गई हैं। संस्कृति अन्तरात्मा के सदृश है और सभ्यता बाह्य परिधान के समान। सभ्यता का अनुकरण किया जा सकता है, संस्कृति का नहीं। कोट पतलून पहनकर, अंग्रेजी बोलकर, मेज-कुर्सी पर खाना खाकर हम अंग्रेज़ी सभ्यता का अनुकरण भले ही करलें, परन्तु हमारी संस्कृति इंगलैण्ड की संस्कृति नहीं हो सकती। यद्यपि धार्मिक विश्वासों और संस्कृति में परस्पर गहरा सम्बन्ध है, तथापि यह आवश्यक नहीं है कि एक ही धर्म के अनुयायी विभिन्न समुदायों की संस्कृति भी एक ही हो। पूर्वी बङ्गाल में रहने वाले मुसलमानों की संस्कृति पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में रहने वाले पठानों की संस्कृति से सर्वथा भिन्न है, हालाँकि उनका धर्म एक ही है। पूर्वी बङ्गाल में रहने वाले मुसलमानों की संस्कृति वही है जो वहाँ के स्थानीय हिन्दुओं की। भारतवर्ष में विभिन्न धर्मों के अनुयायी हैं, परन्तु सबकी संस्कृति एक ही भारतीय संस्कृति है। इसी प्रकार योरप में ईसाई, मुसलमान, यहूदी आदि विभिन्न धर्मावलम्बी रहते हैं, परन्तु उन सबकी संस्कृति एक ही पाश्चात्य संस्कृति है। अतएव यह आवश्यक है कि

संस्कृति की चर्चा करते समय हमें देश विशेष तथा काल विशेष का अवश्य ही उल्लेख कर देना चाहिये।

कतिपय आधुनिक विद्वानों के मतानुसार किसी राष्ट्र के किसी असाधारण बड़प्पन के गर्व को ही 'संस्कृति' कहा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए पार्लियामेंटरी शासन-प्रणाली इंगलैण्ड की संस्कृति का आधार है और विशुद्ध रुधिर के गर्व को हिटलर ने जर्मनी की संस्कृति का आधार बताया था। हमारे विचार से इस प्रकार की विचार धारा अंश रूप में भले ही सत्य हो, अन्यथा वह निरर्थक ही है।

संस्कृत, सुसंस्कृत तथा परिष्कृत तीनों शब्दों का एक ही अर्थ होता है। सँवारना, शुद्ध करना। संस्कार, संस्कृत और संस्कृति तीनों शब्दों का एक ही मूल है। संस्कार का अर्थ है सुधार, दोषमार्जन। धार्मिक कृत्यों को भारतवर्ष में संस्कार ही कहा जाता है। दोषमार्जन विदेशों में जड़ वस्तुओं तक ही सीमित है, भारतवर्ष में चेतन का भी संस्कार होता है। इस प्रकार संस्कृति शब्द का वाच्यार्थ है 'शुद्ध करना' तथा लक्ष्यार्थ हुआ 'धर्म, विद्या आदि की उन्नति करना'। प्रत्येक क्रिया अपना प्रभाव डालती है। हमारे मानसिक संस्थान पर प्रत्येक क्रिया का प्रभाव पड़ता है तथा उसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप कुछ प्रभाव उत्पन्न होता है। प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न यही प्रभाव वासना, भावना अथवा संस्कार कहा जाता है। अतः संस्कार शब्द का वाच्यार्थ हुआ 'दोषमार्जन' तथा दार्शनिक अर्थ हुआ "मनोगत भावना विशेष" भारतवर्ष के आर्य ऋषियों ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है—"जो अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि करे, धर्म है।" अभ्युदय के साधक प्रवृत्ति धर्म के अन्तर्गत आते हैं तथा निःश्रेयस के साधक निवृत्ति धर्म में गिने जाते हैं। इस प्रकार राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति आदि जीवन के समस्त अंग धर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं। दोषमार्जन करके उत्थान करने वाली संस्कृति और धर्म में इस प्रकार पूर्ण साम्य स्थापित हो जाता है, अथवा भारतीय दृष्टिकोण से उनमें कोई भेद नहीं रह जाता है। जितना अंश लोकसिद्ध है उतना लौकिक है; जितना शास्त्रैकसमधिगम्य है उतना अलौकिक है। अलौकिक अंश धर्म है। धर्म विरुद्ध लौकिक अंश धर्म्य है।

भारतीय संस्कृति में दोनों का अन्तर्भाव है। उसका मुख्य लक्ष्य आत्मा का उत्थान करना है।

आजकल संस्कृति शब्द का प्रयोग पाश्चात्य culture के अर्थ में किया जाता है। यह प्रयोग सर्वथा अर्वाचीन है। वेद-पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में संस्कृति शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। जिन दिनों ब्रह्म समाज का आन्दोलन चल रहा था सम्भवतः उन दिनों culture शब्द को व्यक्त करने के लिए 'संस्कृति' शब्द का निर्माण हुआ है। प्राचीन ग्रन्थों में संस्कृति का अर्थ परिष्कृत ही देखने में आता है। शास्त्रों के अध्ययन द्वारा निर्मित वासना ही संस्कार का रूप धारण करती है। कौटिल्य ने विनय के अर्थ में संस्कार शब्द का प्रयोग किया है। "संस्कारों के द्वारा शील विशेष की सृष्टि होती है। बाह्य और आभ्यन्तर गुणों को जब हम उस शील (विनय) द्वारा प्रकट करते हैं, तभी संस्कृति का निर्माण होता है। कालान्तर में 'संस्कार' साधन मात्र रह गये और culture शब्द के साथ तूल बैठाकर "संस्कृति" को साधन बना दिया गया।

भारतीय संस्कृति के आधार वेद, उपनिषद् और दर्शनशास्त्र हैं उसमें यथासमय आर्थिक दृष्टिकोण का भी समावेश किया गया और गोसेवा उसका प्रमुख अंग बना। पूज्या देवी के रूप में गाय की सर्वप्रथम चर्चा कालिदास कृत रघुवंश में आई है। उसमें महाराज दिलीप द्वारा गोसेवा देखने को मिलती है।

भारतीय धर्म भावना में अर्थ का त्याग है। धर्म, अर्थ और काम के द्वारा मोक्ष की सिद्धि भारतीय जीवन का आधार है। अतएव हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति का मुख्य आधार आध्यात्मिकता है, तथा त्याग और तपस्या उसके प्राण हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इस सम्बन्ध के उदाहरण भरे पड़े हैं, हमारे मत में वर्त्तमान भ्रष्टाचार का कारण ही यह है कि देश की संस्कृति का यह अंग भुला दिया गया है।

पंडितों ने प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ 'वाणी' से माना है। इसी कारण भारतीय संस्कृति में सबसे पहिले गुरु और शिष्य आते हैं। सबसे पहिले गुरु का उपदेश होता है कि "गुरु की आज्ञा मानना और अधर्म का आच-

रण न करना।" ऐसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता जो कभी उच्छृंखलता का रूप धारण न कर सके, अथवा ऐसी आज्ञाकारिता जो अन्ध विश्वास न बन जाए, भारतीय संस्कृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। आजकल गुरु का पद विलुप्त होगया है। समस्त अव्यवस्था और दुर्व्यवस्था का एक मात्र कारण सांस्कृतिक शिक्षा का अभाव है।

भारतीय संस्कृति की आधारशिला पारिवारिक जीवन पर है। गृहस्थ आश्रम को श्रेष्ठ आश्रम बताकर माता, पिता, आचार्य और अतिथि ये चार देवता माने हैं। इनमें माता को सबसे बड़ा गुरु माना है। उसे पिता से दसगुना बड़ा गुरु माना है। अतएव स्त्रियों के प्रति पूज्य भाव रखना सुसंस्कृत व्यक्तियों का धर्म है। स्त्रियों को रक्षिणी मानकर, उनके गृहिणी, मन्त्राणी, सखी, प्रिय शिष्या और सुन्दर कलाओं के सीखने में निपुण होना, ये ५ गुण बताए गये हैं। हमारा देश मातृभूमि है, हमारी भाषा मातृभाषा है। हमारी जननी स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है। जहाँ स्त्रियों का आदर नहीं होता वहाँ सुख और कल्याण की कामना करना बाल हठ है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः
यत्रैतास्तु पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः

× × × × ×

यद गृहे रमते नारी लक्ष्मीस्तद् गृहे वासिनी।
देवताः कोटिशो वत्स नत्यजन्ति गृहं हितत्॥

भारतीय परम्परा एवं हिन्दू शास्त्रों में स्त्री को श्री या लक्ष्मी बताने का यही तात्पर्य है।

सूत्रकाल तक हमें स्त्रियों के समान अधिकारों की स्पष्ट चर्चा मिलती है।

हमारे परिवार के मुख्यतया दो भाग होते हैं। पुरुष और बालक

आयु, यश और धन आदिक के लिए छोटे बड़ों का आदर करें यह हमारी संस्कृति का एक प्रमुख अंग है। भारतीय संस्कृति की कतिपय अन्य विशेष एवं महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं:

(१) अर्थ में त्याग और काम-सेवन में संयम का विधान है।

(२) अतिथि सत्कार का बहुत महत्त्व है। उसे सब का गुरु बताया है। सर्व देव मयोतिथि।

(३) साहित्य, धर्म, दर्शन आदि प्रत्येक क्षेत्र में समन्वय का प्रतिपादन है। व्यर्थ की खींचातानी और साम्प्रदायिकता के लिए भारतीय संस्कृति में कोई स्थान नहीं है।

(४) विद्या देने वाला गुरु जन्म देने वाले माता-पिता की अपेक्षा अधिक गौरवपूर्ण माना गया है।

(५) आश्रम-व्यवस्था तथा वर्ण-व्यवस्था भारतीय संस्कृति के स्तम्भ एवं उसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। उसके मूल में उपयोगी गुणों का विकास है।

वर्ण-व्यवस्था के मूल में कर्त्तव्य-पालन एवं त्याग की भावनाएँ निहित हैं, अधिकार प्राप्ति एवं संग्रह के विचार नहीं। समाज चार भागों में विभक्त था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्ग के कर्त्तव्यों का विधान था और प्रत्येक के अधिकार निर्धारित थे। अधिकारों की आधार-शिला थी कर्त्तव्य-निष्ठा और त्याग करने की शक्ति। जो जितना बड़ा त्याग कर सकता था, वह उतने ही उच्च आसन का अधिकारी होता था। ब्राह्मण आजन्म अध्ययन-अध्यापन करते थे। तपोवन उनका निवास स्थान था, वन में उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल-फल एवं भिक्षा के रूप में प्राप्त अन्न उनके आहार थे। अधिकार रूप उन्हें समाज के प्रत्येक वर्ग का आदर प्राप्त था। ब्राह्मणों का अभिवादन करने के लिए चक्रवर्ती राजा को आसन छोड़ कर खड़ा हो जाना पड़ता था। ब्राह्मण आर्शीवाद देकर राजा को पुनः गद्दी पर विराजने का आदेश करता था। इसी प्रकार देश में सुव्यवस्था एवं शान्ति स्थापित रखने तथा शत्रुओं से प्रजाजन की रक्षा करने का और युद्ध का डंका बजते ही उन्हें सबसे पहले युद्ध-स्थल में जाकर अपने जीवन की आहुति देनी होती थी। परिणाम स्वरूप क्षत्रियों की मृत्यु प्रायः युवावस्था में ही हो जाया करती थी। 'बरस अठारह लौं छत्री जीवे, आगे जीवन को धिक्कार' वाली लोकोक्ति का निर्माण इसी आधार पर हुआ है।

शूद्रों का काम केवल सेवा करना था। उनके न कोई विशेष अधिकार थे और न समाज-रक्षा से सम्बन्धित किसी प्रकार के कठोर नियमों का विधान ही! तात्पर्य यह है कि विद्या एवं बुद्धि के अधिकार में समस्त समाज की व्यवस्था थी। ब्राह्मणों का वर्ग व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को तिलाञ्जलि देकर आजन्म समाज के कल्याण का चिन्तन करता रहता था। समाज को अधिक से अधिक देने और समाज से कम से कम लेने में ही वे अपने जीवन की सार्थकता मानते थे। आप सहमत होंगे कि उनकी अवहेलना एवं उपेक्षा कर सकना किसी के लिए सम्भव न था। त्याग-तपस्या के बल पर राजकीय व्यवस्था का पथ-प्रदर्शन करने वाले एक महात्मा इस युग में भी हो गए हैं। पूज्य बापू कांग्रेस के साधारण सदस्य भी न थे, परन्तु कांग्रेसी राजा अथवा कांग्रेस शासन-व्यवस्था के बड़े-से-बड़े अधिकारी उनके सम्मुख सदैव नत मस्तक होकर उनके आदेश के भूखे रहते थे। पाठक! एक बात स्मरण रखें। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत निर्धारित कर्त्तव्य-पालन के समस्त द्वार प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन्मुक्त थे। त्याग, तपस्या के बल पर प्रत्येक व्यक्ति ब्राह्मण बन सकता था। कर्त्तव्य-भ्रष्ट व्यक्ति की समाज उपेक्षा एवं भर्त्सना करता था। रावण ऐसा ही ब्राह्मण था। अतः स्पष्ट है कि त्याग, तपस्या, तप एवं आत्म-बल की महत्ता ही भारतवर्ष की वर्ण-व्यवस्था का मूलाधार थी।

(६) विश्व-बन्धुत्व अथवा प्राणि मात्र से प्रेम भारतीय संस्कृति की अन्य विशेषता है। इसके अनुसार विश्व एक विशाल परिवार है और उसके अन्तर्गत रह कर अपने और पराये की चर्चा करना तुच्छ विचार है। यथा—

अयं निजः परोवेत्ति गणना लघु चेतसाम्
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्

भारतवर्ष की संस्कृति के अन्तर्गत प्रतिपादित धर्म का लक्षण ही यह है कि कभी किसी को किसी प्रकार, मनसा, वाचा, कर्मणा, कष्ट न पहुँचाओ। कभी किसी के प्रति कोई ऐसी बात न करो, न ऐसा विचार करो और न ऐसा काम करो, जो अपने को बुरा लगता हो। यथा—

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"

यही कारण है कि शक्ति होते हुए भी भारतवर्ष ने कभी भी किसी अन्य देश पर आक्रमण नहीं किया।

(७) सामाजिक जीवन की गतिविधि का क्रम भी इसी प्रेम-भावना पर समाधारित था। ईश्वर जीवमात्र का माता पिता है, अतएव सब भाई-भाई एवं समान हैं। प्राचीन ग्रन्थों में शूद्र ऋषियों के आश्रमों का उल्लेख है। राजा और रंक, सबके बालक गुरुकुल में एक साथ विद्याध्यन-करते थे। किसी को किसी प्रकार का विशेष अधिकार न था। किसी को किसी भी प्रकार के सामाजिक तथा धार्मिक कृत्य से वञ्चित नहीं किया जाता था।

(८) भारतवर्ष की संस्कृति के अंतर्गत व्यक्ति के सुधार पर विशेष बल दिया गया है। अर्थात् भारतीय संस्कृति सदाचरण-प्रधान है, उसमें व्यक्ति की अन्तः प्रवृत्तियों के उत्कर्ष को विशेष महत्त्व दिया गया है। उसके अनुसार यदि व्यक्ति ठीक होंगे तो समाज स्वतः ठीक रहेगा अर्थात् भारतीय संस्कृति व्यक्ति-प्रधान है, उसमें समाज का स्थान गौण है। वर्ण-व्यवस्था, वर्णाश्रमधर्म, ईश्वरवाद, अवतारवाद, परलोकवाद, कर्मवाद आदि विचार-धाराओं की अवतारणा व्यक्ति सुधार-योजना के प्रतिफल हैं। पाश्चात्य संस्कृति व्यक्तित्व को गौण मानकर समाज अथवा सामाजिक सुधार पर विशेष बल देती है। यही कारण है कि पाश्चात्य संस्कृतिपोषित एवं भारतीय संस्कृति से विमुख व्यक्तियों की कथनी और करनी में भारी अन्तर आगया है। और यह स्वाभाविक ही है। जब व्यक्ति अपने दोषों की ओर से विमुख होजाए, आत्म-सुधार की ओर से विमुख हो जाए, तब समाज स्वतः विकृत हो जायेगा। ऐसी दशा में प्रत्येक मनुष्य अपने कर्त्तव्यों को विस्मृत कर केवल अपने अधिकारों पर ही ध्यान देने लग जाता है। वह केवल अन्य लोगों से ही कर्त्तव्य-पालन की आशा करता है और स्वयं कर्त्तव्यों से विमुख होकर समस्त समाज को कर्त्तव्य-पालन का उपदेश देने लग जाता अथवा समाज पर स्वार्थ-परता का आरोप लगाने लगता है। हमारे वर्त्तमान समाज एवं सामाजिकों की ठीक यही दशा है। भारतीय

संस्कृति के अन्तर्गत व्यक्तित्व का निर्माण करने के हेतु त्याग, तपस्या आदिक के अतिरिक्त अनेक व्यावहारिक बातें भी बताई गई हैं। जैसे—हमें चाहिये कि अपने पूर्वजों को सदैव आदर के साथ स्मरण करें। सम्भावित व्यक्तियों को चाहिए कि वे छः काम कभी न करें—(१) बच्चों से मित्रता (२) अकारण हँसना (३) स्त्रियों के साथ विवाद (४) असज्जनों की सेवा (५) गधा पर चढ़ना तथा (६) असंस्कृत वाणी बोलना।

(९) भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत शिक्षा, विद्या और दीक्षा तीनों के पृथक्-पृथक् विवेचन किये गये हैं और उनके पृथक्-पृथक् स्थान निर्धारित किये गए हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार विद्या का उद्देश्य है। स्वाध्याय एवं तदनुकूल आचरण—"सा विद्या या विमुक्तए।"

(१०) भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य के जीवन का एक मात्र उद्देश्य है—मोक्ष की प्राप्ति। मनुष्य को चाहिये कि अर्थ, धर्म और काम को केवल साधनों के रूप में ग्रहण करके अपने साध्य 'मोक्ष-प्राप्ति' की ओर अग्रसर होता रहे। गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि—

बड़े भाग मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।
पाइ न जे परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछताइ।
कालहि, कर्महि, ईश्वरहि, मिथ्या दोस लगाइ॥
एहि तन कर फल विषय न भाई।
स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई॥
नर तनु पाइ विषय मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।

—रामचरित मानस

कहना न होगा कि भारतवर्ष के अतीत का इतिहास अद्वितीय त्याग की कथाओं से भरा पड़ा है। एक तपस्वी ब्राह्मण को प्रसन्न करने के

लिए राजा हरिश्चन्द्र ने राज्य-पाट का त्याग किया, पत्नी और पुत्र को बेचा तथा स्वयं एक चाण्डाल का दास बनना स्वीकार किया। राजा राम ने प्रजाजन के रंजन के लिए अपनी प्रियतमा परम साध्वी सीता का परित्याग किया। महाराज दधीच ने वृत्रासुर के वधार्थ अपने जीवन का मोह त्याग कर अपनी हड्डियों का दान किया। राजा शिवि ने एक कबूतर की रक्षार्थ अपने शरीर का मांस तौल दिया। राजा रन्तिदेव ने अनेक यज्ञ करने के बाद यह वरदान मांगा कि संसार में कोई भी दुःखी न रहे, प्राणि मात्र का, संसार भर का दुःख वे अकेले ही भोगें।

कर्मफल-सिद्धान्त आर्यसंस्कृति की एक अन्य विशेषता है। इसके सिद्धान्त के अनुसार आत्मा न कभी मरता है, न नष्ट होता है। यह अजर और अमर है। शरीर का अन्त हो जाने से आत्मा नहीं मरता है। एक शरीर का अन्त होते ही आत्मा तुरन्त अन्य शरीर में प्रवेश कर जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक वस्त्र उतार कर हम अन्य वस्त्र धारण कर लेते हैं। जीवात्मा अपने पूर्व जन्म के कर्मों का फल भोगने के लिये जन्म लेता है और इस जन्म के कर्मों का फल भोगने के लिये उसे काल के गाल में जाकर अन्य शरीर धारण करना होता है। इस सिद्धान्त का विशद विवेचन न करके हम केवल इतना ही निवेदन करेंगे कि इस सिद्धांत के मूल में दो अच्छी बातें हैं। मनुष्य पाप-कर्म में प्रवृत्त होते हुए संकुचित हो और कभी निराशावादी न बन जाए। पाप-कर्म करते हुए मनुष्य को यह सोचना पड़ता है कि इस कृत्य का फल भोगने के लिये मुझे न मालूम अगले जन्म में कौन कौन से दुःख भोगने पड़ें। यदि गधा बनकर बोझा ढोना पड़ा अथवा बैल की योनि पाकर तेली के कोल्हू में पिलना पड़ा तो! इसके साथ ही वह सदैव ही आशावादी बना रहता है। हमारा वर्त्तमान जीवन सम्पूर्ण जीवन का एक अंश मात्र है। जो काम इस जीवन में पूरा नहीं होसका है, वह अगले जन्म में अवश्य ही पूरा हो जायेगा। जयद्रथ का बध कर सकने में असमर्थ गाण्डीवधारी अर्जुन ने चिता पर बैठ जाने के बाद ये आशा भरे वचन कहे थे—

"हे इष्ट मुझको भी यही यदि पुण्य हों मैंने किये।
तो जन्म पाऊँ दूसरा मैं वैर-शोधन के लिए।"

आशावादी समाज की प्रेरणाएँ भी आशावादी ही होंगी। आर्य-साहित्य की प्रवृत्ति सदैव आदर्शवाद की ओर ही रही है। उसमें सर्वत्र सत् की असत् पर, पुण्य की पाप पर, सदाचार की दुराचार पर, नीति की अनीति पर, धर्म की अधर्म पर विजय दिखाई गई है। राम के द्वारा रावण का वध, कृष्ण के द्वारा कंस का मर्दन आदि कथानक इसी आशावाद का संचार और समर्थन करते हैं। भगवान् ने स्वयं अपने श्रीमुख से भारतवासियों को यह विश्वास दिलाया था कि—"जब जब धर्म का तिरोभाव होगा, पापी और दुष्टात्मा बढ़ेंगे, तब-तब मैं जन्म लेकर धर्म का उत्थान करूंगा और दुष्टों का नाश करके साधु-सन्तों की रक्षा करूँगा आदि। भारतवर्ष की प्रजा और संस्कृति इसी आशा-भित्ति पर समाधारित है कि जब-जब रावण और कंस उन्हें सतायेंगे, तब-तब राम-कृष्ण आकर उनका उद्धार करेंगे। गज की टेर सुनकर आने वाले खरारि, तथा द्रौपदी की पुकार सुनकर आने वाले मुरारि का स्मरण इसी कारण हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग बना हुआ है।

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि ईश्वर में आस्था, अर्थ में त्याग, काम में संयम, और तप (दुःख सहन करने की शक्ति तथा सुख और दुःख में समान रहने योग्य आत्म-बल) भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। मोक्ष की भावनाओं द्वारा उसका निर्माण हुआ है। यही कारण है कि किसी समय आर्य-संस्कृति का प्रखर सूर्य अखिल विश्व को अपने ज्ञान-लोक द्वारा प्रकाशित करता रहता था। विश्व का प्रत्येक भाग उससे प्रभावित था। मनु महाराज ने तो स्पष्ट ही कहा था कि—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

अर्थात् इस देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों से अखिल भू-मण्डल के मनुष्य अपने-अपने आचारों की शिक्षा ग्रहण करें। और ऐसा क्यों न होता? प्राणि-मात्र की मङ्गल-कामना भारतीय संस्कृति की सबसे

वही शिक्षा है। हमारे आर्य ऋषि-मुनि विश्व की मङ्गल-कामना द्वारा प्रेरित होकर ही साधना किया करते थे—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत्॥"

सम्पूर्ण सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के विचार से ही हमारे यहाँ पञ्च यज्ञों का विधान किया गया था।

समय के फेर से, काल देवता के प्रकोप के कारण, चिरकालीन पराधीनता द्वारा अभिशापित होकर, पाश्चात्य सभ्यता के व्यापक प्रभाव द्वारा पादाक्रान्त होकर भारतीय संस्कृति की शिक्षायें आज उपेक्षिता-सी हो गई हैं। यही कारण है कि समस्त विश्व का वातावरण प्रतिहिंसा और शोषण की चर्चाओं से गूंजने लगा है। चारों ओर अशान्ति के बादल घुमड़ रहे हैं। विश्व में न कहीं शान्ति है, न कहीं मैत्री अथवा सद्भावना।

स्वतन्त्र भारतवर्ष का हमें नये सिरे से निर्माण करना है। हमारे देश के सम्मुख राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति आदि से सम्बन्धित अनेक समस्यायें हैं। उन सबका सम्यक समाधान एवं उपचार करने का ही उपाय है—भारतवर्ष में सांस्कृतिक शिक्षा देने की व्यवस्था की जाए। जो शिक्षा हमारे हृदय में संयम, सहयोग और कर्म-फल-त्याग की भावना से कार्य करने के भाव का वपन करे, भारतीय परम्पराओं के अनुकूल सांस्कृतिक शिक्षा है। इसके अभाव में सुख और कल्याण की आशा करना बाल-हठ ही कहा जाएगा।

२२ : हमारी शिक्षा कैसी हो ?

रूपरेखा—

१—शिक्षा का उद्देश्य
शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास करना
२—शिक्षा का महत्त्व
३—वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति के दोष
४—आदर्श शिक्षा का स्वरूप
५—उपसंहार

पूर्णत्व की खोज और प्राप्ति के प्रयास सदा से होते आए हैं और हो रहे हैं। मानव ने सम्पूर्ण विश्व के दर्शन करने का प्रयास किया, विज्ञान का जन्म हुआ। उसने सर्वत्र व्याप्त तथ्य (Reality) को जानने का प्रयास किया, धर्म (Religion) का जन्म हुआ। उसने मनुष्य के स्वभाव का अध्ययन करना चाहा, दर्शनशास्त्र (Philosophy) का जन्म हुआ। विज्ञान, धर्म और दर्शन के विवेचनार्थ शिक्षा-पद्धति की उद्भावना की गई। शिक्षा का उद्देश्य हुआ शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए समुचित साधन उपलब्ध कर देना। शिक्षा के माध्यम द्वारा उपर्युक्त तीनों दिशाओं में ज्ञानार्जन करना मानव-समाज का अति प्राचीन स्वभाव रहा है।

भारतीय परम्पराओं एवं आर्य संस्कृति की मान्यताओं के अनुसार अर्थ, काम और धर्म के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। अतः भारतीय समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसी शिक्षा-पद्धति का विधान किया गया, जिसके द्वारा मानव अर्थ में त्याग, काम में संयम और धर्म में तत्परता सम्बन्धी नियमों का पालन करके मोक्ष प्राप्ति करने के लिए समर्थ बन सके। भारतवर्ष के आर्ष ऋषियों ने ऐसी शिक्षा-पद्धति का विधान किया था जिसके अन्तर्गत मनुष्य का शरीर बलिष्ठ बने, उसका मस्तिष्क प्रौढ़ हो और ज्ञानार्जन द्वारा मानव की आत्मिक अथवा आध्यात्मिक शक्तियों का सम्यक् विकास हो। कहने का

तात्पर्य यह है कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है कि हमें बुद्धि-विवेक-सम्बन्धित निर्मल बुद्धि की प्राप्ति हो, उसके द्वारा हम कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, उचित-अनुचित, नीति अनीति, धर्म-अधर्म, एवं शुभ-अशुभ का निर्णय करके अपना कर्त्तव्य पथ निश्चित कर सकें। खेद का विषय है कि शतियों की दासता के कारण भारतवर्ष की स्व निर्धारित शिक्षा-पद्धति सर्वथा लोप हो गई। फलस्वरूप हमारे देश में आज विदेशी-शासकों द्वारा निर्धारित शिक्षा-क्रम का प्रचार है।

बालक प्रत्येक बात मातृ-भाषा में ही सीखता है। गुरु भी उसे उसी भाषा में शिक्षा देता है, जिसे वह पहिले से जानता है। परमात्मा जगद्गुरु है। जीवधारियों को वह प्रत्येक बात उसी भाषा के माध्यम द्वारा बताता रहता है। मानव की मनोवृत्ति विनाशोन्मुख है, अतः परमात्मा भी उसे विनाश के मार्ग द्वारा, विनाश में डुबोकर ही उसे अपने पास लाना चाहता है। यही कारण है कि उच्चतम वैज्ञानिक, श्रेष्ठतम विद्या-विशारद, प्रतिष्ठा प्राप्त शिक्षा विशेषज्ञ और श्रीसम्पन्न कला-कोविद सबके सब एटम बम, हाईड्रोजन बम, कीटाणु बम, आदि ध्वन्सकारी पदार्थों के निर्माण और आविष्कार में संलग्न हैं।

मनोवृत्ति का निर्माण हमारे जीवन, हमारे आचरण के अनुरूप होता है। हमारे जीवन और आचरण की आधार-शिला है हमारी शिक्षा। जैसा खावे अन्न तैसा होवे मन। अन्न का अर्थ भोजन है,जो शारीरिक और मानसिक दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वर्त्तमान ध्वंस, विनाश, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, उत्थान, पतन सबके मूल में हमारी शिक्षा ही है।

हमारी वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति को सात आततायी बुरी तरह से जकड़े हुए हैं : मस्तिष्क, दंड, परीक्षा, कुरूप भवन, अत्यधिक कार्य, स्वाभिमान रहित अध्यापक तथा संकुचित मनोवृत्ति के माता-पिता। विद्यार्थी को इतनी अधिक पुस्तकें पढ़नी पड़ती हैं, उसे इतने विभिन्न प्रकार के विषयों का अध्ययन करना पड़ता है कि वह और उसका दिमाग, शरीर, मन सब कुछ बुरी तरह से पिसे जाते हैं। भांति-भांति के दण्ड और हर

समय प्रस्तुत परीक्षाओं का भय उसे खाए जाता है। सिवाय पढ़ने और पढ़कर परीक्षा पास करने के वह और कुछ सोच ही नहीं सकता है। गन्दी इमारतों में गन्दे टाटों अथवा गन्दी और भद्दी मेज-कुर्सियों पर बैठकर उसे पढ़ना पड़ता है, अतः उसके लिए स्वच्छ वायु-मण्डल एक दुर्लभ पदार्थ है। विद्यालय में उसे पढ़ाने वाले अध्यापक केवल इसलिए पढ़ाते हैं कि उनकी नौकरी बनी रहे, विद्यार्थी के योग-क्षेम से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। वे सदैव ट्यूशन की चिन्ता में व्यस्त रहते और धन-प्राप्ति की मृग-मरीचिका में अपने स्वाभिमान, अपने गुरुत्व, अपने अध्यापकत्व को यों ही गवाँ बैठते हैं। विद्यालय, पाठशाला, स्कूल, कालेज के अलावा विद्यार्थी का घर पर भी यही हाल रहता है। घर पर वह जबतक कम से कम ४ घण्टे नित्य नियमपूर्वक न पढ़े, तब तक उसका गृह-कार्य, अध्यापक द्वारा बताया हुआ घर पर किया जानेवाला कार्य पूरा नहीं होता, और फिर इन सबके ऊपर है उस पर सवार नौकरी का भूत। बालक को दिन रात किताबों से चिपके देखकर माता-पिता को पूरा विश्वास हो जाता है कि उनकी साधना और बच्चे की तपस्या दोनों ही सफल हैं, बड़ा होने पर उसे अवश्य ही कोई अच्छी नौकरी मिल जायगी। अच्छी नौकरी पाना ही जब सब प्रकार जीवन का उद्देश्य होजाये, तब मानसिक विकास की चर्चा कैसी? आजकल लड़के इसलिए पढ़ते हैं कि उन्हें कोई अच्छी नौकरी मिल जाए तथा लड़कियाँ इसलिए पढ़ती हैं कि उन्हें अच्छे पति मिल जाएँ। आजकल की शिक्षा या तो फावड़े या बसूले का काम देती है अथवा पतिरूपी रेल की प्रतीक्षा में वेटिंगरूम के समान है। इस प्रकार विदेशी होने के अतिरिक्त वह अव्यावहारिक भी है। विद्या और नौकरी जब पर्यायवाची शब्द बन गए हों, तब सिवाय इसके कि मानव केवल स्वार्थ साधन में तल्लीन बना रहे उससे और आशा भी क्या की जा सकती है। सामाजिक स्वास्थ्य की ओर से तो वह अनिवार्यतः उदासीन रहेगा ही।

स्थिति परिस्थिति सब विकट और विकराल है। इन पर विजय प्राप्त करने के लिए हमें ऐसी शिक्षा-दीक्षा का विधि-विधान करना होगा

जो हमें स्वयं अपने ऊपर विजय प्राप्त करने में समर्थ बना सके। इसके लिए आवश्यक है हमारी शिक्षा स्पष्ट रूप से तीन भागों में विभाजित हो। शारीरिक शिक्षा, मानसिक शिक्षा, तथा आध्यात्मिक शिक्षा। हम स्वस्थ हों, स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क हो तथा हमारा स्वस्थ मन जीवन के स्वास्थ्य पर विचार करने में समर्थ हो। संक्षेप में हमारी शिक्षा का सीधा सम्बन्ध मानव समाज के स्वास्थ्य के साथ हो। अर्थात् स्वतन्त्र भारतवर्ष को नव-निर्माण करने के लिए ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो हमारे जीवन के लिए सब प्रकार से उपयोगी सिद्ध हो, उसके द्वारा देश की बेकारी की समस्या दूर हो सके, शिक्षित नवयुवक अपने पेट की चिन्ताओं एवं जीवन की आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त हो सकें। इसके लिये आवश्यक है कि उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था हमारी शिक्षा-पद्धति का एक आवश्यक अङ्ग होना चाहिये, ताकि जो शिक्षित बालक अथवा बालिका आज केवल क्लर्क ही बन सकते हैं, उनमें स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय एवं उद्योग करने की योग्यता एवं क्षमता आजाएँ। स्वतन्त्र देश के नागरिकों को स्वावलम्बी बनाने वाली शिक्षा की आवश्यकता है। यहाँ हम यह बात विशेष रूप से निवेदन कर देना चाहते हैं कि हमारी शिक्षा का माध्यम हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी ही हो। विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा देने में समय और शक्ति की विपुल हानि होती है। देश की भाषा सरलता से सीख ली जाती है और फलस्वरूप उसके द्वारा ज्ञानार्जन करने में समय भी कम लगता है और कम शक्ति भी लगानी पड़ती है। अन्यथा पहिले तो विदेशी भाषा को सीखने के लिये ही बहुत समय नष्ट किया जाए, और फिर उसके माध्यम से अपने विचार प्रकट करने के लिए प्रयास पूर्वक अभ्यास किया जाए। आजकल की शिक्षा-पद्धति का सबसे बड़ा अवगुण ही यह है कि हमारे विद्यालयों में अंग्रेजी के माध्यम द्वारा अध्ययन-अध्यापन किया जाता है। आज का विद्यार्थी अंग्रेजी भाषा-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए ७-८ वर्षों तक निरन्तर प्रयास करता रहता है और फिर अंग्रेजी के द्वारा बड़ी कठिनाई से साथ अपने विचारों को टूटे-फूटे शब्दों में व्यक्त कर पाता है। फिर भी उसकी

भाषा में भाषा एवं व्याकरण-सम्बन्धी अनेक त्रुटियाँ रह जाती हैं। शिक्षा का माध्यम राष्ट्र-भाषा हिन्दी होते ही ये समस्त समस्याएँ स्वतः हल होजाएँगी और शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों के ऊपर आधे से भी कम बोझा रह जाएगा।

हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए, जिसके अन्तर्गत हमें निम्न प्रकार से शिक्षा देकर जीवन के लिये तैयार किया जा सके—

(अ)—शारीरिक शिक्षा—इसका ध्येय शरीर की चिन्ता व रक्षा है। इसके अन्तर्गत हमें बताया जाय कि हम कब कितना क्या खायें, कब और कितना सोवें, कब और कितना तथा किस प्रकार अपना मनोरंजन करें, हम पूरी तरह सफाई के साथ रहना सीखें तथा कब कितना और किस प्रकार व्यायाम करें। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मनोरंजन तथा व्यायाम की शिक्षा व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूपों में दी जानी चाहिए, ताकि हमारे भीतर सहयोग की भावना हो और हम एक साथ मिलकर रहना और काम करना सीखें। प्रत्येक विद्यालय में यदि सैन्य शिक्षा दी जाने लगे तो शारीरिक शिक्षा का सम्यक् प्रबन्ध स्वतः ही होजाए तथा सोना और सुहाग वाली बात हो जाए।

(ब)—मानसिक शिक्षा—इसका उद्देश्य है मस्तिष्क का सम्यक् विकास। हमारा मस्तिष्क इस प्रकार विकसित हो कि (१) हम शरीर-रक्षा-सम्बन्धी सभी बातों को भली प्रकार समझ लें तथा तदनुकूल आचरण करने लगें। (२) हममें सेवा-भाव आवे। (३) हमारे हृदय में बन्धुत्व के भाव जाग्रत हों। (४) हम अपनी पाठ्य-पुस्तकों तथा अन्य पुस्तकों को भली प्रकार समझ सकें। (५) नई बातें जानने के लिए हम उत्सुक हों, ज्ञान-वृद्धि के लिये हम आकुल बने रहें। (६) हममें कार्य-क्षमता आवे तथा (७) हमारी बुद्धि नीर क्षीर विवेक के योग्य बन जाये।

(स) आध्यात्मिक शिक्षा—इसके अन्तर्गत तीन अवयवों पर विशेष बल दिया जाना चाहिए (अ) सम्मान अथवा आदर भाव, (ब) बन्धुत्व भावना, (स) दया एवं करुणा भाव। इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

(अ) सम्मान अथवा आदर भाव (१) मान्यताओं के प्रति--राष्ट्रिय धार्मिक, जातीय, सामाजिक, पारिवारिक एवं व्यावसायिक मान्यताएँ इस क्षेत्र में आती हैं। इन्हें हम निस्संकोच स्वीकार करें। (२) महानता के प्रति अमानुषी कृत्य तथा कला की महत्ता के सम्मुख हम नत मस्तक हों। कला के क्षेत्र में ललित कलायें, वास्तु-कला, मूर्ति कला, चित्र-कला, नृत्य-कला, संगीत साहित्य आदि आती हैं।

(३) अवस्था के प्रति—वयोवृद्ध जनों का हम सम्मान करें तथा दुर्बल एवं दीन बालकों को अपना वरद हस्त प्रदान करें तथा उनके प्रति सहिष्णु बनें।

(४) उत्साह के प्रति—जिन व्यक्तियों में युवकों जैसा उत्साह है और कार्यशीलता हो, उनका हम आदर करना सीखें।

(५) आचरण के प्रति—सद्गुणों एवं सद्व्यवहार के प्रति हमारे हृदय में सम्मान का आविर्भाव हो। साहस, अदम्य उत्साह, सच्चाई ईमानदारी, वफादारी, सहिष्णुता, त्याग, उत्सर्ग, शुभ्रता, स्फूर्ति, स्वाभिमान आदि सद्गुणों के महत्त्व को स्वीकार कर हम उनके प्रति श्रद्धालु बनें।

(ब) बन्धुत्व के भाव—हम विश्व के प्रत्येक पदार्थ में अपने स्वरूप का दर्शन पावें तथा उसके प्रति प्रेम-भाव रखें। इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों को भली प्रकार समझें तथा अधिकारों के स्थान पर कर्त्तव्यों का पाठ पढ़ें।

प्रत्येक जाति, प्रत्येक समुदाय, प्रत्येक धर्म तथा प्रत्येक राष्ट्र के प्रति हमारे हृदय में प्रेम भाव हो, हम किसी को न तो बुरा समझें और न किसी से घृणा करें।

हमारी शिक्षा हमें इस योग्य बनायें कि हम प्रत्येक बात को निष्पक्ष भाव से समझ सकें। अपने निजी विचारों के अनुरूप अपनी धारणायें निर्धारित कर सकें तथा सिद्धान्त के पीछे मर मिटने को तैयार हो जायें। जब तक व्यक्ति की अपेक्षा सिद्धान्त को महत्ता एवं मान्यता प्रदान नहीं की जाती है, तब तक बन्धुत्व के भाव एक दूर का स्वप्न है।

(स) कृपा एवं करुणा के भाव—हमारे अन्दर विश्व के प्रत्येक असहाय निरुपाय, दलित, पीड़ित, शोषित, दुःखी, निर्धन व्यक्तियों के प्रति दया एवं करुणा के भाव हों। उन्हें क्रोध और घृणा के पात्र न समझकर हम उनके प्रति दया और प्रेम के भाव रखें। निर्धन और दुःखी होना केवल दुर्भाग्य हो सकता है, अपराध नहीं। उक्त भाव के साथ संयोग होना चाहिये उदारता एवं निस्वार्थता का। इतना ही काफी नहीं है कि हम दीन-दुखियों पर दया करके ही रह जायें। हम उनके दुःख-दर्द में हाथ बटाये तथा उनके पीछे उत्सर्ग एवं स्वार्थ-त्याग भी करें। संक्षेप में हमारी करुणा-सक्रिय हो, निष्क्रिय और निष्चेष्ट नहीं।

उक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि हमारा पाठ्य-क्रम केवल काम चलाऊ वस्तु न हो, वह केवल परीक्षाएँ पास कराने का माध्यम मात्र न हो, वह हमें भली-भाँति जीना भी सिखाये। अतएव हमारे पाठ्यक्रम में मुख्य-तया दो प्रकार की व्यवस्था होना चाहिये उसमें (१) आचरण-सम्बन्धी परीक्षायें हों तथा (२) हम स्वाभिमानी मानव बन कर रहना सीखें। तभी यह सम्भव हो सकेगा कि शिक्षित समुदाय में भय और चिन्ता का स्थान शांति और साहस ले सकेंगे। सशयात्मक विद्या के स्थान पर वास्तविक ज्ञान तथा विषय में पैठ हो तथा उदासीनता के भाव की जगह अदम्य उत्साह एवं सूझ-बूझ दिखाई दें।

इस शिक्षा का एक ही उद्देश्य होगा, एक नवीन युग का प्रादु-र्भाव। उसके निम्न रूप होंगे :

(१) सत्य, अहिंसा, धार्मिक सहिष्णुता, सांस्कृतिक व्यापकता, कला-प्रेम, औद्योगिक सहकारिता आदि द्वारा भारत माता की सेवा में पूर्ण समर्पण।

(२) अपने आधुनिक जीवन में प्राचीन मान्यताओं को क्रिया रूप में परिणत करके भारत की विस्मृत अतीत गौरव गाथा की पुर्नप्रतिष्ठा।

(३) समस्त विश्व के लिये उज्ज्वल भविष्य की उत्कट अभिलाषा।

नवीन आशा का संचार करके उज्ज्वल भविष्य का स्वरूप प्रस्तुत करने वाली शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है। विद्या वही है जो हमें इस

दुनिया की चिन्ताओं से मुक्त कर भवसागर से पार लगाने में समर्थ हो। "सा विद्या या विमुक्तए।"

अंग्रेजी विद्वान् हरबर्ट स्पेन्सर ने ठीक ही कहा है कि—

"To prepare us for complete living is the function which education has to discharge अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य हमें पूर्ण जीवन के लिये तैयार करना है। वास्तव में सच्ची शिक्षा वही है जो मनुष्य की सुषुप्त शक्तियों, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की शक्तियों को जाग्रत करके उनका विकास करे।

---

२३ : ऐलोरा (वेलूर) की कन्दराएँ

रूपरेखा—

१—इन कन्दराओं का पूर्व इतिहास।
२—कन्दराओं की भौगोलिक स्थिति।
३—कन्दराओं का वर्णन।
४—उपसंहार—इन कन्दराओं की विशेषताएँ।

बौद्ध भिक्षु पहाड़ों को काट-काट कर अपने रहने के लिये घर तथा पूजा करने के लिये मन्दिर बना लिया करते थे। पर्वत स्थित होने के कारण जनता की बोली में इन्हें कन्दरा ही कहा जाता है।

वह युग वास्तु-कला एवं मूर्त्ति-कला का स्वर्ण युग था। अतएव इन गुफाओं के निर्माण में भारतीय कला-कौशल का समावेश हुआ, और बड़े बड़े राजप्रासादों एवं राजसभा-मण्डपों के रूप में इन कन्दराओं का निर्माण होने लगा। बाद में ब्राह्मणों (शैव तथा वैष्णव) और जैन मता-वलम्बियों ने भी ऐसे कक्षों का निर्माण किया।

दक्षिण पश्चिमी भारत के पर्वत इस प्रकार के कला-प्रदर्शन के के लिये अत्यधिक उपयुक्त हैं। कम से कम इतना तो अवश्य है कि उन

पहाड़ों के पत्थरों को सरलता पूर्वक काटा जा सकता है। साथ ही उनकी मिट्टी भड़ती नहीं है, जितना काट दो बस उतना ही बना रहता है। वैज्ञानिकों का मत है कि पर्वतों की शिलायें दो प्रकार से निर्मित होती हैं। जहाँ पहिले पानी हो प्रकृति के घर्षण द्वारा बाद में पहाड़ निकल आवे। हिमालय पर्वत ऐसी ही शिलाओं से निर्मित हुआ है। दूसरे वे शिलाएँ जो वनों के जलकर दब जाने से निर्मित होती है। इन कार्यों में सहस्त्र वर्ष लगते हैं। जो भी हो, इस प्रकार की गुफाएँ अथवा पर्वत स्थित प्राचीन वास्तु-कला के भग्नावशेष लगभग ४०, ४५ स्थानों पर आज भी उपलब्ध है। यथा अजन्ता कुदा, केर्ले, कन्हेरी, जुनार, नासिक, बाग (मालवा) तथा औरङ्गाबाद। कुल मिलाकर ऐसी यहाँ लगभग एक हज़ार कन्दराएँ हैं। अधिकांश बौद्धों द्वारा निर्मित हैं।

इनके अतिरिक्त शैव और वैष्णवों की भी अनेक कन्दराएँ हैं। बम्बई में ऐलीफेन्टा की गुफ़ा शैवों की प्रसिद्ध गुफा है। जैनों द्वारा निर्मित गुफाओं की संख्या अपेक्षाकृत कम है।

औरंगाबाद से लगभग १४ मील की दूरी पर बेलूर (वहाँ की बोली में वेलूड़) गाँव है। इसी को ऐलोरा कहते हैं, तथा वे प्रसिद्ध गुफ़ाएँ यहीं हैं। भूगोल के विद्यार्थियों के लिए ऐलोरा की स्थिति इस प्रकार बताई जा सकती है। २०° २ उत्तर अक्षांस, ७५° १५ पूर्व देशान्तर। औरंगाबाद से उत्तर पूर्व १४ मील पर। ये गुफायें उत्तर दक्षिण फैली हुई है। दक्षिण में बौद्धों की गुफायें हैं। तथा उत्तर वाले सिरे पर जैनियों की। बीच में ब्राह्मणों की गुफाएँ हैं।

गुफाओं के मध्य में कैलास नाम की गुफा है। इसके दक्षिण में १६ गुफाएँ हैं तथा उत्तर में भी लगभग इतनी ही गुफाएँ हैं परन्तु तितर-बितर। ये गुफ़ाएँ पहाड़ी अथवा प्लेटों में से काटी गई हैं। इनमें प्रायः प्रत्येक का एक विशेष नाम है।

इन गुफाओं के सम्मुख पहुँच कर दर्शक अवाक् रह जाता है। इतना ही क्यों लगभग ५ मिनट के लिए आत्म-विस्मृत हो जाता है। हम कल्पना ही नहीं कर सकते कि जिन्हें हम गुफा कहते हैं, वे स्थान इतने

सुन्दर, कलापूर्ण एवं विस्तृत हो सकते हैं। समझ में नहीं आता कि हम क्या देखने आये थे और क्या देख चले। ऐसा प्रतीत होता है कि हम किसी बड़े राजमहल के सामने खड़े हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि आप भी उन गुफाओं के भव्य स्वरूप की कल्पना कर ही नहीं कर सकते हैं। चीज़ ही अनूठी है। हम कैसे कहें कि वह क्या है? "गिरा अनयन नयनु बिनु बाणी" का जीता जागता उदाहरण ही सामने खड़ा हो जाता है। ये गुफाएँ कैसे बनी होंगी, बस यह प्रश्न दर्शकों को हैरान कर डालता है। न कहीं पत्थर घुमाने-फिराने की गुंजायश है और न स्वयं कारीगर को इधर-उधर घूमने और मुड़ने का मौका। और फिर यदि कोई भूल हो जाये, तो उसके सुधार का भी कोइ अवसर नहीं है। एक पत्थर की जगह दूसरा पत्थर लगा देने की चर्चा ही व्यर्थ है। वहाँ तो जो है वह सामने है। पहाड़ी को काटते चले जाइये और कहीं तनिक भी भूल न कीजिये। अन्यथा सब काम बिगड़ जायेगा। कल्पना नहीं की जा सकती कि उन्हें बनाने वाले कारीगर कितने कुशल अध्यवसायी कलाकार जीव होंगे।

इतना ही नहीं कि लम्बे-चौड़े द्वार और स्तम्भ छांट कर बैठने भर के लिए स्थान कर दिया गया हो, उनमें भाँति-भाँति की मूर्त्तियाँ चित्रकारी एवं पच्चीकारी भी छांटी गई हैं। एक-एक मूर्त्ति ८०, ९० फुट लम्बी बनाई गई है, केवल पहाड़ काट कर, और फिर भी सूक्ष्म मनोभावों का प्रदर्शन, मुँह पर मधुर मुस्कान एवं ओठों पर मृदुल हास। यह सब देख कर क्या आप भ्रमित एवं चकित न हो जायेंगे?

ऐलोरा के उन पाषाणों में भारत का गौरव आज भी बोलरहा है। हम उसे भले ही भूल जायें, परन्तु वह प्रस्तर-रेखा बना हुआ है, वह अमिट है। इतिहास रेखा-प्रस्तर होता है, यह वास्तु-कला इसी तथ्य का प्रतीक है।

पहली कन्दरा साधारण है। लगभग ४०, ४२ फुट लम्बी-चौड़ी। इसमें ८ कोठरियाँ है। इसका आगे का भाग गिर चुका है।

दूसरी कन्दरा काफी बड़ी है। इसमें कई एक सुन्दर मूर्त्तियाँ हैं। एक मूर्त्ति के सिर पर बहुत सुन्दर मुकुट बना हुआ है, जिसे देखते ही

बनता है। दूसरी ओर राजा रानी बने हैं, जिन्हें एक गन्धर्व माला पहिना रहा है। इस कन्दरा के द्वार पर १३-१४ फुट लम्बे दो द्वारपाल खड़े हैं। इनकी वेश-भूषा साधारण बनाई गई है।

अन्दर दक्षिण की ओर बुद्ध की एक भव्य मूर्त्ति है। उनके एक हाथ में माला है तथा दूसरे में कमल नील। इसके अतिरिक्त सिंहासन पर बैठी हुई अन्य दो बुद्ध मूर्त्तियाँ और हैं। प्रत्येक द्वारपाल एवं द्वार के मध्य में एक स्त्री खड़ी हैं। उनके हाथों में एक-एक फूल है। इसी प्रकार इसमें अन्य अनेक मूर्त्तियाँ है। स्थानाभाव के कारण उन सबका वर्णन नहीं किया जा सकता है। फिर जो वस्तु केवल देखने की है, उसका पूरा वर्णन कठिन ही है।

प्रत्येक कन्दरा का वर्णन न करके हम केवल कुछेक महत्त्वपूर्ण कन्दराओं की ही चर्चा करेंगे।

कन्दरा संख्या दस। इसे विश्वकर्मा कहते हैं। इसे बौद्धों का मंदिर कह सकते हैं। इसमें घुसते ही एक विस्तीर्ण चौक (आंगन) है। चारों ओर २८ फुट ऊँचे अठ-पहलु खम्बों पर स्थित बारादरी है। इसकी प्रत्येक ओर लम्बाई ८५ फुट १० इञ्च, चौड़ाई ४३ फुट तथा ऊँचाई ३४ फुट है। इसके ठीक सामने एक सुन्दर गोल घेरा-सा बना हुआ है, जिसकी ऊँचाई २७ फुट हैं, तथा व्यास साढ़े १५ फुट है। इसके ऊपर अध्यावस्था में बुद्ध-देव विराजमान हैं। इनकी मूर्त्ति की ऊँचाई ११ फुट है। इनके सिर के ऊपर बोधि-वृक्ष की छाया है, तथा चारों ओर गन्धर्व खड़े हैं। इसकी छतों के शहतीर अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से बनाये गये है। इस मूर्त्ति के सामने वाले मार्ग के दोनों ओर कोठरियों में गौतम बुद्ध की मूर्त्तियाँ हैं। इस कन्दरा की कारीगरी बढ़इयों के लिये आदर्शकला का नमूना है। इस विश्वकर्मा गुफा की पूजा के लिये सहस्रों बढ़ई आते रहते हैं। उनका विश्वास है कि भगवान् गौतम बुद्ध ने ही विश्वकर्मा का स्वरूप धारण कर के उनकी कला को संरक्षण प्रदान किया था।

कन्दरा संख्या ११ तथा १२ क्रमशः दो थाल और तीन थाल कह-लाती हैं। इनके बरामदे महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी ऊँचाई १०० फुट से

अधिक है। इन गुफाओं में तीन-तीन मंजिलें बनी हुई हैं, तथा उन पर धुर-ऊपर तक जाने के लिये सुन्दर और चौड़े जीने बने हुये हैं। इनकी सीढ़ियाँ तो अत्यन्त कलात्मक हैं ही, साथ ही जीने में प्रकाश एवं वायु का प्रबन्ध करने के लिये यथा स्थान रोशनदान भी बना दिये गये हैं। इन कन्दराओं में भाँति-भाँति की अनेक मूर्तियाँ हैं। यमिनी की मूर्त्ति विशेष रूप से देखने योग्य है। तीन थाल में भगवान् की मूर्त्ति विशेष रूप से दर्शनीय है। वह एक उपदेशक एवं शिक्षक की मुद्रा में है। वह पद्मासन मारे पृथ्वी पर विराजमान हैं। बाँये हाथ की कनिष्टका को वह अगूठे से पकड़े हैं, तथा सीधे हाथ की तर्जनी द्वारा वह कुछ संकेत कर रहे हैं। वह सिंहासन पर बीच वाले सिंह पर विराजमान हैं। गन्धर्व आदि के स्थान पर इस मूर्त्ति में और भी चीजें हैं यथा—१. बुद्धदेव पद्मासन मारे ध्यानावस्था में निमग्न हैं, ठीक उसी अवस्था में जिसमें उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। २. इन बुद्धदेव के ऊपर बुद्धदेव की एक अन्य मूर्त्ति है, जिसमें ऊपर आकाश की ओर से निर्वाण प्राप्त करता हुआ दिखाया गया है और तीसरी मूर्त्ति में बुद्धदेव को शरीर त्याग, अथवा निर्वाण प्राप्त करता हुआ दिखाया गया है। उपदेशक गौतम बुद्ध के ये तीन महत्त्वपूर्ण अङ्ग इस कन्दरा के तीन थाल में भली प्रकार अङ्कित हैं।

दो थाल और तीन थाल कन्दराओं के बाद ब्राह्मणों की कन्दराएँ प्रारम्भ होती हैं। प्रथम कन्दरा तीन थाल की उत्तर की ओर लगभग ४० गज़ की दूर है। यह एक विस्तृत किन्तु साधारण कमरा है। चट्टानों के घिसने के कारण इसके सामने वाला भाग नष्ट हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक प्रकार की धर्मशाला के रूप में बनाया गया था और यात्रियों अथवा भक्तों के लिए विश्राम-गृह का काम देता था।

इसी के बराबर कन्दरा संख्या १४ है। इसे रावल का गढ़ कहते हैं। इसके सामने चार और भीतर की ओर हौल में १२ बड़े-बड़े खम्मे हैं। इस हौल की ही लम्बाई साढ़े ५५ फुट तथा चौड़ाई ५४ फुट है। इसके अर्द्ध भाग में एक सुन्दर वेदी बनी हुई है, जिसके चारों ओर परिक्रमा का सुन्दर मार्ग है। इस परिक्रमा मार्ग की ऊँचाई बीच में साढ़े-

चौदह फुट तथा इधर-उधर किनारों के पास १३ फुट८ इञ्च है। इसके आस-पास के कई खम्भे नष्ट हो चुके हैं। यह भाग कलापूर्ण नक्काशी का नमूना है। कन्दरा के दक्षिण वाली दीवार पर शैव-सम्बन्धी कारीगरी है। सामने वाले भाग से प्रारम्भ करके, उसमें निम्नप्रकार प्रतिमायें मिलती हैं।

१. महिसासुर—दुर्गादेवी महिसासुर का उद्धार कर रही है।

२. एक ऊँचे से चबूतरे पर शिव और पार्वती बैठे हुये चौसर अथवा चौपड़ खेल रहे हैं। शिवजी के पीछे गणपति एवं अन्य लोग खड़े हैं, पार्वतीजी के पीछे-पीछे महिलाएँ एवं एक पुरुष खड़े हैं। सबकी दृष्टि खेल पर ही लगी हुई है। चबूतरे के नीचे नांदिया शिवजी का वाहन तथा शिवजी १३ गण विराजमान हैं। इसका बहुत-सा भाग टूट-फूट चुका है।

३. इसमें शिवजी तांडव नृत्य कर रहे हैं।

४. इसमें लंका का राजा रावण दशानन, अपने बल के मद में चूर कैलास पर्वत को उठाने का प्रयास कर रहा है। पर्वत के ऊपर शिव-पार्वती विराजमान हैं। पार्वती भयभीत होकर शिवजी से लिपट गई हैं। शिवजी ने अपने पैर के अंगूठे से पर्वत को दबा दिया है। अन्त में रावण को अपने इस दुस्साहस के लिये पश्चाताप करना पड़ा था। यह मूर्ति बहुत बड़ी तथा अत्यन्त प्रभावशाली है। इसमें रावण के दशों सिर, बीस भुजायें आदि सब स्पष्टतया बनाये गये हैं।

५. इसमें शिवजी का संहारकारी स्वरूप भैरव है। इनके छः हाथ हैं, दो में हाथी की खाल है, दो में भाला है, जिसमें उन्होंने रत्नासुर को मारा था। एक हाथ में खड्ग है, तथा एक में असुरों का रक्त भरने का खप्पर।

६. इनकी परिक्रमा में महत्त्वपूर्ण कारीगरी है। सर्वप्रथम व्याल है। इनके चार भुजायें हैं तथा वक्षःस्थल पर बिच्छू बैठा है। फिर काली-देवी हैं और उसके बाद लड़खड़ाते हुये गणेश जी हैं। इनके बाद सप्त देव मातायें हैं, यथा उलूक सहित चामुण्डा हाथी के साथ इन्द्राणी, शूकर सहित बाराही, गरुण सहित लक्ष्मी, मयूर सहित कौमारी, बैल के साथ महेश्वरी

तथा हंस वाहिनी सरस्वती। लौटते हुये त्रिशूल एवं डमरू सहित शिवजी के दर्शन होते हैं।

कन्दरा की उत्तर वाली दीवार का ब्यौरा इस प्रकार है :

१. भवानी अथवा दुर्गा हैं। इनके चार भुजायें हैं तथा इनका एक पैर चीते के ऊपर रखा हुआ है। एक हाथ में त्रिशूल है। शेष नग्न है।

२. लक्ष्मी हैं। कमल के आसन पर विराजमान हैं। चारों ओर कलश लिए हुये इनके कर जोड़े हुए प्रतिहारी खड़े हैं। इनके हाथ में विष्णु का प्रतीक शङ्ख है। कलशों में पानी भर कर हाथी इन्हें स्नान करारहे हैं।

३. इसमें विष्णु के वाराहावतार की मूर्त्ति है। ये शेष द्वारा ग्रसित पृथ्वी का उद्धार करते हुये दिखाये गये हैं।

४. इसमें वैकुण्ठ में विराजमान विष्णु भगवान् हैं। इनकी चार भुजायें हैं। वह अपनी पत्नी लक्ष्मी एवं सीता के मध्य में बैठ हुये हैं। पीछे चार सेवक खड़े खड़े चँवर ढाल रहे हैं। नीचे इनका वाहन गरुड़ विराजमान है तथा कई व्यक्ति स्त्री-पुरुष वाद्य बजारहे हैं।

५. इसमें तोरण के नीचे विष्णु और लक्ष्मी एक ही सिंहासन पर बैठे हुये हैं। इनके आस-पास कई सेवक सेविकायें खड़े हैं तथा संगीत-समाज हो रहा है।

वेदी के सामने वाले भाग में दो विशालकाय द्वारपाल खड़े हैं। इनके आस-पास अन्य स्त्री-पुरुष खड़े हैं। इनकी वेश-भूषा राजसी है। इनकी बगल में सुन्दर मालायें धारण किये हुए गन्धर्वगण खड़े हैं।

सामने वाले हौल में हवन के लिये चार कुण्ड बने हुये हैं।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि इस कन्दरा की दक्षिण वाली दीवार पर बनी हुई संख्या २, ३, ४, ५, मूर्त्तियाँ प्रायः सारी ब्राह्मणों की गुफाओं में बनी हुई हैं। उनकी बनावट में थोड़ा-बहुत फेर-फार भी ही है, परन्तु भाव एक ही है।

गुफा संख्या १५, इसे दस अवतार कहते हैं। यह अपेक्षाकृत ऊँचाई पर बसी हुई है। तथा इसमें अन्दर जाने के लिये एक जीने पर चढ़कर जाना होता है। इसमें काफी सीढ़ियाँ हैं। इस गुफा का निर्माण बौद्धों के

ढंग पर किया गया है। इसमें दो मंजिलें है, पहिली आँगन से कुछ ही ऊँची है। इसका आधार १४ खम्भे हैं। ये खम्भे अत्यन्त साधारण वर्गाकार बने हुये हैं। इसमें छोटी-छोटी ११ छटरी सी बनी हुई है। इनमें विभिन्न देवता विराजते हैं। यथा—१. गणपति, २. शिवजी की गोदी में बैठी हुई पार्वती, ३. सूर्य, ४. गणपति तथा नान्दी सहित शिव और पार्वती तथा गरुड़ सहित विष्णु, ५. महिसासुर, ६. अर्द्धनारी, ७. भवानी, ८. गणपति, ६. तपस्या करती हुई उमा, जिनको ब्रह्मा आदि देवगण देख रहे हैं, १४. अर्द्ध-नारी तथा ११. काली।

दूसरी ओर के ज़ीने द्वारा हम एक अन्य हौल में पहुँचते हैं। इसमें एक ओर वैष्णवों तथा दूसरी ओर शैवों की मूर्त्तियां हैं। इस हौल की लम्बाई १०६ फुट तथा चौड़ाई ६५ फुट है।

अब हम दक्षिण की ओर वाली दीवार पर जाते हैं। यहाँ भगवान् के विभिन्न रूपों की मूर्तियाँ हैं। यथा—१. गोवर्द्धनधारी विष्णु, २. शेष-शायी विष्णु नारायण, लक्ष्मी इनकी पाद-सेवा कर रही है। ३. गरुड़ पर विराजमान विष्णु, ४. बलि वेदी, ५. वराहवतार, ६. वामनावतार, ७. नृसिंहावतार, ८. बाहर की ओर विशालकाय शिवजी विराजमान है, जिसके दोनों ओर द्वारपाल खड़े हैं।

गुफा संख्या १६, कैलाश अथवा रंग महल. यह भारतवर्ष की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गुफा अथवा पर्वत-मन्दिर है। ऐलोरा में यदि विश्वकर्मा, दो थाल तीन थाल, इन्द्र सभा आदि अन्य गुफायें न भी होतीं, तब भी अकेली इसी गुफा कैलाश के कारण ऐलोरा का इतना ही महत्त्व रहता। ऐलोरा जाने वाले यात्रियों के उत्साह एवं वहाँ पहुँच कर प्राप्त होने वाले मानसिक सुख एवं पुरस्कार में किसी प्रकार की कमी न आती।

इस गुफा में विभिन्न प्रकार के रंगों की दस्तकारी एवं चित्रकारी है। यह कारीगरी अजन्ता की गुफाओं में उपलब्ध रंगीन चित्रकारी से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

इस गुफा में उपलब्ध सामग्री उस समय की विभिन्न स्थितियों की परिचायिका है। सामाजिक स्थिति, धार्मिक स्थिति तथा हिन्दू संस्कृति एवं

ललित कला आदि ।

यह गुफा अन्य पर्वतमाला से सर्वथा पृथक् एक चट्टान में से काटकर बनाई गई है । रंगमहल की स्थिति २७६ फुट लम्बे तथा १५४ फुट चौड़े आँगन में है । इसके पीछे की दीवार १०७ फुट ऊँची है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस पर्वत मन्दिर की चित्रकारी सुरक्षित रखने के लिये समय समय पर इसकी मरम्मत भी होती रही है । इसमें एक ओर तो आठवीं शती के लेख मिलते हैं, और एक जगह पर कमल की पंखड़ियों पर १५ वीं शती के उल्लेख, हालांकि ये स्पष्टतया पढ़े नहीं जा सकते हैं ।

इस गुफा में अन्नपूर्णा, शिव, विष्णु, लक्ष्मी आदि समस्त देवी-देवताओं की विभिन्न रूपों में मूर्तियाँ हैं । विस्तार भय से पूरा ब्योरा देने में हम असमर्थ हैं । इसके पूरे परिचय के लिए एक स्वतन्त्र निबन्ध आवश्यक होगा । अतः हम इस प्रसंग को केवल यही कहकर समाप्त करते हैं कि "कैलास अथवा रंग महल" को देखते ही बनता है । शिवजी का कैलास मानो पृथ्वी पर उतर आया हो ।

कैलास के उत्तर में भी अनेक छोटी-छोटी गुफायें हैं । गुफा संख्या २१ को रामेश्वर कहते हैं । इसमें बहुत ऊँचा तथा सुन्दर एक शिवालय है । इसके अतिरिक्त इसमें महत्त्वपूर्ण वस्तु एक हॉल है, जिसकी लम्बाई २६१ फुट, चौड़ाई ६६ फुट, तथा ऊँचाई साढ़े १५ फुट है ।

कन्दरा संख्या २२ "नीलकंठ" कहलाती है । इसमें नीलकंठ महादेव की मूर्त्ति है । कन्दरा संख्या २४, २५, २६ तथा २७ क्रमशः तेली का गाना, कुम्भखाद, जन्वासा, तथा दैदवाली की गुफा कही जाती है । इन सबमें विभिन्न देवताओं की मूर्त्तियाँ हैं, तथा विशेष उल्लेख की कोई बात नहीं । केवल यही बताना है कि गुफा संख्या २६ जेनवासा की बनावट बम्बई की ऐलीफेन्टा कन्दरा के ढंग की है । गुफा संख्या ३१ इसे छोटा कैलास कहते हैं । काल के विचार से यह जैनियों द्वारा निर्मित अन्तिम कन्दरा है । यह कैलाश की नकल पर बनाई गई है । इसकी निर्माण कला द्रविड़ कला के अनुसार है । इसकी लम्बाई १३० फुट, तथा चौड़ाई ८० फुट

है। यह सन् १८१७ में साफ कराई गई थी। इसमें बहुत से लेख १६ वीं शती के हैं। इसके मध्य में एक मंडप है। यह मंडप वर्गाकार है, प्रत्येक भुजा का नाप ३६ फुट है। इसके आधार १६ खम्भे हैं।

कन्दरा संख्या ३२ तथा ३३ भी जैन ही हैं। ३२ वीं कन्दरा इन्द्र-सभा कहलाती है। यह एक गुफा न होकर कई एक गुफाओं का समुदाय है। इसमें बाहर की ओर पार्श्वनाथ की मूर्ति है। इनके ऊपर सप्तफणी सर्प छाया किये हुये हैं, तथा एक महिला छाता लिये खड़ी है। दोनों ओर हिन्दुओं के देवी-देवता हैं, तथा दक्षिण की ओर गोमाता बैठी है।

अन्त में जैनियों को निर्वाण प्रदान कराने वाले अन्तिम महापुरुष एवं अवतार महावीर स्वामी विराजमान हैं।

इस गुफा में भी एक मण्डप बना हुआ है, एक स्थान पर नागवर्मा करके मूर्तिकार का नाम भी लिखा हुआ है, श्री नागवर्म्मा कृत प्रतिमा।

एक ओर ऊपर जाने का ज़ीना है। वहाँ एक बड़ा हाल है। हाल में चारों ओर धुँए के धब्बे हैं, और यत्र-तत्र चित्रकारी है। अनुमानतः इस हॉल में सुन्दर चित्रकारी की गई थी और सम्भवतः यवनों ने उसे नष्ट करने के लिये उस कन्दरा में आग लगाई थी।

गुफाओं के इस समुदाय में एक गुफा जगन्नाथ सभा कहलाती है। इसमें महावीर स्वामी तथा इन्द्र एवं इन्द्राणी की मूर्तियाँ हैं।

अन्तिम गुफा है पार्श्वनाथ। पार्श्वनाथ की शिवा और पार्वती पूजा कर रहे हैं। जिस गद्दी पर पार्श्वनाथ विराजमान हैं, उस पर एक शिला-लेख खुदा हुआ है, वह लेख ईसा के बाद सन् १२३४,५ का है, तथा डा० बुलर (Dr. Buller) ने उसका निम्न अनुवाद प्रस्तुत किया है।

Hail : In the year 1156 of the famous Sakatera, in the year (of the Brihaspati cycle) called Jaya.

1. In Sri (Verdhanapura) was born Randgi......his son (was) Galugi (the latter's wife) Svarna (dear) to the world.
2. From those two sprang four sons, Chakresvara and the rest. Chakresvara was chief among them, excelling throgh the virtue of liberality.

3. He gave, on the hill that is frequented by Charanas a monument of Parsvanatha and by (this act of) liberality (he made) an oblation of his Karma.
4. Many huge images of the Lordly Jinas he made, and converted the Charanadi there by into a holy tirtha just as Bharat (made) Mount Kailasa (a tirtha).
5. Unique image of faith, of firm and pure convictions kind constant t[illegible] ling the tree of paradise (in [illegible] becomes a protector of pure faith [illegible] felix fanstion quesit Phalguna 3, Wednesday.

(i.e. destroyed his karma which bound him to the samsara).

इस कन्दरा के नीचे ढाल पर कई एक छोटी-छोटी जैन गुफायें हैं। इनमें अधिकांश भग्नावस्था में हैं। परन्तु जो भी हैं, अत्यन्त दिव्य और भव्य है।

ये गुफायें १६ वीं शती में प्रकाश में आई थीं। इनकी खोज अनायास ही होगई थी। एक बार एक अंग्रेज शिकारी अपने शिकार का पीछा करते हुये इनमें से एक गुफा में घुस गया। वहाँ उसने शिकार को मार कर जब चारों ओर देखा तो आश्चर्यचकित रह गया कि भारतवर्ष के इस भू-भाग के पशु ऐसे दिव्य प्रासादों में रहा करते हैं। बस उसने जाकर अपने साथियों से चर्चा की। खुदाई शुरू हुई और एक के बाद दूसरी कन्दरा निकलती चली गई। फिर खोज प्रारम्भ हुई और ऐलौरा से ६० मील की दूरी पर अजन्ता की गुफायें मिलीं, जो भारतवर्ष की प्राचीन चित्रकारी के अप्रतिम उदाहरण हैं।

---

२४ : भारत का सिनेमा उद्योग

रूपरेखा–

१—भारतवर्ष में सिनेमा का प्रारम्भ।
२—भारतवर्ष के सिनेमा उद्योग का संक्षिप्त इतिहास।

३—सिनेमा उद्योग का व्यावसायिक पहलू ।

(अ) प्रतियोगिता ।

(ब) राष्ट्रीयकरण ।

(स) सैन्सर ।

४—डौकुमैन्टरी फिल्मों की आवश्यकता ।

५—उपसंहार—भविष्य, सरकार, निर्माता और जनता, तीनों के सहयोग की आवश्यकता है ।

सिनेमा-व्यवसाय इस समय भारतवर्ष का एक प्रमुख उद्योग है। इस उद्योग में लागत की दृष्टि से अमरीका के बाद भारतवर्ष की ही गणना की जाती है । लगभग ४० वर्ष पूर्व भारतवर्ष में इस उद्योग का आविर्भाव हुआ था । कहना न होगा कि इतने अल्पकाल में इस उद्योग ने आश्चर्य-जनक उन्नति करली है ।

श्री ढुंढिराज गोविन्द फालके भारतीय सिनेमा-उद्योग के जन्मदाता हैं । इनके द्वारा निर्मित 'राजा हरिश्चन्द्र' नामक फिल्म के साथ भारतवर्ष के सिनेमा-उद्योग का इतिहास प्रारम्भ होता है । उक्त फिल्म सर्वप्रथम बम्बई के कार्पोरेशन थियेटर में सन् १९१२ में प्रदर्शित किया गया था। इसके बाद सन् १९१७ में श्री० जे० एफ० मदन ने बङ्गाल में 'नलदमयन्ती' नामक चित्र बनाया और दक्षिण भारत में श्री० आर० वोनिया तथा श्री आर० प्रकाश ने सन् १९२१ में 'भीष्म प्रतिज्ञा' शीर्षक चित्र निर्मित किए। सारांश यह कि १७ वर्ष के अन्दर ही इसउद्योग ने अखिल भारतीय रूप धारण कर लिया । ये सभी चित्र मूक चित्र होते थे और विलायत से आते थे ।

बोलते चित्रों का निर्माण सिनेमा-जगत् की एक क्रान्तिकारी घटना है और २० वीं शती का एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार है । सर्वप्रथम सन् १९२९ में कलकत्ता में 'युनिवर्सल' कम्पनी (एक विदेशी कम्पनी) द्वारा निर्मित 'मैलोडी ऑफ़ लव' शीर्षक बोलता चित्र प्रदर्शित किया गया। बोलते चित्रों के निर्माण-क्षेत्र में श्री आर्देशिर एम० ईरानी अग्रदूत बने ।

उन्होंने सन् १९३१ में बम्बई में 'आलम आरा' नाम के बोलते चित्र का निर्माण किया। 'आलमआरा' भारतवर्ष में निर्मित सर्वप्रथम बोलता चित्र (Talkie) था।

भारतवर्ष में सन् १९१३ और सन् १९३१ के बीच में अनुमानतः १००० चित्रों का निर्माण किया गया था। बोलते चित्रों के आविष्कार ने मूक चित्रों का महत्त्व एकदम कम कर दिया। मूक चित्रों में प्रेक्षक को बहुत कुछ अन्दाज़ का सहारा लेना पड़ता है। बोलते हुये चित्रों ने कायापलट ही कर दी। सन् १९३१ में निर्मित मूक चित्रों की संख्या ३०० थी, सन् १९३५ में उनकी संख्या केवल ७ रह गई। सन् १९३१ में केवल २८ बोलते चित्र निर्मित किये गए; सन् १९३५ में उनकी संख्या २३३ होगई। इसके बाद मूक चित्रों का निर्माण एक प्रकार से समाप्त ही होगया।

उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सन् १९३५ और सन् १९४५ के बीच में बोलते हुए चित्रों के उत्पादन में बराबर ह्रास होता गया। सन् १९३५ में २३३, सन् १९३६ में २१७, सन् १९३७ में १७६, सन् १९३८ में १७२, सन् १९३९ में १६५, सन् १९४० में १७१, सन् १९४१ में १७०, सन् १९४२ में १६३, सन् १९४३ में १५९, सन् १९४४ में १२६ तथा सन् १९४५ में केवल ९९ चित्र निर्मित किये गए। इस ह्रास के दो मुख्य कारण थे—युद्ध जन्य-व्यवस्थाओं के फलस्वरूप वस्तुओं का अभाव तथा कच्ची फिल्मों के वितरण पर नियन्त्रण।

सन् १९४५ के दिसम्बर मास में कच्ची फिल्मों के वितरण पर लगा हुआ अंकुश हट गया तथा ३०० फ़ीट तक के ट्रेलरों का निर्माण वैध घोषित कर दिया गया। इन सुविधाओं के उपलब्ध होते ही नए-नए चित्र-निर्माता सिनेमा-उद्योग-क्षेत्र में आगये, क्योंकि युद्ध कालीन परिस्थितियों के फलस्वरूप मुद्रा का बेरोक-टोक स्फीति हुआ था और भारतवर्ष में अनेक बड़े आदमी उत्पन्न हो गए थे। फिर क्या था फिल्मों की बाढ़-सी आगई। सन् १९४६ में २०० तथा सन् १९४७ में २८३ चित्र निर्मित किये गए। सन् १९४७ के मध्य भाग में भारतवर्ष का विभाजन हुआ। सिनेमा के

प्रदर्शन का क्षेत्र संकुचित हो गया, पर्याप्त धन-राशि नष्ट हुई, परन्तु फिर भी उत्पादन में किसी प्रकार की कमी न हुई। सन् १९४८, सन् १९४९ तथा सन् १९५० में निर्मित होने वाले चलचित्रों की संख्या क्रमशः २३४, २७९ तथा २५६ है। भारतवर्ष में आज दिन लगभग २५० चलचित्र प्रतिवर्ष निर्मित होते हैं। अमरीका को छोड़कर अन्य किसी देश में एक वर्ष में इतने चित्र निर्मित नहीं होते हैं। अमरीका का उत्पादन ४३२ चित्र प्रतिवर्ष है।

चित्रों के उत्पादन-सम्बन्धी उपर्युक्त आंकड़े भारतीय जनता के बीच सिनेमा की लोक प्रियता के द्योतक हैं। बिना जनता द्वारा प्रोत्साहित हुए उद्योग का इस द्रुति गति से प्रसार होना असम्भव था। सिनेमा की लोकप्रियता का कारण उनकी जीवन में उपयोगिता नहीं है; उनके लोकप्रिय होने का केवल एक कारण है—सस्ते मनोरंजन के इस साधन को भारतवासियों ने कौतूहल की दृष्टि से देखा।

सन् १९२८ में समस्त देश में कुल मिलाकर ३४६ प्रदर्शन-गृह (Cinema halls) थे। सन् १९३५ में उनकी संख्या ७०० हुई और सन् १९३९ में उनकी संख्या लगभग १२६५ हो गई। सन् १९४७ में इनकी संख्या बढ़कर २०९० होगई। भारत-सरकार के सिनेमा द्वारा जारी किए गये एक वक्तव्य के अनुसार सन् १९५१ के अगस्त मास में भारतवर्ष में २५१८ प्रदर्शन-गृह थे। इन संख्या में उन प्रदर्शन-गृहों की गणना नहीं की गई है, जो उस समय १३१३ में चलते-फिरते प्रदर्शन गृहों के रूप में काम कर रहे थे। कहना न होगा कि हमारे देश में नित्य नये प्रदर्शन-गृह बन रहे है। इन आंकड़ों के आधार पर मोटा हिसाब यह बैठता है कि १ लाख व्यक्तियों के पीछे १ प्रदर्शन गृह है।

सिनेमा की सस्ती लोक-प्रियता के फलस्वरूप वितरकों तथा प्रदर्शकों ने विपुल सम्पत्ति अर्जित की, उन्हें आशातीत लाभ हुआ। सन् १९४०-४१ में उन्होंने ३,५४,००,००० रुपये का लाभ कमाया था। सन् १९४४-४५ में यह धन-राशि बढ़कर १०,७९,७३,५३३ रुपये होगई। आंकड़ों में क्रमागत वृद्धि होना इस लाभांश का मुख्य गुण है।

प्रत्येक व्यवसाय के तीन पहलू होते हैं। थोक विक्रेता, दलाल तथा खुदरा विक्रेता। सिनेमा-उद्योग के अन्तर्गत इस ओर क्रमशः निर्माता (Producer), वितरक (Distributor), तथा प्रदर्शनकर्त्ता (Cinema owner) के नाम लिये जा सकते हैं। एक सफल फिल्म के लिये यह आवश्यक है कि इन तीनों को पर्याप्त लाभांश प्रदान करे। भारतवर्ष में चित्रों का निर्माण करने वाले स्टुडियो की संख्या ६० के लगभग है तथा ३८ प्रयोगशालाएँ हैं। इनमें लगी हुई कुल पूँजी लगभग १० करोड़ है।

भारतवर्ष में एक फिल्म बनाने के लिये लगभग ७,५०,००० फ़ीट कच्ची फिल्म की आवश्यकता पड़ती है और भारतवर्ष में प्रतिवर्ष २८० चित्रों का निर्माण होता है। इस प्रकार भारतवर्ष को २४०० लाख फ़ीट कच्ची फिल्म की आवश्यकता रहती है। कच्ची फिल्में विदेशों से आती हैं। इनका आयात मुख्यत: ब्रिटेन, बेल्जियम, जर्मनी और अमरीका से होता है। इस मद में भारतवर्ष की विपुल धन-राशि विदेशों को चली जाती है। देखिए निम्नलिखित आंकड़े:—

कच्ची फिल्मों का आयात

वर्ष	लम्बाई (लाख फुटों में)	मूल्य (लाख रुपयों में)	आयातकर (३ पाई प्रति फुट के हिसाब से) (लाख रुपयों में)
१९४५-४६	८०७'९४	२९'०५	९'७१
१९४६-४७	१२८६'२३	५४'११	१८'८३
१९४७-४८	१७४२'००	७९'९६	२५'०९
१९४८-४९	१५६४'१६	७९'९६	२४'६३
१९४९-५०	१७८७'५०	९५'३०	२८'९७
१९५०-५१	१०८५'३८	१२५.५९	३२'४७
१९५१ (अप्रैल-अगस्त)	८३३'०७	५२'५४	१३'३६

कच्ची फिल्मों के अतिरिक्त अनेक विदेशी चित्रों का भी आयात होता है। विदेशी फिल्मों के वितरण के लिए विदेशी कम्पनियाँ हैं और इस प्रकार देश का बहुत-सा रुपया विदेशों को चला जाता है। विदेशों से मुख्यतः फीचर फिल्म न्यूज़रील का आयात होता है तथा अमरीका इनका प्रमुख निर्यातक है। भारतवर्ष की इस सम्पत्ति के बाहर जाने का कारण केवल भारतीय फिल्म-व्यवसाय की दुर्बलता है, क्योंकि विदेशी कम्पनियों के साथ प्रतियोगिता करने की उनमें अभी तक सामर्थ्य नहीं आसकी है।

भारतीय सिनेमा-उद्योग के व्यावसायिक पहलू की जांच-पड़ताल करने के लिये एक जांच-समिति की नियुक्ति की गई है। उसने सुझाव दिया है कि फिल्म व्यवसाय में लगा हुई कुल पूंजी भारतवर्ष की आवश्यकताओं को देखते हुये अपेक्षाकृत न्यून है। फिल्म कम्पनियों के लिए पूंजी की समुच्चित्त व्यवस्था करने के लिये यह आवश्यक है कि १ करोड़ रुपये की पूंजी पर एक फिल्म कौरपोरेशन सगठित की जाए तथा बौंड और डिबेंचर बेच कर कौरपोरेशन के लिए यह धन उपलब्ध किया जाए उसके मतानुसार वर्तमान सेन्सर में आमूल परिवर्तन करके इस प्रकार की व्यवस्था की जाये ताकि भारतवर्ष में सस्ता मनोरंजन करके कामुकता का प्रचार करने वाले फिल्मों का बनना रोका जा सके। भारतवर्ष में सर्वप्रथम सन् १९२० में सैंसर जारी किया गया था। उस समय बम्बई कलकत्ता और मद्रास में प्रान्तीय सैंसर बोर्ड स्थापित किये गए थे। अभी तक सैंसर बोर्डों का काम बहुत ही असन्तोषजनक रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि अनेक प्रान्तीय सेंसर बोर्डो के स्थान पर केवल एक केन्द्रीय निरीक्षक-(Central Censor Board) स्थापित कर दिया जाए। सन् १९४९ में सर्वप्रथम सेंसर का काम केन्द्रीय सरकार की कार्य-सूची में सम्मिलित किया गया था। सन् १९४९ में भारत सरकार द्वारा निर्मित एक कानून के अनुसार फिल्मों को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है—एक तो वे फिल्में जो केवल वयस्कों के लिए दर्शनीय हैं तथा दूसरी वे फिल्में जो सबके लिए दर्शनीय हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विभाजन-क्रम अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर सका है। नियम का पालन कराने के लिए

सरकार को कड़ाई के साथ काम करना होगा।

विभिन्न प्रान्तों के सेन्सर बोर्ड विभिन्न प्रणालियों पर काम करते हैं। कहीं विनोद-कर में अत्यधिक वृद्धि कर दी जाती है, कहीं अत्यधिक कमी; कहीं किसी फिल्म के प्रदर्शन पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है, कहीं उसमें कुछ काट-छाँट कर दी जाती है। इनके कारण निर्माताओं, वितरकों तथा प्रदर्शकों तीनों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। सेन्सर बोर्डों की गतिविधि का यह क्रम भारतवर्ष के सिनेमाउद्योग की प्रगति में महत्त्वपूर्ण रोड़ा है।

कतिपय व्यक्तियों के मतानुसार सरकार को चाहिए कि सिनेमा-उद्योग को अपने हाथ में लेले, अर्थात् उसका राष्ट्रकरण (Nationalisation) कर दे। हमारे विचार से राष्ट्रकरण के द्वारा इस उद्योग की उन्नति में बाधा पड़ेगी। यह एक ऐसा उद्योग है जिसका विकास निजी तौर पर ही किया जाना चाहिए। आवश्यकता केवल इस बात की है कि एक केन्द्रीय सेन्सर बोर्ड की स्थापना कर दी जाए, जो सम्पूर्ण देश के लिए समान नीति-नियम निर्धारित करे, तथा फिल्म के निर्माताओं पर कड़ी दृष्टि रखे, और केवल उन्हीं फिल्मों के प्रदर्शन की आज्ञा दे जो हमारे जन-जीवन में हितकर एवं भारतवर्ष के नव-निर्माण में सहायक सिद्ध हों।

भारत सरकार के उद्योग, वाणिज्य और पूर्ति मंत्रालय (Ministry of Industry, Commerce and Supply) ने व्यवस्था की है कि सिनेमा के निर्माण के लिए केवल लैन्सों को छोड़कर अन्य समस्त वस्तुओं का भारतवर्ष में ही निर्माण हो। एक योजना के अनुसार सन् १९५४–५५ तक सभी आवश्यक वस्तुओं का निर्माण भारत में ही होने लगेगा।

पाठक ! स्मरण रखें कि सिनेमा अथवा फिल्मों के मुख्यतया तीन उद्देश्य होते हैं—शिक्षा, मनोरंजन तथा विज्ञापन अथवा प्रचार। जिन फिल्मों का मुख्य उद्देश्य शिक्षण होता है, उन्हें हम डौकुमैण्टरी फिल्म (Documentary films) कहते हैं। इन फिल्मों के द्वारा मनोरंजन भी होता है, परन्तु गौण रूप से। किसी घटना विशेष का चित्रण करने वाली, विभिन्न सूचनायें देने वाली, किसी देश के निवासियों के जीवन चित्रित

करने वाली फिल्में इस श्रेणी में आती हैं। पाश्चात्य देशों में इन्हें शिक्षा-प्रसार एवं शिक्षण का सर्वोत्तम तथा सर्वोपयोगी साधन के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है और इस प्रयास में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिल चुकी है।

भारतवर्ष में डौकूमैन्टरी फिल्मों का प्रायः अभाव ही समझना चाहिये। यह बात दूसरी है कि खेल प्रारम्भ होने के पहिले सरकारी आदेश को पालन करने के विचार से १० मिनट तक कुछ सूचनात्मक सरकारी फिल्में दिखाई जाती हों। वैसे यहां पर सस्ता मनोरंजन करने वाली फिल्मों का ही निर्माण होता है। इनके द्वारा हमारे जन-जीवन के स्वास्थ्य पर कितना बुरा प्रभाव पड़ रहा है, यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है। यह बात निर्विवाद है कि यहां केवल आर्थिक लाभ के दृष्टिकोण को सामने रख कर ही फिल्में तैयार की जाती हैं। हमारे सिनेमाओं के मैनेजर आदि भी इन डौकूमैण्टरी फिल्मों को किस दृष्टि से देखते हैं, यह स्पष्ट करने के लिए एक घटना का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

ब्रिटिश कौन्सिल के एक अफसर श्री काउसलैण्ड एक बार मसूरी गए हुये थे। एक दिन वह सिनेमा देखने गए। उनकी पत्नी भी उनके साथ थीं। खेल के पहिले 'हिमाचल प्रदेश' नाम की डौकूमैण्टरी फिल्म दिखाई गई। श्री काउसलैण्ड को वह बहुत पसन्द आई। उस डौकूमैण्टरी फिल्म को देखने के उद्देश्य से ही उन्होंने अगले खेल के लिए दुबारा फिर टिकट ले लिए। इस बार खेल के प्रारम्भ में कुछ विलम्ब होगया। समय की बचत करने के विचार से 'हिमाचल प्रदेश' वाली फिल्म बीच में ही समाप्त कर दी गई और खेल चालू कर दिया गया। श्री काउसलैण्ड क्षुब्ध होकर उठ आए यह कहते हुये कि लोगों को केवल अपने फायदे से मतलब। उन्हें क्या मालूम कि मैंने अपना यह बहुमूल्य समय किस लिये व्यय किया था। पाठक समझ गये होंगे कि हमारी मनोवृत्ति किस दिशा में कार्य करती है तथा हितकर वातावरण से हम कितनी दूर हैं।

यह ठीक है कि आर्थिक लाभ की दृष्टि से डौकूमैण्टरी फिल्मों का बनाना ठीक नहीं ठहरता है। भारतवर्ष के निवासियों की उस ओर अभी

रुचि नहीं हैं। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि वैसी रुचि उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व किसके ऊपर है।

इङ्गलैण्ड की डौकूमैण्टरी फिल्मों का इतिहास विशेष संघर्षपूर्ण है। इंगलैण्ड के सबसे बड़े फिल्म निर्माता श्री आर्थर रैंक ने सबसे पहिले डौकूमैण्टरी फिल्में बनाने का प्रयास किया था। वर्ष के अन्त में उन पर ५ करोड़ पौण्ड का ऋण होगया। उसके बाद इंगलैण्ड की सरकार ने इस दिशा में प्रोत्साहन प्रदान किया। फलतः सन् १६३१ में सबसे पहिली डौकूमैण्टरी फिल्म बनी। वह बिना बोलती फिल्म थी। उसके बाद नाइट मेयर, लन्दन ट्रेन आदि अनेक सुन्दर डौकूमैण्टरी फिल्में बनाई गईं। उनके द्वारा इंगलैण्ड के जीवन का सुन्दर चित्रण किया गया है और इंगलैण्ड के निवासी तथा अन्य देशों के निवासियों, सभी ने खूब पसन्द किया।

अपने प्रयास को सफल देखकर इंगलैण्ड के निर्माताओं ने अन्य देशों के जीवन से सम्बन्धित अनेक फिल्में बनाईं। जैसे—Nanook of the North (इसमें उत्तरी ध्रुव शीत कटिबन्ध के निवासियों एस्किमोओं के जीवन का चित्रण है)। South Sea (इसमें दक्षिणी ध्रुव के निवासियों के जीवन का चित्रण है)। Elephant Boy (इसमें भारतवर्ष के जीवन का चित्रण है) आदि। इन फिल्मों को वहाँ के निवासी खूब पसन्द करते हैं, क्योंकि मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करे। एक अच्छी डौकूमैण्टरी फिल्म बनाने के लिए लगभग ५ वर्ष का समय चाहिये।

भारतवर्ष में समस्त साधन उपलब्ध हैं। विपुल धनराशि है, सुन्दरी अभिनेत्रियाँ है, सुन्दर एवं सुडौल अभिनेता हैं, सफल निर्देशक हैं, संगीतज्ञ हैं, गायनाचार्य हैं। सभी कुछ है, परन्तु फिर भी यहाँ ऐसी फिल्में बनती हैं जिन्हें देखकर हमारा सिर लज्जा के कारण नीचे झुक जाता है। उन फिल्मों को देखकर विदेशी महानुभाव क्या सोचते होंगे, इसकी तो चर्चा ही व्यर्थ है।

हमारे देश के सिनेमाओं में पश्चिम के अन्धानुकरण की एक नई बीमारी चल पड़ी है। पोशाक, गाने, बाजे आदि सब साधनों पर विलायती

रंग पहिले ही चढ़ चुका था। अब वहाँ के जन-जीवन को भी उसी चश्मे से देखा जाने लगा है। फिल्मों में अक्सर यह दिखा दिया जाता है कि पत्नी ने पति के चांटा मार दिया आदि। इस प्रकार के दृश्य अशिष्ट तो हैं ही, वे अभारतीय भी हैं। हमने तो आज तक किसी भारतीय ललना को अपने पति के चाँटा मारते नहीं देखा है; सुना भी नहीं है। इन दृश्यों को दिखाने से नवयुवकों एवं नवयुवतियों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

हमारा निश्चित मत है कि भारतवर्ष के शिक्षित समुदाय को इस ओर ध्यान देना चाहिए। लोगों को चाहिए कि अशिष्ट फिल्मों के बहिष्कार के लिए जनमत तैयार करें तथा सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करें। प्रारम्भ में कठिनाई होना स्वाभाविक है। परन्तु एक बार रुचि-निर्माण हो जाने पर मार्ग सरल हो जायगा। शुद्ध घी न मिलने के कारण ही वनस्पति घी का प्रयोग बढ़ गया है।

आज का युग अन्तर्राष्ट्रियता का युग है। हमें अन्य लोगों के जीवन से परिचित होना है, विश्व की विभिन्न संस्कृतियों का सुखद संयोग करना है। डौकूमैण्टरी फिल्में ही ऐसा साधन है जिनके द्वारा विश्व-बन्धुत्व के भाव अपने दृढ़ संस्कार डाल सकते हैं।

सिनेमा मनोरंजन के अतिरिक्त शिक्षण एवं प्रचार का भी साधन होने के कारण प्रत्येक देश के लिए महत्त्वपूर्ण उद्योग है। भारतवर्ष में वह अभी एक तरुण व्यवसाय है। उन्नति एवं विकास के लिए उसमें काफी गुंजाइश है। जैसा हम अन्यत्र बता चुके हैं कि भारतवर्ष की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए अभी अनेक सिनेमाघरों का निर्माण करना पड़ेगा; क्योंकि अभी तो १ लाख व्यक्तियों के पीछे केवल एक ही सिनेमाघर है। भारतवर्ष के इस उद्योग का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। आवश्यकता है र, निर्माता और जनता तीनों के पारस्परिक सहयोग की।

---

२४ : भारतवर्ष की कला-कृतियाँ

रूप-रेखा

१—कला का विवेचन ।

२—भारतीय कला की विशेषताएँ ।

३—भारतीय कलाओं का इतिहास ।

(अ) वास्तु एवं मूर्तिकला ।

(आ) चित्रकला ।

(इ) संगीतकला ।

(ई) साहित्य ।

४—उपसंहार ।

(अ) भारतीय कला- भावप्रधान ।

(आ) भारतवर्ष की कला-कृतियाँ भारतवर्ष के हृदय-प्रसार के स्मारक स्तम्भ हैं ।

दृश्यमान जगत् के साथ मनुष्य का अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है । वह चिरकाल से प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होता आया है । प्रकृति के नाना रूप मनुष्य के विविध भावों को जागरित तथा उत्तेजित करते रहते हैं । हृदय पर प्रकृति के विविध रूपों द्वारा पड़ने वाले प्रभावों को वह सदैव से विविध रूपों में प्रकट करता आया है । कभी चित्र खींचकर तो कभी मूर्ति बनाकर, कभी कुछ गाकर और कभी कुछ लेखबद्ध करके । आत्म तुष्टि के लिए की गई भावों एवं विचारों की इस विविध-रूपा अभिव्यक्ति का ही नाम कला है । इस प्रकार मनुष्य ही कला का स्रष्टा, उसका उपभोक्ता तथा संरक्षक ठहरता है । अतः हम कह सकते हैं कि मानव के सांस्कृतिक विकास में कला का स्थान बहुत ऊँचा है । कला हमारे भावों और विचारों की

द्योतिका होने के कारण संस्कृति की परिचायिका होती है। कला में एक प्रेषणीयता रहती है। उसके द्वारा वह वैयक्तिकता से सामाजिकता की ओर जाता है। इसलिए उसमें सांस्कृतिक पक्ष और भी विकसित हो जाता है।

जहाँ तक मनुष्य की दृष्टि जाती है प्रकृति में उपयोगिता और सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य द्वारा निर्मित प्रत्येक वस्तु में उपयोगिता अवश्य होती है।

हमारे यहाँ कला का लक्ष्य काव्य के लक्ष्य की भांति परमानन्द की प्राप्ति है। कला की भी आत्मा रस है। यथा—

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता,
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ।

भारत की संस्कृति सदा से धर्म प्रधान रही है। भारतवर्ष की कला की चरम परिणिति रस सिद्धि अथवा अलौकिक आनन्द की सृष्टि में समझी जाती है। उसका सब से प्रमुख उद्देश्य है आत्मा को परम तत्त्व की ओर उन्मुख करना। ईश्वरदत्त प्रतिभा के निर्माण विकास द्वारा स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित वायुमण्डल से ऊपर उठना ही भारतीय-कला का सर्व प्रथम ध्येय रहा है—"साधकानां हितार्थाय ब्राह्मण रूप कल्पनम्" भारतीय कलाकारों का प्रधान उद्देश्य सूक्ष्म धार्मिक भावनाओं को स्थूल रूप देना रहा है। उनकी कृतियाँ आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्तिकी प्रतीक हैं, न कि पेट भरने के लिए क्रय विक्रय की जाने वाली सामग्री। भारतीय कलाकार पहिले दार्शनिक और द्रष्टा है, बाद में कलाकार।

चूँकि भारतीय-कला में धार्मिक अभिव्यंजना प्रधान थी, उसका उद्देश्य भगवान् की महिमा के प्रतीकों का निर्माण एवं सृजन करना था, इसलिए विज्ञापन की भावना वहाँ गौण पड़ गई थी। यही कारण है कि अजन्ता और ऐलौरा जैसे भव्य प्रासादों, मूर्तियों एवं चित्रों के निर्माताओं के नाम हमें ज्ञात नहीं हैं। किसी भी कलाकार ने कहीं भी किसी भी रूप में अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है। अतएव अनामता भारतीय-कला की दूसरी विशेषता है।

भगवान् के विविध रूप हैं। अतः उनके प्रतीक भी विभिन्न हैं। भारतीय कला ने हमेशा से इन प्रतीकों का सृजन किया है। अतः प्रतीकात्मकता (Symbolism) से ओत-प्रोत होना भारतीय-कला की तीसरी विशेषता ठहरती है।

भारतीय-कला की चौथी विशेषता है भाव-व्यंजना की प्रधानता। यहाँ की कला-कृतियों में बाह्य सौन्दर्य दिखाने, सादृश्य साधन की अपेक्षा आन्तरिक भावों के अङ्कन, अन्तस्तल के आलिखन की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। भारतीय कलाकार ने आन्तरिक आनन्द की अभिव्यक्ति करने में अपनी शक्ति लगाई है। उसके विचार से आनन्द को प्रकट करने वाला मुख तो स्वतः सुन्दर एवं आकर्षक होगा ही। हमारे यहाँ आकृति गुणों की परिचायिका मानी गई है। यही कारण है कि भारतीय कला कृतियाँ प्राणवान एवं सजीव हैं। भगवान् बुद्ध की कतिपय मूर्तियों को देख कर तो ऐसा लगता है कि शान्ति की भावना साक्षात हो उठी है।

वेदों को ही समस्त कलाओं का मूल माना जाता है, परन्तु वैदिक युग की किसी मूर्ति, वास्तु आदि कलाओं के चिन्ह नहीं मिलते हैं। वे कृतियाँ प्रायः नष्ट हो चुकी हैं। उस समय प्रायः लकड़ी का काम होता था। और दीमक से इतने दिनों तक बचा रहना असम्भव ही था।

भारत की कला का प्रारम्भिक इतिहास ईसा से पूर्व ३ सदी ४ थी शती से प्रारम्भ होता है। यह वह समय है जब चीन के पीत नद से लेकर लघु एशिया तक और इधर भारत तक एक ऐसी सभ्यता फैली हुई थी जिसे पुरातत्ववेत्ता रंगे मिट्टी के बर्तनों की सभ्यता कहते हैं। भारतवर्ष में इस कला के प्रतिनिधि नाल (बलूचिस्तान) तथा सिन्ध काठ के मोहन-जोदड़ो, हड़पा, और चान्हूदड़ो में पाये गए मिट्टी के बर्तन हैं। ये बर्तन गृहस्थी के कामों में आते थे। इन बर्तनों पर चित्रकारी है।

वास्तु एवं मूर्तिकला

इनके प्रारम्भिक इतिहास को दो भागों में बाँटा जा सकता है। (१) ईसा से ३००० वर्ष पूर्व मोहनजोदड़ो में और (२) इसके २४०० वर्ष

बाद ईसा से पूर्व तीसरी शती में अशोक के शासन-काल में। दोनों कालों की कला कृतियां अत्यन्त प्रौढ़ हैं। मोहनजोदड़ो का ऊँचे कुकुद वाला बैल तथा अन्य पशु और हड़प्पा की मूर्तियाँ देखकर कला-मर्मज्ञ आश्चर्य चकित रह जाते हैं। अशोक-स्तम्भ के शीर्ष पर बने हुए सिंह उस समय की कला की बेजोड़ सृष्टि है। अशोक कालीन कला का रूप अत्यन्त परिपक्व और पूर्ण रूपेण विकसित है। हमें भारतीय वास्तु एव मूर्ति कलाओं का क्रमबद्ध इतिहास इसी समय मौर्य युग से ही उपलब्ध होता है।

मौर्य युग—यह तो प्रसिद्ध ही है कि कलिंग विजय की प्रतिक्रिया-स्वरूप बौद्ध-धर्म अङ्गीकार करने के बाद सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए बहुत-से स्मारक बनवाये थे। इनकी संख्या ८४ हजार कही जाती है।

उपलब्ध स्मारकों को चार भागों में बांटा जा सकता है। (१) स्तूप (२) स्तम्भ (३) गुहायें (४) राजप्रासाद।

स्तूप—महात्मा बुद्ध की पवित्र धातु (भस्म) पर तथा उनके संपर्क से पवित्र स्थानों पर इन स्तूपों का निर्माण किया गया था। स्तूप उलटे कटोरे के आकार का पत्थर या ईंटों का ठोस गुम्मद होता था। आजकल इसका सर्वोत्तम स्मारक सांची का स्तूप है।

स्तम्भ—ये अशोकीय वास्तु-कला के सर्वोत्तम अङ्ग हैं। ये स्तम्भ चुनार के लाल पत्थर के बने हुए हैं। इनके दो भाग हैं। लाट या प्रधान दण्डाकार भाग और ऊपर का स्तम्भ शीर्ष अथवा पटगहा। समूचा स्तम्भ (लाट तथा पटगहा मिलाकर) एक प्रस्तरीय अर्थात् एक ही पत्थर से तराशा हुआ है। इन पर बहुत ही बढ़िया ओप (पौलिश) है। पौलिश की चमक के कारण कुछ लोग स्तम्भ को धातु का समझ बैठते हैं। यह पौलिश भारत की प्रस्तर कला की ऐसी विशेषता है जो संसार में अन्यत्र कहीं नहीं मिलती, तथा इसकी प्रक्रिया अभी तक अज्ञात है।

ये स्तम्भ दिल्ली, सारनाथ, मुजफ्फरपुर, चम्पारन के तीन गांवों, रुम्मिनदेई (बुद्ध की जन्म भूमि लुम्बिनी वन) तथा साँची में पाये जाते

हैं। इनकी संख्या कुल १३ है। इन लाटों की ऊँचाई ४० फुट तक और भार १३५० मन तक है। चम्पारन के लौरिया नन्दगढ़ की लाट सबसे सुन्दर है। उसके नीचे का व्यास साढ़े ३५ इंच और ऊपर का व्यास साढ़े २२ इंच है।

इन लाटों के शीर्ष पर शेर, हाथी बैल या घोड़े की मूर्त्तियाँ हैं। इनमें सारनाथ का शीर्ष सर्व श्रेष्ठ है। इसके शीर्ष पर चार सिंहों की मूर्त्तियाँ हैं, और उनके नीचे चारों दिशाओं में चार पहिये हैं, जो धर्म, चक्र, प्रवर्त्तन के द्योतक हैं। स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रिय सरकार ने इसी शीर्ष को (इन्हीं सिंहों की मूर्त्तियों को) अपना राज-चिन्ह बनाया है। महात्मा बुद्ध के धर्म, चक्र, प्रवर्त्तन के स्थान पर इस स्तम्भ को खड़ा किया गया था। स्मिथ, जान मार्शल आदि कलाविदों ने इन मूर्त्तियों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है और इन्हें विश्व की निर्माण पद्धति का अद्वितीय उदाहरण बताया है।

गुहायें— ये बौद्ध भिक्षुओं के निवास स्थान थे। इन्हें अशोक तथा उसके पौत्र दशरथ ने खुदवाया था। ये गुहायें गया से १६ मील उत्तर में बराबर नामक स्थान पर मिलती हैं। ये तेलिया पत्थर (Gneiss) से काटी गई हैं। यह पत्थर बहुत ही कड़ा है। इन पर इतनी सुन्दर घुटाई की गई थी कि इतना पुराना वज्र लेप आज भी शीशे की भांति चमकता रहता है।

प्रासाद—अशोक ने पाटिलपुत्र (पटना) में अनेक राजप्रासाद बनवाये थे। वे सात आठ शतियों तक बने रहे थे। ये महल सम्भवतः लकड़ी के थे। खुदाई करने पर यथा स्थान इनके भग्नावशेष ही मिलते हैं।

सातवाहन युग—मौर्यों के पतन-काल से लेकर गुप्तों के उदय-काल तक का यह ५०० वर्षों का समय भारतीय कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। इस समय में भारहुत, बुद्ध गया, सांची, गान्धार, मथुरा तथा अमरावती और नागार्जुनी कोंडा में विभिन्न प्रकार की कला-शैलियों का विकास हुआ। यह समय दो भागों में विभाजित है—सात-वाहन काल (पू० ३०० ई०) तथा शुंग काल १८८ ई० पू० ९० ई० :

सांची, भारहुत, और बुद्ध गया की शैलियाँ तो मुख्यतया शुंगकाल से सम्बद्ध हैं और गन्धार, मथुरा तथा अमरावती और नागार्जुनी कोंडा की शैलियाँ प्रधानतया कुशाण सात वाहन काल से सम्बन्ध रखती हैं। गन्धार शैली की आत्मा और हृदय भारतीय था किन्तु शरीर यूनानी। यह शैली मध्य एशिया होती हुई चीन और जापान पहुँची थी।

सात वाहन युग की वास्तु कला का प्रधान अंग पहाड़ों की चट्टानों में काटी गई गुहायें हैं। इनके दो भेद हैं। (१) चैत्य, उपासना करने के लिए बनाए गए मन्दिर और (२) विहार, भिक्षुओं के निवास स्थान। चैत्य गुहायें काले कान्हेरी भाजा, नासिक आदि स्थानों पर महाराष्ट्र में पाई गई हैं। वहां इन्हें 'लेण' कहते हैं। कार्ली लेण इनमे सबसे सुन्दर है। उड़ीसा में इस प्रकार की गुफायें गुम्फाएँ कहलाती हैं। ये सब जैन-मन्दिर हैं।

सात वाहन युग में कुछ स्तम्भ भी बने थे। बुद्ध की तथा अन्य मानवीय मूर्तियाँ और गुहायें गुहा (मन्दिर) इस युग की प्रमुख देन हैं।

गुप्त युग —इस युग में भारतीय-कला अपनी चरम सीमा पर थी। इसमें आकर्षक ऐन्द्रियता और प्रतीकात्मक भावना का सुन्दर सन्तुलन तथा सुखद सामंजस्य देखने को मिलता है। गाम्भीर्य, लालित्य, माधुर्य, ओज, सजीवता आध्यात्मिकता, प्रत्येक दृष्टि से यह कला अद्वितीय है। अजन्ता और ऐलोरा जैसी कला कृतियों का इसी युग में निर्माण हुआ था। जिन स्थानों पर इस युग की मूर्तियाँ मिली हैं उनमें सारनाथ, मथुरा और देवगढ़ (झांसी जिला) प्रमुख हैं। बौद्ध तथा पौराणिक देवताओं—शिव विष्णु, आदि की आदर्श मूर्तियाँ गुप्त-कला की सबसे बड़ी देन हैं।

मध्य युग—इस युग को दो भागों में विभाजित किया जाता है—(१) पूर्व मध्य काल सन् ६०० से १००० तक तथा (२) उत्तर मध्य काल १० वीं १३ वीं शती से १६ वीं शती तक। तन्त्रवाद के प्रभाव के कारण इस युग की कला कृतियों में अश्लीलता का समावेश हो गया था।

पूर्व मध्य काल—इस युग की मूर्त्ति-कला की सब से बड़ी विशेषता है बड़े-बड़े दृश्यों का सफल अंकन। दुर्गा महिषासुर के युद्ध, शिव का त्रिपुरदाह, रावण द्वारा कैलाश का उठाया जाना आदि बड़े-बड़े दृश्य अत्यन्त सफलता के साथ चट्टानों में (जो कहीं कहीं १०० फुट तक ऊँची हैं) छांटे गए हैं। ये दृश्यात्मक मूर्त्तियाँ अत्यन्त सजीव हैं। इस युग के तीन मूर्त्ति केन्द्र हैं—मामल्लपुरम्, कांची, (दक्षिण) एलोरा, औरंगाबाद, (दक्षिण) तथा ऐलीफेन्टा (बम्बई से ६ मील धारापुरी नामक टापू) ऐलोरा में बत्तीस बौद्ध, हिन्दू तथा जैन अच्छे मन्दिर हैं। ये मन्दिर एक पूरी पहाड़ी को काटकर बनाए गए हैं और मानव के अध्यवसाय एवं उसके कलात्मक सृजन के अप्रतिम उदाहरण हैं।

उत्तर मध्य काल—इस युग में कला के पांच केन्द्र प्रमुख हैं। खुजराहो (बुन्देलखण्ड) राजपूताना, उड़ीसा, चोल राज्य तथा होय सल्य राज्य।

इस युग की प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं—कुतुब की लाट, महाराणा कुंभा के भव्य भवन, सुन्दर मन्दिर तथा कीर्त्ति स्तम्भ (मेवाड़) काश्मीर, मालवा, गुजरात और बंगाल के शासकों द्वारा बनवाये गये मक़बरे, सराय और महल। मान तोमर का ग्वालियर का किला और प्रासाद, वृन्दावन का गोविन्द देव का मन्दिर, दिल्ली और आगरा के किले, दतिया के महल तथा शाहआलम द्वारा निर्मित अहमदाबाद की इमारतें। शाहजहाँ ने आगरा का ताजमहल इसी समय बनवाया था।

लखनऊ के नवाबों की बनवाई हुई इमारतों में इमामबाड़ा इस काल की वास्तु-कला का अन्तिम प्रतीक है। यहीं से यूरोपीय प्रभाव का आरम्भ समझना चाहिए।

आधुनिककाल की इमारतों के चार भाग किये जासकते हैं—(१) पब्लिक वर्क्स डिपार्टमैंट की इमारतें (२) धनिकों की इमारतें (३) विलायत के बड़े-बड़े वास्तुकारों के परिकल्पित भवन, जैसे नई दिल्ली के सरकारी भवन तथा कलकत्ता का विक्टोरिया मैमोरियल और (४) वे भवन जिनमें प्राचीन

शैली के पुनरुत्थान का प्रयास किया गया है—जैसे मथुरा का फाटक, काशी विश्वविद्यालय, बुलन्दशहर का टाउनहाल पटना का अजायबघर आदि।

चित्र-कला

रायकृष्णदास ने अपनी पुस्तक, 'भारत की चित्रकला' में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—एक तल (सतह) पर, चाहे वह सम हो या असम, पानी या तेल में घोले हुए अथवा सूखे, एक वा एकाधिक रंग से अलिखन करके आकृति एवं लम्बाई, चौड़ाई तथा मुटाई दरसाने को चित्रण कहते हैं। उक्त आधार भूत सतह मुख्यतः पत्थर, काठ, हाथीदांत, चमड़ा, तालपत्र या कागज होती हैं।

चित्रों के प्रायः तीन भेद होते हैं—

(१) भित्ति चित्र, जो दीवारों पर बनाए जाते हैं। इसके प्राचीनतम उपलब्ध नमूने सरगुजा रियासत की जोगीमारा गुफा में है। इसका समय ई० पूर्व दूसरी शती के आस पास माना जाता है।

(२) चित्रपट— जो कपड़े पर सम्भवतः चमड़े पर भी, बनाए जाते हैं तथा कभी-कभी दीवार पर टांगे भी जाते हैं।

(३) चित्रफलक—जो लकड़ी, कीमती पत्थरों और हाथी दांतों पर बनाए जाते हैं।

इनके अतिरिक्त धूलि चित्र भी बनते थे। आजकल की सांझी उसी का रूपान्तर है।

चित्रण की प्रवृत्ति मनुष्य में उस समय से है जब वह वनौकस था। भारत की चित्रकला के प्राचीनतम प्रतिनिधि मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और चान्हूदड़ो में पाए गए मिट्टी के बर्तन हैं। इन चित्रों के विषय मानव जीवन के प्रतीक हैं।

ऋगवेद (१,१४५) में चमड़े पर बने अग्नि चित्र की चर्चा है। पाणिनि (ई० पूर्व ८ वीं शती) के समय के उल्लेखों से विदित होता है

कि उस समय चित्रों का पर्याप्त प्रचार था। बौद्ध-ग्रन्थ 'विनय पिटक' तथा थेर-थेरी गाथा (ई० पूर्व ३ सदी ४ थी शती) में भी चित्रों का उल्लेख है। ई० पूर्व २ सदी शती से चित्रों के उल्लेखों और नमूनों की संख्या बढ़ने लगती है।

गुप्त काल—(३२० ई० से ६०० ई० के कुछ बादतक) अजन्ता का सर्वोत्कृष्टचित्रण इसी युग में हुआ था। अजन्ता में तीन प्रकार के चित्र हैं—अलंकरणात्मक, ध्वनि चित्र और घटनात्मक। अजन्ता में छोटी-बड़ी उन्नीस गुफायें हैं। इन चित्रों में धार्मिकता के साथ जीवन और समाज के आवश्यक अंगों का सुन्दर समन्वय है। ये चित्र भित्त-चित्रों के अन्तर्गत आते हैं अजन्ता जैसे चित्र बाघ (मध्य भारत) सित्तनवासल (कोटा राजस्थान) तथा सिगरिया (लंका) में भी मिलते हैं।

इस काल के बाद भारतीय चित्र-कला का इतिहास करीब-करीब शृंखला बद्ध है।

पूर्व मध्य काल—बाघ और सितनवासल के भित्त-चित्र इसी काल के अन्तर्गत आते हैं। ऐलोरा की गुफाओं के भित्त-चित्रों का निर्माण भी इसी काल (८ वीं शती) में हुआ था। बम्बई प्रान्त में अइहोल नामक स्थान के पास बादामी में चालुक्यों द्वारा बनवाये गए गुफा मन्दिर के भित्त-चित्र भी इसी काल की देन हैं।

उत्तर मध्य काल—में चित्र-कला का कुछ ह्रास हो गया था। विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर कहा जा सकता है कि उन दिनों चित्रण की अनेक शैलियाँ प्रचलित थीं। यथा—पाल-शैली, राजस्थान-शैली, मुगल-शैली, पहाड़ी-शैली, और बंगला-शैली।

१५ वीं शती में अन्य कलाओं के साथ चित्र-कला का भी पुनरुत्थान हुआ। गढ़माडू (मालवा) के भवनों के चित्र इसी समय बने थे। मुगल-शासक स्वयं भी बड़े कला-प्रेमी थे। उनके शासन-काल में चित्र-कला की ईरानी शैली के संयोग के साथ चित्र-कला को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। इस

युग के प्रमुख चित्रकारों के नाम इस प्रकार हैं—मीर सैयदअली, ख्वाजा अब्दुस्समद, जसवंत, बसाका, केशो, लाल, मुकुन्द, मिस्कीन, फर्रुखकुलमाक, माधो, जगन, महेश, खेमकरन, तारा, साँवला और राम।

इन दिनों पटना और ठाकुर नाम की दो नवीन शैलियों का निर्माण हुआ।

सन् १८५७ के गदर के बाद भारतवर्ष में एक युगान्तर हुआ और इसके अन्तर्गत भारत की चित्र कला प्रायः निःशेष हो गई। यूरोप में बने चित्रों से इस देश के रईसों, अमीरों तथा राजाओं के घर सजाये जाने लगे। रवि वर्मा, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, नारायण प्रसाद, रामेश्वर प्रसाद और रामप्रसाद (काशी) आधुनिक युग के मुख्य चित्रकार हैं। इन कलाकारों ने भावव्यंजना तथा प्राचीन दृश्यों के अंकन का अच्छा प्रयास किया है।

संगीत कला

संगीत शास्त्र पर सर्व प्रथम रचा हुआ ग्रन्थ सामवेद है। विक्रमी ११ वीं शती के आस-पास संगीत-कला पूर्णतया उन्नत हो चुकी थी। नान्यदेव, भोज, परमर्दि, चंदेल, और जगदेकमल उस समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। भरतमुनि संगीत शास्त्र के आचार्य माने जाते हैं।

संवत् १२५० के लगभग संगीताचार्य शार्ङ्गदेव का लिखा हुआ 'संगीत रत्नाकर' नामक एक अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ मिलता है। मेवाड़ के राणा कुम्भा तथा अलाउद्दीन खिलजी ने भी संगीत-कला को अच्छा प्रोत्साहन दिया था।

पूर्व मध्य काल—१६ वीं शती के आरम्भ में संगीत के प्रसिद्ध आचार्य और ध्रुवपद के पारंगत गायक बैजू बावरा का आविर्भाव हुआ था। अकबर के समय में संगीताचार्य स्वामी हरिदास हुए। हिन्दुस्तानी संगीत के मूल पुरुष तानसेन इन्हीं के शिष्य थे। सूरदास, तुलसीदास तथा अन्य भक्त कवियों की सरस और मधुर रचनाओं में संगीत का सुन्दर समावेश पाया जाता है।

उत्तर मध्य काल—औरंगजेब के समय में संगीत-कला छिन्न-भिन्न हो गई। राजाओं और नवाबों के यहाँ उसे प्रश्रय मिला। इन दिनों "टप्पा" नामक गायन शैली का जन्म हुआ और "ख्याल" का खूब प्रचार हुआ। ग्वालियर अभी भी ख्याल का सबसे बड़ा केन्द्र है।

वर्त्तमान काल—में सिनेमा के गीतों के आगे अन्य सभी प्रकार की संगीत-शैलियाँ पीछे एवं फीकी पड़ गई हैं। इन गीतों में संगीत की जो दुर्दशा हो रही है, वह किसी से छिपी नहीं। प्राचीन संगीत के उद्धार एवं परिष्कार के लिए प्रयत्न करने वालों में श्री विष्णु दिगम्बर और विष्णु-नारायण भातखण्डे के नाम उल्लेखनीय हैं।

संगीत की उन्नति के लिए बड़ौदा, ग्वालियर, बम्बई, लखनऊ, बनारस तथा अन्य अनेक स्थानों पर छोटे-बड़े अनेक संगीत केन्द्र कार्य कर रहे हैं। परन्तु सिनेमा के सस्ते एवं कामुक गीत उनकी उन्नति में बहुत बड़े बाधक हैं।

साहित्य

वैदिक काल से लेकर आज तक के साहित्य का हमें शृंखला-बद्ध इतिहास मिलता है। कला के इस अंग पर काफी लिखा जाता रहता है।

कला भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम है इसके मूल में मुख्यतया ये प्रवृतियाँ पाई जाती हैं—(१) जीवन की घटनाओं की स्मृति का संरक्षण (२) परिस्थितियों पर अपनी विजय के इतिहास की सुरक्षा। (३) ऐतिहासिक दृश्यों का संरक्षण। (४) अपनी भावना को मूर्त्ति रूप प्रदान करने की इच्छा (५) प्रेम की अभिव्यक्ति (६) अलंकार तथा (७) रस की उत्पत्ति। कहना न होगा कि ये सभी प्रवृत्तियां मानव के विकास की द्योतिका हैं।

समान्यतः कला के छः अंग होते हैं। (१) रूपभेद। (२) प्रमाण (३) लावण्य योजना (४) सादृश्य (५) वर्णिका भंग तथा (६) भाव।

कहना न होगा कि भारतीय-कला में 'भाव' वाला तत्व प्रधान रहा है। आकृति प्रतिकृति और अभिव्यक्ति पर बल देने के विचार से कला

तीन कालों में विभक्त की जाती है। यथा—(१) आकृति प्रधान (Fornal) जिसका मुख्य उद्देश्य सौन्दर्यमयी आकृतियाँ बनाना होता है। चीन देश की कलायें प्रायः इसी कोटि में आती हैं। (२) प्रतिकृति प्रधान (Representative) जिसमें रमणीक प्राकृतिक घटनाओं और मानवीय रूपों की यथार्थ प्रतिकृति बनाकर उन्हें सदैव के लिए स्मरणीय बनाया जाता है। यूनान तथा पाश्चात्य देशों की आधुनिक कला-कृतियाँ इसी कोटि में आती हैं। तथा (६) अभिव्यक्ति प्रधान—जिसमें किसी अमूर्त भाव को कलात्मक कृति द्वारा व्यक्त किया जाता है। भारतीय कलाओं में स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म मन के अंकन का अधिक ध्यान रखा जाता है। अतएव वे भाव प्रधान तथा अभिव्यंजना प्रधान ठहरती हैं। इसका सारांश यह हुआ कि भारतवर्ष की कला कृतियाँ भारतवर्ष के हृदय प्रसार के स्मारक स्तम्भ हैं उनके भीतर भारतवर्ष के सांस्कृतिक उत्थान एवं उत्कर्ष का इतिहास समाया हुआ है, वे हमारे भाव क्षेत्र के उतार-चढ़ाव की राम कहानी कहने में सर्वथा समर्थ हैं।

हिन्दी में श्रीकृष्ण का सौंदर्य—वर्णन

रूपरेखा—

१—सौन्दर्य का विवेचन।

२—सौन्दर्य-वर्णन की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता।

३—श्रीकृष्ण के सौन्दर्य की परम्परा।

४—श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन के दो भाग।

(अ) भक्ति-काल में (आ) भक्ति-काल के बाद।

५—वर्णनों के दो रूप—

(अ) व्यापक रूप (आ) नखशिख निरूपण वाला रूप।

६—उपसंहार—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मय तप उच्यते

: श्रीमद्भगवद्गीता १७।१५ :

सत्य, प्रिय, हितकर तथा वेद शास्त्रों के अनुकूल वाक्य बोलना वाणी का तप है। इस कारण यह साहित्य का भी आदर्श है। किराता-र्जुनीय में "हित" और सुन्दरम् का योग अति दुर्लभ बताया गया है। "हितंमनोहारि च दुर्लभं वचः। काव्य अथवा साहित्य का ध्येय इसी दुर्लभ को सुलभ बनाना है।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने लिखा है कि "सत्य की पूजा सौन्दर्य में है, विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है। साहित्य और कला की अधिष्ठात्री हैं देवी सरस्वती। उनका ध्यान हंस वाहिनी और वीणापुस्तक धारिणी के रूप में होता है। नीर क्षीर विवेक में समर्थ होने के कारण हंस सत्य का प्रतीक है और वीणा "सुन्दरम" का प्रतिनिधित्व करती है। सामंजस्य स्थापित करने के लिए पुस्तक सत्य और हित दोनों की साधिका कही जा सकती है।

कर्त्तव्य पथ पर आकर सत्य शिवं बन जाता है और भावना से सम्बन्धित होकर सुन्दरम् के रूप में दर्शन देता है। इस प्रकार सुन्दरम् सत्य का परिमार्जित रूप ठहरता है। बाबू गुलाबराय के शब्दों में 'सौन्दर्य सत्य को ग्राह्य बनाता है'। यथा—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप
लोक-सेवा में शिव अविकार

सुमित्रानन्दन पन्त, (आधुनिक कवि)

अंग्रेजी कवि कीट्स ने भी इसी प्रकार कविता में सत्य और सौन्दर्य का तादात्म्य स्थापित किया है।

Beauty is truth, truth beauty; that is all
Ye know on earth, and all ye need to know
(An ode)

स्पष्ट है कि कवि सत्य को सुन्दरम् के शासन में रखना क्यों अपना कर्त्तव्य समझता है।

सौन्दर्य का सम्बन्ध रूप विधान से है। सौन्दर्य अनन्त आनन्दप्रद है। (Beauty is a thing of joy for ever) स्वरूप दर्शन से जब सौन्दर्य की भावानुभूति होती है, तब प्रेम जाग्रत होता है। सौन्दर्य ईंधन है, प्रेम अग्नि। प्रेम सौन्दर्य का विषयी प्रधान प्रतिरूप है।

देखत ही जो मन हरै, सुख अंखियनु कों देइ।
रूप बखानै ताहि जो जग चेरौ करि लेइ ॥
—देव (रस-विलास)

"मीठौ काह? जो जाहि भावै" के अनुसार "नीकौ कहा, जो जाहि भावै"। इसी कारण कुछ लोगों ने सौन्दर्य को विषयीगत ही माना है।

समै समै सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होइ।
—बिहारी

विषयीगत होने के अतिरिक्त सौन्दर्य उभयगत भी है। "रूप रिझावन हारु वह, ऐ नैना रिझवार" (बिहारी) विश्व-कवि रविबाबू ने रमणी-सौन्दर्य में आंशिक सत्य और आंशिक स्वप्न का मेल देखा है। कविजन सौन्दर्य-वर्णन के साथ-साथ उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव का विवेचन भी करते हैं।

सौन्दर्य या रमणीयता की परिभाषा इस प्रकार की गई है। "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः (भवभूति) अर्थात् क्षण क्षण में जो नवीनता धारण करे वही रमणीयता का रूप है। बिहारी की नायिका भी क्षण क्षण नवीन रूप धारण करने वाली थी। इसी कारण चतुरतम चित्रकार भी उसके रूप को नहीं पकड़ पाए थे।

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर,
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।

साहित्य शास्त्र में काव्य के माधुर्य गुण को चित्त को द्रवीभूत करने वाला आह्लाद बताया गया है। चित्त द्रवीभावमयी ह्लादो माधुर्यमुच्यते। (साहित्यदर्पण)

महाकवि कालिदास के अनुसार सौन्दर्य में सात्विकता उत्पन्न करने की शक्ति है।

'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्य व्यभिचारि तद्वचः'
(कुमारसम्भव)

माधुर्य जहाँ स्थायी रूप में रहेगा, वहाँ रमणीयता आ ही जायगी। रमणीयता में माधुर्य का भाव मिल जाने से सौन्दर्य विषयगत और विषयीगत दोनों ही बन जाता है।

सौन्दर्य की विभिन्न परिभाषायें तथा व्याख्यायें हैं। कुछ लोग पूर्णता में सौन्दर्य मानते हैं, कुछ सामंजस्य, संतुलन और एकरसता को प्रधानता प्रदान करते हैं, कुछ आचार्यों ने सौन्दर्य की व्याख्या में उपयोगिता pragmatism को महत्त्व दिया है। तथा कतिपय विद्वानों ने अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल वस्तु को सुन्दर कहा है। रामचन्द्र शुक्ल ने सौन्दर्य की प्रभाव सम्बन्धी अच्छी व्याख्या की है। "कुछ रूप रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता का यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है.........जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।
(चिन्तामणि भाग १)

भारतीय साहित्य सौन्दर्य के साथ सात्विकता को लेकर चला है क्योंकि सौन्दर्य बाह्यरूप में ही सीमित नहीं है अपितु उसका आन्तरिक पक्ष भी है। उसकी पूर्णता तभी आती है जब आकृति गुणों की परिचायिका

हो। इसी आधार पर सामुद्रिक की यह लोकोक्ति चलपड़ी "यत्राकृति तत्र गुणा वसन्ति"। सौन्दर्य का यह आन्तरिक पक्ष ही शिवं है। प्रतिभा के आलोक से मण्डित करके ही कलाकार सौंदर्य को लोक के लिए सुलभ और ग्राह्य बनाने में समर्थ होता है। सौंदर्य वास्तव में अनिर्वचनीय है। कविवर बिहारी के शब्दों में "वह चितवन औरे कछू जिहि बस होत सुजान"।

पौराणिक-काल में तीन देवताओं की उपासना होने लगी थी। विष्णु, नारायण और वासुदेव। इन त्रिदेव विषयक भक्ति भावना के सम्मिश्रण एवं सुखद संयोग द्वारा आगे चलकर वैष्णव धर्म का आविर्भाव हुआ।

विष्णु के अवतारों में राम और कृष्ण की सर्वाधिक प्रसिद्धि हुई। राम सब में रमने वाले हुए और कृष्ण अपने नाम वासुदेव के कारण विष्णु के पर्याय ही बन गये। वासुदेव और विष्णु का तादात्म्य अत्यन्त प्राचीन है।

वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः।
वासुदेवस्ततो वेद्यो वृहत्वाद् विष्णुरुच्यते ॥

अर्थात् समस्त भूतों में बसने के कारण अपनी दीप्ति के कारण देवताओं की उत्पत्ति के स्थान होने से वह वासुदेव कहलाते हैं और विराट् रूप होने कारण विष्णु कहलाते हैं।

विष्णु और गोपालकृष्ण की महत्ता वैदिक काल में ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। प्रारम्भ से ही विष्णु का सूर्य के साथ तादात्म्य रहा है। और वह अत्यन्त व्यापक रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। "विष्णुर्त्रिचक्रमे त्रेधा च निदधे पदं समूढस्य पांसुरे" (ऋग्वेद १,२,१९,) तथा "आदित्यानामहं विष्णु" (गीता १०, २१,)।

ऋग्वेद में कई ऐसे स्थल आते हैं जिनके द्वारा विष्णु का गौओं के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। छान्दोग्य उपनिषद् : ३, ११, ६ : में देवकी पुत्र कृष्ण घोर आंगिरस के शिष्य के रूप में प्रतिष्ठित है। महाभारत में

तो हमें उनके जीवन का सांगोपांग चित्रण ही मिल जाता है। महाभारत के पश्चात् हरिवंश, विष्णु पुराण, ब्रह्म पुराण, भागवत पुराण आदि ग्रंथ तो उनकी चर्चाओं से भरे पड़े हैं। श्रीकृष्ण की लीलाओं का सबसे अधिक वर्णन भागवत् पुराण में हुआ है।

सौन्दर्य भगवान के वैभव का एक अनिवार्य अंग होने से भक्त-जनों ने भगवान् में अनन्त सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की, ताकि उनके स्वरूप में उनका चित्त रमा रहे और दर्शन की प्यास कभी भी शान्त न हो सके, भगवान् की रूप-माधुरी अपनी सुधा-वृष्टि द्वारा उन्हें सदैव प्रफुल्लित रख सके। हिन्दी के कवियों ने सौन्दर्य-वर्णन करते समय इसी दृष्टिकोण को अपने सम्मुख रखा है।

भगवान् के अनन्तशील, अनन्तशक्ति आदि के साथ भक्त कवियों ने भगवान् के सौन्दर्य का भी वर्णन किया है। राम और कृष्ण सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इसलिए भक्त-जनों ने इन दोनों का जी खोल कर वर्णन किया। उनकी सुन्दरता के सम्मुख तीनों लोकों के सुन्दरतम पदार्थ भी हीन लगने लगे, देवताओं की सुन्दरता का प्रतीक कामदेव लज्जित हो उठा।

नील सरोरुह नील मणि नील नीरधर श्याम।
लाजहिं तन शोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

(रामचरितमानस)

श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित हुए और श्रीकृष्ण भगवान् के लीलाधारी विग्रह के रूप में, उनकी शक्ति और भक्ति में लोक का ध्यान लगा रहा, इनकी बाल सुलभ क्रीड़ाओं में उसे अधिक मधुरिमा परिलक्षित हुई। फलतः यशोदा के छैया, दाऊजी के भैया, वंशी के बजैया, थैया थैया के नचैया तथा काली नाग के नथैया के रूप में श्रीकृष्ण के मधुर स्वरूप का निरूपण हुआ और उसमें भक्त-जनों को ऐसा आनन्द आया कि श्रीराम का सौन्दर्य वर्णन एक तरह से पीछे पड़ गया।

श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन सर्व प्रथम हमें कविकुल गुरु कालिदास के ग्रंथों (समय चतुर्थ शती) में मिलता है। महाकवि ने

इन्द्र धनुष से सुशोभित मेघ की उपमा मोर-मुकटमण्डित गोपवेशधर विष्णु अर्थात् श्रीकृष्ण से दी है। यथा

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते।
बर्हेणेव स्फुरितरुचना गोपवेषस्य विष्णो ॥
(मेघदूत पूर्वार्द्ध १५)

अर्थात्, इन्द्र चाप रुचदान जासु मिलि सो तन कारो।
पावत है छवि अधिक, लगत नैनन कों प्यारो ॥
मोर चन्द्रिका सुरंग संग जैसे मन मोहत।
गोपवेष गोविन्द सुभग स्यामल तन सोहत ॥
(राजा लक्ष्मणसिंह कृत अनुवाद)

नीचे एक छन्द "रघुवंश" से उद्धृत किया जाता है। इसमें कवि चूरामणि ने कृष्ण की सुन्दरता को उपमान बनाया है तथा वृन्दावन और गोकुल के प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रशंसा की है। इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर उसकी सखी सुनन्दा मथुरा के राजा सुषेण की ओर संकेत करके कहती है—

त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थलव्यापि रुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्।
सम्भाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तर पुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवन श्रीः।
अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु।
(रघुवंश सर्ग ६,४८,५०)

इसके बाद ११ वीं शती में महाकवि जयदेव ने अपनी मधुर कोमल कान्त पदावली में श्रीकृष्ण के हास-विलास और रूप-लावण्य की एक अबाध धारा ही बहा दी थी। जयदेव की स्निग्ध सुधा-धारा से प्रभावित होकर मैथिल कोकिल विद्यापति (१४ वीं शती) ने अपनी सुमधुर रचनाओं द्वारा कृष्ण रूप माधुरी उड़ेल कर उत्तरी भारतवर्ष को सरस

सुहाया बनाया। उनकी कोकिल कंठी मधुर वाणी ने एक नवीन स्फूर्ति प्रदान की और श्रीकृष्ण-सौन्दर्य की परम्परा को व्रज-भाषा के भक्त कवियों ने नतमस्तक हो सादर एवं सहर्ष स्वीकार किया। हिन्दी के साहित्य सागर में श्रीकृष्ण-सौन्दर्य-वर्णन सम्बन्धित विपुल अनमोल रत्न भरे पड़े हैं।

श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन प्रायः दो भागों में विभाजित किया जाता है।

भक्तिकाल—(१२ वीं शती के अन्त से लेकर १७ वीं शती के मध्य तक) में तथा रीतिकाल—(१६ वीं शती के मध्य से लेकर १६ वीं शती के मध्य तक) में। भक्तिकाल में किये गये वर्णनों के मूल में शुद्ध भक्ति भावना है तथा रीतिकालीन वर्णनों में थोड़ी सी विलासिता आगई है। रीतिकाल में श्रीकृष्ण एक नायक के रूप में ग्रहण किये गये। इसी कारण उनकी लीलाओं के साथ हल्की सी मादकता का संयोग होगया और कतिपय वर्णन कामशास्त्र द्वारा प्रभावित प्रतीत होने लगे। इन वर्णनों में भक्तिभावना का सर्वथा अभाव हो अथवा वे वर्णन भक्तिभावना शून्य थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

ये वर्णन प्रायः दो प्रकार से किये गये हैं। १. व्यापक रूप में तथा २. नख शिख निरूपण के रूप में। नख शिख में नेत्रों की विशेष महत्ता है। रीति काल के बाद भी इस विषय पर रचनाएँ की गईं। ये प्रायः व्यापक सौन्दर्य की कोटि में आती हैं।

इस प्रकार व्रज भाषा में श्रीकृष्ण का वर्णन चार रूपों में मिलता है। १. विशुद्ध भक्ति भावनामय २. भक्ति और विलासिता के संयोग द्वारा प्रेरित। ३. व्यापक रूप में तथा ४. नखशिख के रूप में। पाठकों के विचारार्थ प्रत्येक से सम्बन्धित कतिपय छन्द नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

भक्तिकाल—कृष्ण भक्ति-शाखा के कवियों में सबसे पहले अष्टछाप के कवियों—सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, चतुर्भुज दास, छीतस्वामी और गोविन्द स्वामी का नाम आता है। इन

भक्त कवियों ने अपने इष्टदेव भगवान् को बालक रूप में ही देखा था। इन्होंने श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन व्यापक और नखशिख दोनों रूप में किया है यथा —

चपल नयनभृकुटि नासापुट, सुनि सुन्दर मुख बैन।
मानहु नृत्यक भाव दिखावत, गति लिये नायक मैन।
चमकत मोर चन्द्रिका माथे, कुंचित अलक सुभाल।
मानहु कमलकोप रस चाखन, उड़ि आये अलिमाल।
कुण्डल लोल कपोलन झलकत, ऐसी शोभा देत।
मानहु सुधासिन्धु में क्रीड़त, मकर पान के हेत।
सोभित वैजन्ती चरणन पर, श्वासा पवन झकोरि।
मनहु ग्रीव सुरसरि वहि आवत, ब्रह्म कमण्डलु फोरि।
झलमलाति भृगु की पदरेखा, सुभग सांवरे गात।
जनु पट्विधु एकै रथ बैठे, उदय किये अधरात।
बांके चरन कमल भुज बांके, अवलोकनि जु अनूप।
मानहु कल्पतरोवर विरवा, आनि रच्यो सुर भूप।

उक्त छन्द में उत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रस्फुटन है। सूरदास के पदों में अलंकार स्वाभाविक रूप में ही आये हैं। देखिये निम्नलिखित छन्द में उपमा का चमत्कार —

चन्द्रकोटि प्रकाश मुख; अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छवि पर, निरख दीजत दान।
भृकुटि कोटि कुदंड रुचि अवलोकननि संधान।
कोटि वारिज नयन बंक, कटाक्ष कोटिक बान।

नीचे लिखे छन्द में स्वाभावोक्ति के सहारे श्रीकृष्ण का सर्वांग निरूपण ही किया गया है।

नटवर भेष काछे स्याम।
पद कमल नख इंदु शोभा, ध्यान पूरन काम।
जानु जंघ सुघटनि करभा, नाहिं रंभा तूल।

पीतपट काछनी माहुँ, जलज केसर भूल।
कनक छुद्रावली पंगति, नाभि कटि के मार।
मानहुँ हँस रसालि पंगति, रहे हैं ह्रद तीर।
झलक रोमावली सोभा, ग्रीव मोतिन हार।
मनहुँ गंगा बीच यमुना, चली मिलि त्रय धार।
बाहु दण्ड बिलास तट दोउ, अंग चंदन रेनु।
तीर तरु बनमाल की छवि, ब्रज युवती सुख देनु,
चिवुक पर अधरनि दसन द्युत बिंब बीजु लगाइ।
नासिका, सुक नैन खंजन, कहत सरमाइ।
स्रवन कुंडल कोटि रवि छवि भृकुटि काम कोदंड।
सुर प्रभू हैं नीप के तर, सिर धरे श्रीखण्ड।

इस अनुपम सौन्दर्य जन्य प्रेम ने व्रज वनिताओं को आबद्ध कर लिया।

श्याम हृदय वर मोतिन माला। बिथकित भई निरख ब्रज बाला॥
श्रवन थके सुनि बचन रसाला। नैन थके दरसन नंदलाला॥
कहुँ कंठ भुज नैन बिसाला। करके उर कंचन नग जाला॥
पल्लव हस्त मुद्रिका भ्राजै। कौस्तुभ मनि हृदयस्थल छाजै॥
रोमावली बरनि नहिं जाई। नाभि स्थल की सुन्दरताई॥
कटि किंकिनी चंद्रमनि संजुत। पीतांबर कटि तट छबि अद्भुत॥
जुगुल जंघ को पटतर को है। तरुनी मन धीरज को जो है॥
जान जानु की छवि न सँभारे। नारि निकरि मन बुद्धि बिचारे॥
रत्न जटित कंचन कल नेपुर। मंद मंद गति चलत मधुर सुर॥
जुगल कमल पद नख मनि आभा। संतिन मनि संतत यह लाभा॥
जो जेहि अंग तो सो तहाँ भुलानी। सूरस्याम गति काहु न जानी॥

स्वतन्त्र रूप से अंग प्रत्यंग का वर्णन भी सूरदास ने किया है।

(१) भृकुटि त्रिकट नयन अति चंचल।
यह छवि पर उपमा इक धावत।

धनुष देखि खंजन जिमि डरपत।
नाहिं सकत उठिये अकुलावत।

यहाँ पर नखशिख की परिपाटी के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के नेत्रों का वर्णन किया गया है। भृकुटि कुटिल है, नयन अतिशय चंचल हैं। मानो भूरूप धनुष के खंजन भयभीत हो रहे है, उड़ न सकने के कारण आकुल हो रहे हैं।

(२) बने विशाल हरि लोचन लोल
चितै चितै हरि चारु विलोकनि
मांगत हैं मन ओल—

हरि के विशाल चंचल लोचनों की बड़ी शोभा होरही है। सुन्दर दृष्टि के द्वारा बार बार ताकते हुये वह दर्शकों के मनों को बन्धक के स्वरूप अपने अधिकार में लाना चाहते हैं।

(३) चपल मनोहर चितवनी, राजत है भुजअंग।
धनुषबान वय डारिकै, होत कोटि अनंग।

मनोहर चंचल कटाक्ष तथा बंकिम भ्रू की शोभा देख के कोटि कामदेव धनुषबाण त्याग कर उनके वश में आते हैं।

(४) देखि हरि जू के नैनन की छवि,
इहै जानि दुःख मानि मनहुं,
अम्बुज सेवत जल में नित रवि।

सखी. हरिजी के नयनों की शोभा देख, इन नयनों की तुलना अपने साथ करते हुये कमल दुःखी होकर मानों जल के भीतर नित्य सूर्यदेव की तपस्या कर रहा है। जिसमें भविष्य में वह इन नयनों की शोभा पा सके।

(५) देखि हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन।
राजिवदल, इन्दीवर, सतदल, कमल, कुसेसय जाति।

निसि मुद्रित, प्रातहिं विकसित ये विकसित दिन रात।
अरुन सेत सिति, झलक पलक प्रति, को बरनै उपमाई।
मनु सारसुति गंगा जमुना मिलि संगम कीन्हों आई।
अवलोकनि जलधार तेज अति तहां न मन ठहरात।
सूर स्याम लोचन अपार छवि, उपमा सुनि सरसात।

इसी प्रकार श्याम जू की भुजाओं को भी देख लीजिये—

स्याम भुजा की सुन्दरताई।
बड़े बिसाल जानु लौं परसत यक उपमा मन आई।
मनों भुजंग गगन से उतरत अधमुख रह्यो झुलाई।
चन्दन खौरि अनूपम राजत सो छवि कही न जाई।
रत्न जटित पहुँची कर राजत अंगुरी सुन्दरि भारी।
सूर मनों फनि सिर मनि सोभित फन-फन की छवि न्यारी

जड़िया नन्ददास ने कृष्ण का सौन्दर्य वर्णन एक सच्चे भक्त के रूप में ही किया है। इन वर्णनों में व्यापक और नखशिख दोनों ही परिपाटियों का सुन्दर समन्वय है—

नीलोत्पल दल स्याम अंग, नव जीवन भ्राजै।
कुटिल अलक मुख कमल, मनों अलि अवलि।

× × × ×

कंबु कंठ की रेख देख, हरि धरम प्रकासै।
काम क्रोध मद लोभ मोह, जिहिं निरखति नासै।
सुन्दर उदर उदार, रुमावलि राजति भारी।
हिय सरवर रस पूरि, चली जनु उमँगि पनारी।

× × × ×

बाल मुक्तन की माल, लाल बनमाल धरैं पिय।
मंद मरुत बस पीत बसन, फरकत करत हिय।

सूरदास और नन्ददास के सम्मुख अन्य कवियों की रचनाएँ साधारण कोटि की है। यथा—

तरनि तनया तट आवत है प्रात समय
कन्दुक खेलत देख्यो आनन्द को कंद्वा।
नूपुर पद कुनित, पीताम्बर कटि बांधे,
लाल उपरना, सिर मोहन के चंद्वा।
(कृष्णदास)

तथा—

सूथन लाल फूंदना सोभित,
आजु की छवि कछु कहृति न आवति।
विविध कुसुम की माला उर धरि,
श्रीकर मुरली बेंत गहावत।
(गोविन्ददास)

अष्टछाप के अतिरिक्त अन्य भक्त कवियों ने भी कृष्ण सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन किया है। इनमें राजस्थान की मतवाली मीरा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सांवरे के रंग में रंगकर वह तो दिन रात आठों घड़ी चौबीसों घण्टे उन्हीं की माधुरी में रसोन्मत्त बनी रहती थीं। देखिये मीरा के प्रभु गोपाल कृष्ण का अपूर्व सौन्दर्य—

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनि मूरति, सांवरि सूरत, नैना बने बिसाल।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, अरुन तिलक दिये भाल।
अधर सुधारस, मुरली राजति, उर बैजन्ती माल।
छुद्र घंटिका कटि तट शोभित, नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु सन्तनि सुखदाई, भक्त बछल गोपाल।

मीरा ने इन्हीं प्रभु को "जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई" कह कर पति रूप में वर्णन किया था।

या मोहन के रूप लुभानी।
सुन्दर बदन कमल दल लोचन, बांकी चितवन मंद मुसकानी।

मीरा ने परम्परागत उपमानों के परिगणन के रूप में भी श्रीकृष्ण का सौन्दर्य अङ्कित किया है—

कुण्डल की अलक झलक कपोलन परछाईं।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आईं।
कुटिल भृकुटि तिलक भाल लितवन में टोना।
खंजन अरु मधुप भूले मृग छौना।

कृष्ण भक्त कवियों में रसखान की चर्चा के बिना यह प्रसंग अधूरा ही रह जायगा। कृष्ण की लकुटी और कामरिया पर तीनों लोकों का राज, आठों सिद्धि तथा नवों निद्धियों का सुख न्यौछावर करने वाले रसखान के कृष्ण का स्वरूप दर्शन मन को अनन्त तृप्ति प्रदान करने वाला है।

गोरज बिराजै भाल लहलही बनमाल
आगे गैया पाछे ग्वाल गावै मृदु तान री।
तैसी धुनि बाँसुरी की मधुर मधुर तैसी
बंक चितवनि मंद मंद मुसकानि री।
कदम बिटप के निकट तटनी के आय
अटा चढ़ि चाहि पीतपट फहरानि री।
रस बरसावै तन तपन बुझावै नैन
प्राननि रिझावै वह आवै "रसखानि" री।

उक्त कवित्त में श्री कृष्ण के सौन्दर्य निरूपण के साथ सौन्दर्य-जन्य प्रभाव भी स्पष्ट रूप से व्यंजित है।

खेलते हुए बालक कृष्ण की भी झाँकी देख लीजिये।

धूर भरे अति सोभित स्याम जू
तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।

खेलत खात फिरै अंगना पग
पैंजनी बाजती पीरी कछौटी।

× × ×

मोहन का मनमोहक स्वरूप भक्तजनों को मुग्ध कर देता है। रसखान ने इस दशा का वर्णन "चल्यो गयौ मोहन मूठि सी मारै" कहकर किया है।

रीतिकाल—मुगल शासन के ऐश्वर्य और लोक रुचि के अनुरूप तत्कालीन काव्य भी विलास प्रिय बन गया था। श्रीकृष्ण एक नायक के रूप में गृहीत होने लगे थे। किन्तु भक्ति भावना सर्वथा लुप्त नहीं होगई थी। रीतिकालीन वर्णनों में अलंकारों की चर्चा की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा था। यथा—

मोर पखा मतिराम किरीट में कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर कुण्डल डोलनि में छवि छाई।
लोचन लोल विसाल विलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं? मीठी लगै अँखियान लुनाई।

यहां स्वरूप वर्णन तथा उसके प्रभाव निरूपण द्वारा गुण कथन किया गया है। सांवले श्याम के श्याम स्वरूप को प्रेमी जन किस प्रकार अपने अंग प्रत्यंग में भर लेना चाहते हैं?

देव मैं सीस बसायौ सनेह सों, भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यौ।
कंचुकि मैं चुपर्यौ करि चोवा लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो।
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ।
सांवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यौ!

रस रङ्ग में कभी कभी सखियां श्रीकृष्ण की गति भी बना देती थीं। परिहास में उनका स्त्रियों जैसा श्रृंगार कर देती थीं। श्रीकृष्ण के इस स्वरूप सौन्दर्य को भी देख लीजिये—

रूठि के सोय रहे अंगना पिय, चौवरि चूकि लिया गहरानी।
सोवत बन्दन बेंदी दई गूंदि, "बैनी प्रवीन" सखी बहुरानी।

भोरहि आय उठे अलसात वै, आरसी सामुहैं लै ठहरानी।
कान्ह कछू सकुचाय रहे, हंसी लखि मन्दिर में महतारी।

कविवर बिहारीलाल ने भक्ति भावना मय तथा अलंकार निरूपण के लिये दोनों ही प्रकार नन्द-नन्दन का सौन्दर्य वर्णन किया है। यथा—

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन बस्यौ, सदा बिहारीलाल।

तथा

मोर मुकुट की चन्द्रकनु, यों राजत नन्दनन्द,
मनु ससि सरवर की अकस, किय सरवर सत चंद।

बिहारी के उक्त प्रथम दोहे में उनके पुत्र कृष्ण कवि ने एक सुन्दर सवैया जोड़ा था।

छवि सों फवि सीस किरीट बन्यो, रुचिसाल हिए बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजु रली मुरली, कछनी कटि चारु प्रभा बरसै।
कवि 'कृष्ण' कहैं लखि सुन्दर मूरति, यों अभिलाष हिए सरसै।
वह नन्द किसोर बिहारी सदा, यहि बानक मोहिय मांझ बसै।

रीतिकाल के बाद—इन परवर्ती कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा जगन्नाथ "रत्नाकर" के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु का स्वरूप-वर्णन अत्यन्त व्यापक है और 'रत्नाकर' के वर्णनों में अलंकार निरूपण की ओर विशेष रुचि है। यथा—

बार बार पिय आरसी मत देखहु चित लाय।
कोमल सुन्दर रूप में दीठि कहूँ लगि जाय।
(हरिश्चन्द्र)

तथा—

देख सखी देख अनमेख ऐसो भेख यह,
जाहि देख तेज रविहू को मंद ह्वै गयो।
"हरीचंद" ताप सब जिय को नसाइ चित्त

आनंद बढ़ाय माह अति छकि सों छयो।
ग्वाल उडुगन बीच बेनु को सुधा,
रस बरसाइ भान कमल लजा दयो।
गोरज समूह घन पटल उघारि वह,
गोप कुल कुमुद निसाकर उदै भयो।

भारतेन्दु के उक्त वर्णन में स्वरूप वर्णन के साथ उसका प्रभाव भी व्यंजित है। भ्रान्ति, प्रतीप, तथा रूपक अलंकार अत्यन्त स्वाभाविक रूप में आगये हैं। भारतेन्दु ने चन्द्रावली नाटिका में नखसिख की परिपाटी पर भी कतिपय वर्णन किये हैं।

(१) कोई एक जोगिन रूप किये।
भोंहें छकोहें लोचन चलि चलि कोयन करन छियैं।

× ÷ +

(२) जोगिन प्रेम की आई।
बड़े बड़े नैन हुए कानन लों चितवन मद अलसाई।

× × ×

भक्त कवियों ने श्रीकृष्ण सौन्दर्य से निस्सृत प्रेम की सुधा धारा की एक नहीं अनेक पयस्विनियां बहाई हैं। इस सौन्दर्य-सागर में अवगाहन करके जीव सहज ही पवित्र हो सकता है। बड़े बड़े लोगों ने कृष्ण रूप रस-माधुरी की मधुकरी प्राप्त करने के लिये आजन्म तप किया था और योग साधे थे। श्याम घनश्याम के इस श्याम स्वरूप को निहार कर किसका मन मयूर उन्मत्त हो न नाच उठेगा ?

हिन्दी साहित्य और वैष्णव कवि

रूप-रेखा

१—वैष्णव कवियों का आविर्भाव।

२—राम-भक्ति-शाखा और उसके कवि।

३—कृष्ण-भक्ति-शाखा और उसके कवि।

४—आधुनिक काल के वैष्णव कवि।

५—उपसंहार।

मुसलमानों के सङ्गठित प्रहारों के सामने हिन्दुओं की छिन्न-भिन्न शक्ति सदा-सर्वदा को झुक गई। उन्हें चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देने लगा। मुसलमान केवल तलवार ही लेकर नहीं आए थे, वे अपने साथ कुरान भी लाए थे, अर्थात् राज्य-स्थापन के साथ ही साथ वे अपने इस्लाम धर्म का प्रचार और प्रसार भी कर रहे थे। इतना ही नहीं वे असहिष्णु भी थे। वे अपने धर्म की बात कहने के साथ ही साथ हिन्दुओं के देव-मन्दिर गिराते, उनकी मूर्तियाँ तोड़ते तथा इस्लाम क़बूल कराने के लिए उन पर भाँति-भाँति के अत्याचार भी करते थे। इस प्रकार आक्रांतित होने पर समस्त हिन्दू समाज कराह उठा था, और "दुख में सुमिरन सब करैं" वाली लोकोक्ति के अनुसार उन्हें अपने राम की याद आने लगी थी और उनकी करुणा भरी आँखें ऊपर की ओर, गज की टेर सुनकर आने वाले खरारि एवं द्रौपदी की पुकार सुनकर आने वाले मुरारि की ओर टकटकी बाँधकर देखने लगी थीं!

फलतः एक महान धार्मिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उत्तरीय भारतवर्ष के हिन्दुओं में कोई आशा, कोई शक्ति नहीं रह गई थी। भक्ति का यह स्रोत दक्षिण भारत से आया। पहिले तो राम और रहीम अथवा ईश्वर और अल्ला का एकत्व प्रतिपादित करने वाले कबीर, दादू आदि अनेक निर्गुण पंथी कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों के अन्तर को कम करने का सफल प्रयत्न किया। इन महात्मा उपदेशकों की वाणी सुनकर उन्हें यह विश्वास हो चला कि मन्दिरों में रहने वाला परमात्मा और

मसजिद का खुदा वस्तुतः एक ही हैं, हिन्दुओं के घर में रहने वाला राम मुसलमानों के खुदा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उनके इस पारस्परिक भेद-भाव को कम करने में राजनैतिक कारण भी सहायक हुए। मुसलमानों ने समझ लिया था कि भारतवर्ष अब उनका है और उन्हें अब यहीं रहना था, तथा हिन्दुओं ने भी यह समझ लिया था कि उन्हें मुसलमानों की दासता करनी है। इतना सब कुछ होने पर भी निर्गुणोपासक सन्त कवि हिन्दू हृदय में आशा का संचार न कर सके, उसके मुरझाए मन को हरा-भरा न कर सके। इसके लिये भगवान की भक्ति-रूपी सुधावृष्टि की आवश्यकता थी। यह कार्य वैष्णव भक्त कवियों द्वारा सम्पन्न हुआ। वैष्णव कवियों ने भगवान के लोकपालक एवं लोकरक्षक रूप की प्रतिष्ठा करके भगवान की सगुण भक्ति का सम्पूर्ण देश में प्रचार किया। उनकी दिव्य-वाणी सुनकर हिन्दू समाज को विश्वास हुआ कि भगवान दूर नहीं है, उनकी आर्त्त पुकार सुनकर वे अवश्य ही उनकी रक्षार्थ आएँगे। उन्हें विश्वास हुआ कि भगवान दुष्टों का दमन करने के लिए, सज्जनों की रक्षा करने के लिये तथा दीन-दुखियों के आँसू पोंछने के लिये इस भूमण्डल पर यथा समय अवतरित होते रहते हैं। निम्नलिखित शब्द हिन्दुओं के घर घर में गूंजने लगे—

मङ्गल-भवन अमङ्गल हारी। द्रवहु सो दशरथ अजिर बिहारी

× × ×

जब जब होय धरम की हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी
तब तब धर प्रभु विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा

इस प्रकार इन माहात्मा कवियों ने समाज को एक नव सन्देश प्रदान करके सुदृढ़ सम्बल प्रदान किया और भक्ति के इस प्रवाह में हिन्दू जाति की उदासी या खिन्नता बह गई।

भक्ति का यह स्रोत दो रूपों में बहा-राम भक्ति और कृष्ण भक्ति, अथवा इन वैष्णव कवियों ने विष्णु के दो अवतारों—राम और कृष्ण को अपनी भक्ति का आलम्बन चुना। राम-भक्ति शाखा के प्रवर्त्तक हुए स्वामी रामानन्द जी और उनकी शिष्य परम्परा में अनेक भक्त-कवि हुए।

गोस्वामी तुलसीदास इनमें प्रमुख हैं। कृष्ण भक्ति के प्रवर्तक हुए श्री वल्लभाचार्यजी। सूरदास, नन्ददास आदि अष्टछाप के कवि इन्हीं की शिष्य परम्परा में आते हैं। इन भक्त कवियों की प्रतिभा अलौकिक थी। उसने पुस्फुटित होकर हिन्दी-साहित्य को जगमगा दिया।

तुलसी और सूर तो आज तक हिन्दी साहित्याकाश को सूर्य और चन्द्र की भाँति आलोकित कर रहे हैं। वैष्णव-काव्य का यह धारा आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है, कभी पीण काय और कभी क्षीणकाय होकर, वह आज दिन तक हमें भगवान के सौन्दर्य, शक्ति और शील का सन्देश सुना रही है। भक्ति के इस सागर के किनारे खड़े होकर भगवान के शील, शक्ति और सौन्दर्य की लहरों का आनन्द प्राप्त करके जीव कृतकृत्य हो, जाता है।

रामानन्द तथा वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित इस भक्ति-मार्ग पर चलने वाले ये वैष्णव कवि लगातर तीन सौ वर्षों तक भगवन्नाम की वोणाझंकृत करते रहे। यह हिन्दा का भक्ति-काल कहलाया। इन कवियों ने केवल भक्ति का पाठ ही नहीं पढ़ाया, अपितु, जीवन, धर्म दर्शन आदि की विशद व्याख्या भी की। इसी कारण हिन्दी साहित्य का वह युग हिन्दी का भक्ति-काल, हिन्दी साहित्य का सुवर्ण-युग कहलाता है। इन वैष्णव कवियों के विषय में आचार्य श्याम सुन्दरदास के निम्नलिखित शब्द अक्षरशः सत्य हैं—

"हिन्दी साहित्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाये तो जो बचेगा, वह इतना हल्का होगा कि हम उस पर किसी प्रकार का गर्व न कर सकेंगे। लगभग तीन सौ वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर अन्य प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर उठाए हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान हितहरिवंश, इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी-भारती के कंठमाल हैं।"

रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत होने वाले मुख्य कवि हैं गोस्वामी

तुलसीदास, स्वामी अग्रदास, नाभादास, केशवदास तथा सेनापति। कृष्ण भक्ति शाखा के अन्तर्गत होने वाले कवियों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है यथा सूरदास, नन्ददास तथा कुंभनदास आदि अष्टछाप के कवि, मीराबाई, स्वामी हरिदास, रसखान, तथा नरोत्तमदास।

आधुनिक काल के वैष्णव कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अयोध्या सिंह उपाध्याय, वियोगी हरि, मैथिलीशरण गुप्त तथा पं० सत्यनारायण कविरत्न के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

राम भक्ति शाखा के अन्तर्गत होने वाले कवियों में हम केवल चार कवियों की ही चर्चा करेंगे—गोस्वामी तुलसीदास, नाभादास, केशव दास तथा मैथिलीशरण गुप्त।

गोस्वामी तुलसीदास के नाम से कौन अपरिचित है। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने काव्य के प्रत्येक अङ्ग को आलोकित किया है। उन्होंने छोटे-बड़े सब मिलाकर १३ ग्रन्थ लिखे। इनमें 'रामचरित-मानस' का सबसे अधिक प्रचार हुआ, वह प्रत्येक हिन्दू का कण्ठ-हार बना हुआ है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्द मनन करने योग्य हैं। यथा-"रचना-कौशल, प्रबन्ध, पटुता सहृदयता इत्यादि सब गुणों का समाहार हमें 'रामचरित मानस' में मिलता है। इसमें कथा-काव्य के समस्त अवयवों-इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार-वर्णन, भावव्यंजना, तथा सम्वाद-का सम्यक समीकरण दृष्टिगोचर होता है।" इसके अतिरिक्त रामचरित मानस की तीन अन्य विशेषताएँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं-मार्मिक स्थलों की पहिचान, प्रसंगानुकूल भाषा तथा शृंगार रस का शिष्ट मर्य्यादा के भीतर बहुत ही व्यञ्जक-वर्णन।

अपने समय में प्रचलित समस्त शैलियों पर प्रौढ़ रचना करना गोस्वामी जी की सबसे बड़ी विशेषता है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र को कुछ न कुछ दिया। उन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार के ग्रंथ लिखे, हिन्दी की दोनों प्रमुख उपभाषाओं—ब्रज तथा अवधी में कविता की, अपने समय में प्रचलित पांचों प्रकार की शैलियों (वीर-गाथा-काल की छप्पय-पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीति-पद्धति, गङ्ग आदि

भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति, नीति की सूक्ति पद्धति के दोहे तथा जायसी की दोहा-चौपाई वाली पद्धति) पर काव्य-रचना की तथा वैष्णव भक्ति के एक आलम्बन राम पर यद्यपि विशेष रूप से लिखा तथा उसके अन्य आलम्बन कृष्ण पर भी "कृष्ण गीतावली" लिखकर तथा विष्णु और शिव का एकत्व प्रतिपादित करके अपनी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। सारांश यह कि गोस्वामी तुलसीदास द्वारा जो हिंदी-साहित्य का उपकार हुआ है, वह वर्णनातीत है।

गोस्वामी जी का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, उनकी पुनीत वाणी ने मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को स्पर्श किया है; मानव अन्तःकरण की सूक्ष्मतम वृत्ति का उसने उद्घाटन किया है तथा उनके हृदय ने बाह्य-जगत के नाना-रूपों के साथ पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया है। 'रामचरितमानस' जैसे समर्थ काव्य-ग्रंथ की रचना करके उन्होंने डूबती हुई हिंदू जाति को सहारा दिया, उसे निराशा के गर्त से बाहर निकाला तथा "मङ्गल भवन अमंगल हारी" दाशरथि राम का स्वरूप दिखाकर उसमें अपूर्व आशा एवं शक्ति का संचार किया। तुलसी-सा कवि पाकर हिन्दी-साहित्य कृतकृत्य हो गया। 'हरिऔध' ने ठीक ही लिखा है—"कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी या तुलसी की कला।"

मानव-जीवन की विभिन्न दशाओं में तुलसीदास की पैठ पर विचार करते हुए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ये स्मरणीय शब्द लिखे हैं, "× × × अपने दृष्टि-विस्तार के कारण ही तुलसीदासजी उत्तरी-भारत की समस्त जनता के हृदय-मन्दिर में पूर्ण प्रेम-प्रतिष्ठा के साथ विराज रहे हैं। भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं, तो इन्हीं महानुभाव को। और कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चलते हैं—जैसे, वीरकाल के कवि उत्साह को, भक्तिकाल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को; अलंकार-काल के कवि दाम्पत्य प्रणय या शृंगार को। पर इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। एक ओर तो वह व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश करती है, दूसरी ओर लोक पक्ष में आकर पारिवारिक और

सामाजिक कर्त्तव्यों का सौन्दर्य दिखाकर मुग्ध करती है। व्यक्तिगत साधना के साथ ही साथ लोकधर्म की अत्यन्त उज्ज्वल छटा उसमें वर्त्तमान है।"

हिन्दू समाज और हिन्दी भाषी गोस्वामीजी के उपकार को कभी न भूल सकेंगे—

"भारी भवसागर उतारतो कवन पार।
जो पै यह रामायन तुलसी न गावतो।"
(बेनी कवि)

श्री नाभादास स्वामी अग्रदास के शिष्य थे और ये भी श्री रामानन्द जी की शिष्य परम्परा में आते हैं। इनका रचा हुआ प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तमाल' है। यह ग्रन्थ ब्रजभाषा में है तथा इसमें २०० भक्तों के चमत्कारपूर्ण चरित्र ३१६ छप्पयों में लिखे गये हैं। इन चरित्रों में भक्तों के पूर्ण जीवन वृत्त नहीं हैं, केवल भक्ति की महिमा-सूचक बातें दी गई हैं। ग्रन्थ को देखने से प्रतीत होता है कि इसकी रचना जनता में भक्तों के प्रति पूज्य बुद्धि का संचार करने के उद्देश्य से की गई थी। हमारे विचार से ग्रन्थकार को अपने उद्देश्य में बहुत कुछ सफलता भी मिली।

इनके द्वारा लिखे हुये रामचरित सम्बन्धी पदों का एक छोटा सा संग्रह भी प्राप्त हुआ है। इनके अतिरिक्त इन्होंने दो 'अष्टयाम' भी बनाए। एक ब्रजभाषा गद्य में, तथा दूसरा रामचरितमानस की शैली पर दोहा-चौपाइयों में। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और पद्य-रचना में अच्छी निपुणता थी।

केशवदास राम-भक्त कवियों में अपना वशिष्ठ स्थान रखते हैं। इनके लिखे हुये तीन ग्रन्थ हैं—'कविप्रिया', 'रसिक प्रिया' तथा 'रामचन्द्रिका' तीनों ही ग्रन्थों की भाषा प्रौढ़ एवं सुसंस्कृत ब्रजभाषा है। प्रथम दो ग्रन्थों में अलंकार तथा रसों का विवेचन है तथा रामचन्द्रिका में राम-कथा का वर्णन है। केशवदास राम भक्त वैष्णव कवि हैं अथवा रीति-आचार्य, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। जो भी हो, केशवदास ने रामचन्द्रिका के अन्तर्गत भगवान राम के चरित्र का भक्त-सुलभ तल्ली-

नता के साथ अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। अतः उनकी वैष्णव कवियों में गणना करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।

केशवदास कृत 'रामचन्द्रिका' में विविध छन्दों तथा अलंकारों का सफल प्रयोग किया गया है और वह एक साहित्यिक ग्रन्थ है। उसकी भाषा प्रौढ़, प्रांजल एवं सजीव है। वाग्वैदग्ध रामचन्द्रिका के सवादों का प्रमुख गुण है। राम वन-गमन, सीता-हरण आदि प्रसंगों को लेकर केशवदास ने हृदय पक्ष और कला-पक्ष का अनूठा समन्वय प्रदर्शित किया है। कुछ लोगों ने केशव को हृदय-हीन बताया है। हमारा सुझाव है कि केशव को समझने के लिये हिन्दी साहित्य के शास्त्रिय पक्ष का ज्ञान परमावश्यक है। राम-कथा का विस्तार परम्परा-मुक्त न होकर उनका अपना निजी है।

हिन्दी-भाषा-साहित्य के मध्य काल के राम-भक्त कवियों में सेनापति का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने 'कवित्तरत्नाकर' में राम-भक्ति परक दो 'तरंगें' (अध्याय) लिखे हैं, जिनमें इनका भक्त हृदय मुखरित हो उठा है। इनकी कविता प्रौढ़, प्रांजल तथा मर्मस्पर्शिनी है। पद-विन्यास अत्यन्त ललित एवं ओजपूर्ण है। अलंकारों की सुन्दर योजना ने इनके कला-पक्ष में चार चांद लगा दिया है, जिसके कारण भाव-पक्ष सजीव हो उठा है।

आधुनिक काल के राम भक्त कवियों में श्री मैथिलीशरण का स्थान सर्वोपरि एवं प्रमुख है। खड़ी बोली में राम-कथा लिखने का श्रेय गुप्तजी को ही प्राप्त है, क्योंकि इसके पहिले ब्रजभाषा तथा अवधी में ही राम-कथा सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना हुई थी।

गुप्तजी ने राम-चरित्र सम्बन्धी दो ग्रन्थ लिखे हैं—'पंचवटी' तथा 'साकेत'। 'पंचवटी' एक खण्ड काव्य है, और इसमें राम का वनवास तथा शूर्पनखा के प्रसंग हैं। 'साकेत' एक महाकाव्य है। इसके अन्तर्गत राम के सम्पूर्ण चरित्र का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषयता यह है कि राम-चरित्र सम्बन्धी समस्त घटनाओं का वर्णन 'साकेत' राम के निवास-स्थान अयोध्या, में ही किया जाता है।

'राम-चरित्र' में आधुनिकता का दृष्टि- कोण एवं राष्ट्रिय भावना का समावेश गुप्तजी की मौलिक उद्भावना है और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

यद्यपि गुप्तजी ने कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी रचना 'द्वापर' भी लिखी है, तथापि वे 'राम-भक्त' ही हैं।

कृष्ण-भक्त कवियों में अष्टछाप के कवियों के नाम अग्रगण्य हैं। इन्होंने जी खोलकर श्रीकृष्ण लीला का व्रजभाषा में गायन किया। इनमें सबसे ऊंची वीणा प्रज्ञाचक्षु भक्त सूरदास की है। कहते हैं कि उन्होंने श्रीकृष्ण लीला से सम्बन्धित लगभग सवा लाख पदों की रचना की थी। परन्तु इनके लिखे हुए लगभग दस हजार पद ही मिल सके हैं। इनके लिखे हुए तीन ग्रन्थ मिलते हैं—'सूरसागर', 'सूरपदावली' तथा 'साहित्य लहरी'। इनकी रचना अत्यन्त मर्मस्पर्शिनी तथा प्रसाद गुण से परिपूर्ण है। इनके पदों के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है कि—

किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर,
किधौं सूर को पद लग्यो वेध्यो सकल सरीर।

श्री नाभादास ने अपने 'भक्त माल' में इनका और इनकी रचना का परिचय इस प्रकार लिखा है—

उक्ति चोज अनुप्रास वरन अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी॥
प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि, हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुनरूप सबै रसना परकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर-कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥

सूरदास ने कृष्ण के जन्म से लेकर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा अत्यन्त विस्तार के साथ फुटकल पदों में गाई है। भिन्न-भिन्न लीलाओं के प्रसंग को लेकर इस सच्चे रसमग्न कवि ने अत्यन्त मधुर और मनोहर पदों की झड़ी सी बांध दी है। ये पद चलती हुई व्रजभाषा में सर्वप्रथम साहित्यिक रचना होने पर भी अत्यन्त सुडौल एवं परिमार्जित हैं।

सूरदास की कविता इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि परवर्ती कवियों की शृंगार तथा वात्सल्य-सम्बन्धी उक्तियाँ सूरदास की जूठन सी प्रतीत होने लगती हैं। इनकी स्तुति में कहा गया यह दोहा भी ध्यान देने योग्य है—

उत्तम पद कवि गंग के, कविता को बलबीर,
केशव अर्थ गम्भीर को, सूर तीन गुन धीर।

यद्यपि सूरदास ने जीवन का व्यापक रूप ग्रहण करके उसकी विभिन्न दशाओं का उद्घाटन नहीं किया है और परिमित पुण्य-भूमि में ही अपनी वाणी का संचरण किया है, तथापि शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जितनी सूक्ष्मतम वृत्तियों तक इनकी दृष्टि पहुँची है, उतनी किसी अन्य कवि की नहीं। इस क्षेत्र का कोई भी कोना इन्होंने अछूता नहीं छोड़ा है। बालसुलभ स्वाभाविक चेष्टाओं का इतना बड़ा भण्डार अन्यत्र कहीं न मिल सकेगा। एक चित्र देखिए—

पाहुनि करि दै तनक मह्यौ।
रारि करै मनमोहन मेरो, अञ्चल आनि गह्यौ।
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती, दधि भ्वैं ढरकि रह्यौ।

निम्नलिखित उदाहरण में मातृ-हृदय की अनूठी एवं हृदय-स्पर्शिनी अभिव्यंजना देख लीजिए—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की दया करत ही रहियो,
तुम तो टेव जानतहि हुइहौ तोऊ कहे मोहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ै तेहि माखन रोटी भावै।

मार्मिक अभिव्यंजना के साथ वचन विदग्धता सूरदास का एक अन्य विशेष गुण है। जिस समय व्रज-बालाएँ निर्गुणोपासना का खण्डन करती हैं, उस समय सूरदास की वचन-वक्रता अपने श्रेष्ठतम रूप में प्रस्फुटित हो उठती है। यथा—

निर्गुन कौन देश को बासी।
मधुकर हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच न हाँसी,
× × × ×

मोहन माँग्यौ अपनो रूप
या ब्रज बसत अंचै तुम बैठी ता बिनु तहाँ निरूप।

इस प्रकार की उक्तियाँ हिन्दी साहित्य की दिव्य विभूतियाँ हैं।

सूरदास के समकालीन तथा अष्टछाप के कवि नन्ददास की चर्चा किए बिना बात अधूरी ही रह जायगी। इनकी रचना अत्यन्त मधुर और सरस हैं। इनकी भाषा के विषय में यह उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है—"और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया" इन्होंने छोटी-बड़ी सब मिलाकर लग-भग २० पुस्तकें लिखी थीं—सब की सब श्रीकृष्ण-लीला-सम्बन्धी हैं। अभी तक इनमें केवल चार पुस्तकें प्रकाशित हो पाई हैं—रास-पंचाध्यायी, भ्रमरगीत, अनेकार्थमञ्जरी तथा अनेकार्थनाम-माला। इनमें रासपंचाध्यायी तथा भ्रमरगीत ही विशेष प्रसिद्ध हैं।

इनकी सबसे अधिक प्रसिद्ध पुस्तक 'रासपंचाध्यायी' रोला छन्दों में लिखी गई है। उसमें श्रीकृष्ण की रास-लीला का अनुप्रासादि-युक्त साहित्यिक भाषा में सविस्तार वर्णन किया गया है। एक उदाहरण देखिए—

ताही छिन उडुराज उदितरस-रास-सहायक।
कुंकुम-मण्डित बदन प्रिया जनु नागरि-नायक॥
कोमल किरन अरुन मानो बन व्यापि रही यों।
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ि धुर रह्यो गुलाल ज्यों॥
फटिक—छटा सी किरन कुञ्ज—रंध्रन जब आई।
मानहुँ वितत बितान सुदेस तनाव तनाई॥
तब लीनी कर कमल योगमायासी मुरली।
अघटित-घटना-चतुर बहुरि अधरन सुर जुरली॥

कृष्ण-प्रेम की मतवाली मीराबाई के भावुकतापूर्ण पद आज दिन तक हमारे कानों में सुधारस डालते रहते हैं। इनकी उपासना माधुर्य भाव की थी अर्थात वे अपने इष्टदेव श्री कृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती थीं। इनके बनाये हुये पदों के दो रूप हैं—कुछ तो विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में है और कुछ राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा में हैं। इनके बनाए चार ग्रन्थ कहे जाते हैं— नरसीजी का मायरा, गीतगोविन्द

टीका, राग गोविन्द तथा रागसोरठ के पद। मीरा के प्रत्येक पद उनके प्रेम सिक्त हृदय की प्रतिकृति हैं, वह प्रेम की मार्मिक अभिव्यञ्जना की जीती-जागती तथा बोलती हुई मूर्ति हैं। इनके बनाए हुए, मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई, "मैं तो सांवर के रङ्ग राती", हेरी मैं तो प्रेम-दिवानी मेरा दरद न जाने कोय आदि पद श्रोताओं एवं पाठकों को मन्त्र-मुग्ध कर देते हैं। उनके एक एक शब्द में मीरा का वियोगी हृदय झाँकता रहता है।

कृष्ण-भक्त मुसलमानों के प्रतिनिधि कवि रसखान की चर्चा करके अब हम प्राचीन (भक्तिकाल) भक्त कवियों की चर्चा समाप्त करते हैं। रसखान श्रीकृष्ण के प्रेम में ऐसे मग्न हुए कि कृष्ण के प्रेम और रूप की मधुकरी प्राप्त करने के लिए अपना सब ठाट-बाट छोड़कर विरक्त हो गए। उन्होंने स्वयं कहा है—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान
छिनहिं बादसा-बंस की ठसक छाँड़ि रसखान ॥

इनकी रचना में प्रेम के ऐसे सरस एवं सुन्दर उद्गार निकले कि जन साधारण प्रेम या शृङ्गार सम्बन्धी कवित्त-सवैयों को रसखान ही कहने लगे जैसे "कोई रसखान सुनाओ।" इनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है, जो बहुत ही चलती, सरस तथा शब्दाडम्बरमुक्त है। आचार्य पण्डित रामचन्द्र के शब्दों में, "शुद्ध ब्रजभाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानन्द की रचनाओं में है वह अन्यत्र दुर्लभ है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास)।

रसखान के कवित्त-सवैये हिन्दी-प्रेमियों की जिह्वा पर सदैव नाचते रहते हैं। उनकी रचना का एक नमूना देखिए—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछपै नाच नचावैं ॥

भक्ति-काल के ये कृष्ण-भक्त कवि कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर चलते थे वह हास-विलास की तरङ्गों से अनङ्ग

सौन्दर्य का समुद्र था। उस सार्वभौम प्रेमालंबन के सम्मुख ये कविगण निराले प्रेम लोक में फूले फूले फिरा करते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "ये अपने रङ्ग में मस्त रहने वाले जीव थे, तुलसीदास के समान लोकसंग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है, इस बात की परवा ये नहीं रखते थे, यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यञ्जना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया, उसका अलौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषय-वासनापूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढातिगूढ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृङ्गार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी-काव्य को भर दिया।" इस दृष्टिकोण से इन कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा हिन्दी-साहित्य का थोड़ा सा अहित भी हुआ। यह अहित उनके यशमंयक की कालिमा से अधिक नहीं कहा जा सकता है।

आधुनिक काल में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी कृष्ण के लोक-रक्षक वाले अङ्ग की पूर्ति की। इन्होंने श्रीकृष्ण के लोक-रंजक स्वरूप को लेकर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रियप्रवास' की रचना की। इसमें 'हरिऔध' के भावुक हृदय ने कृष्ण को व्रज-नेता के रूप में अंकित किया है। 'प्रियप्रवास' की राधा भी लोक-हित-संलग्ना हैं। वे कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को लोक-हित पर न्यौछावर कर देती हैं। यथा—

"प्यारे जीवें जग हित करें गेह चाहें न आवें।
+ + ×
मेरे मन में अनुपम विश्व का प्रेम जागा।"

'प्रिय-प्रवास' एक महाकाव्य है। इसमें संस्कृत के १८ वृत्तों का प्रयोग किया गया है। भाषा संस्कृतनिष्ठ शुद्ध खड़ी बोली है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि वैष्णव कवियों ने हिन्दी साहित्य का भण्डार भरने में विशेष हाथ बटाया है। इन कवियों ने हिंदी साहित्य को जैसा गौरवान्वित किया है, वैसा अन्य किसी श्रेणी के कवियों

ने नहीं किया। इन्होंने हिन्दी-भाषा की तीनों उपभाषाओं—अवधी, ब्रज-भाषा तथा खड़ी बोली-को प्रौढ़ता प्रदान की और उनमें सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ प्रदान कीं। भाव, रस, अर्थ-गाम्भीर्य, भाषा, शैली, बाह्य-दृश्य-विधान आदि प्रत्येक दृष्टि से इनकी रचनाएँ उच्चकोटि की ठहरती हैं।

निस्सन्देह हिन्दी काव्य को उच्चता की चरमकोटि पर पहुँचाने का श्रेय इन वैष्णव कवियों को ही है।

"स्वावलम्ब की एक झलक पर न्यौछावर कुबेर का कोष"

रूपरेखा—

(१) प्रस्तावना—
- (अ) स्वावलम्बन का अर्थ
- (आ) स्वावलम्बन का महत्त्व

(२) स्वावलम्बन से लाभ
- (अ) व्यक्ति में अनेक सद्गुणों का विकास
- (आ) समाज का विपुल हित

(३) कुछ स्वावलम्बी महापुरुषों के उदाहरण।

(४) उपसंहार

स्वावलम्बन एक यौगिक शब्द है। यह 'स्व' अवलम्बन इन दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका शब्दार्थ होता है 'अपने भरोसे रहना' अथवा 'अपने पैरों पर खड़े होना।' इस उक्ति का महत्त्व लोक-प्रचलित इस कहावत में भली भाँति समाया हुआ है कि "आस बिरानी जो करे, सो होते ही मर जाएँ।" जो मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा न हो सके, बात पीछे दूसरे का मुँह देखे, अधिक अच्छा हो कि वह जन्म ही न ले। जो बड़ा होकर अपने परिवार वालों के लिए, अपने समाज के लिए, अपने देश के

लिए भार स्वरूप सिद्ध हो, उसका तो पैदा होते ही मर जाना कहीं अधिक अच्छा है। भगवान भी उन्हीं की सहायता करता है जो स्वयं अपनी सहायता करता है यथा -"Heaven helps those who help themselvs"। परमात्मा भी सोच लेता है कि अमुक व्यक्ति को यदि स्वयं अपनी चिन्ता नहीं है, तो मुझे ही ऐसी क्या पड़ी है, जो मैं इसके पीछे व्यर्थ ही परेशान होऊँ! चलती गाड़ी में सब धक्के लगा देते हैं, चलते घोड़े को ऐड़ लगा दी जाती है। टूटी बेकार गाड़ी को कोई नहीं उठाना चाहता, मरे हुए घोड़े को कोई स्पर्श तक नहीं करना चाहता है। परावलम्बी मनुष्य को सर्वथा निर्जीव ही समझना चाहिए। गति ही जीवन का लक्षण है।

उपर्युक्त उक्ति राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने खण्ड काव्य 'पंचवटी' के अन्तर्गत लिखी है। देवी सीता अपने घर का समस्त कार्य अपने हाथों करती हैं और इस प्रकार के जीवन में उन्हें परम सन्तोष का अनुभव होता है। यह सुखद अनुभव उन्हें पहिले अयोध्या में कभी नहीं हुआ था, यद्यपि वहाँ उनकी सेवा-टहल करने के लिए अनेक सेवक-सेविकाएँ प्रस्तुत रहा करते थे। कवि की दृष्टि में स्वावलम्बन-जन्य इस आत्म-तुष्टि के सम्मुख अयोध्या का वैभव तुच्छ है, क्योंकि अयोध्या के राजसी ठाट-बाट वहाँ की कुबेर के कोष जैसी धनराशि आदि उनके मन को इस प्रकार आनंदित न कर सके। सचमुच परिश्रमपूर्वक कार्य-सम्पादन में जिस आनन्द का अनुभव होता है, उसे गूँगे का गुड़ ही कहा जायेगा। उस अद्वितीय आनन्द का अनुभव वही कर सकता है, जिसने अपने पैरों पर खड़ा होना सीखा है। अतएव कवि की यह उक्ति कि "स्वावलम्ब की एक झलक पर न्यौछावर कुबेर का कोष।" अक्षरशः सत्य है।

स्वावलम्बन के महत्त्व को एक उदाहरण देकर तनिक और स्पष्ट करते हैं। आप गङ्गा में स्नान करने के लिए उतरते हैं। नदी की धारा तीव्र है। अब आपके सम्मुख उसमें स्नान करने के दो मार्ग हैं। या तो आप नदी की धार का सामना करके अपने पैरों को जमाकर दृढ़ता पूर्वक खड़े हो जाएँ और इत्मीनान के साथ स्नान करें अथवा किसी अन्य व्यक्ति का

सहारा लेकर झटपट एक दो गोते लगावें और घबराते हुए बाहर निकल आवें। अब आप स्वयं ही उत्तर दे लीजिए कि आपको किस प्रकार स्नान करने में आनन्द आएगा। हो सकता है कि आपके विपुल धन-राशि हो, यह भी हो सकता है कि आपको सहारा देकर स्नान करने के लिए आपके दस-बीस नौकर भी हों; परन्तु हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि आप स्वयं अपने पैर जमाकर गङ्गा में स्नान कर सकेंगे, तो आप उन सेवकों का कदापि सहारा न लेंगे। बस, स्वावलम्बन की एक झलक पर कुबेर के कोष को न्यौछावर करने का यही अभिप्राय है।

स्वावलम्बन वास्तव में किसी व्यक्ति विशेष, समाज अथवा राष्ट्र विशेष की सम्पत्ति नहीं है। विश्वनियन्ता ने उसे समस्त विश्व को इसी प्रकार प्रदान किया है, जिस प्रकार वायु और जल। प्रत्येक प्राणी, धनिक-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित, वृद्ध-युवा, स्त्री-पुरुष, मनुष्य-पशु, जिस प्रकार जल और वायु का प्रयोग करता है, उसी प्रकार वह स्वावलम्बन का भी उपयोग करता है, केवल स्तर-मात्र का भेद होता है। कुछ व्यक्ति अधिक स्वावलम्बी होते हैं, कुछ कम। कुछ लोग अपने शरीर के काम स्वयं अपने आप कर लेते हैं और कुछ उनके लिए भी दूसरों का मुँह ताकते रहते हैं। कुछ व्यक्ति चाहते हैं कि कोई अन्य व्यक्ति उनके मुँह में खाना डाले और तब वे अपना पेट भरें। इस सम्बन्ध में मुझे दो परावलम्बी अथवा आलसी व्यक्तियों की एक कहानी याद आती है। एक पेड़ के नीचे दो व्यक्ति लेटे हुए थे। उधर से एक घुड़सवार निकला। लेटे हुये उन व्यक्तियों में एक ने घुड़सवार को आवाज देकर अपने पास बुलाया और निवेदन किया कि, "मेरी छाती पर पड़े हुए इस फल को तनिक मेरे मुँह में डाल दो।" घुड़सवार ने उसका काम कर दिया और बोला 'तुम बड़े आलसी मालूम पड़ते हो। तुम इतना भी नहीं कर सकते कि अपने पास रखे हुए पदार्थ को अपने मुंह में डाल लो।" घुड़सवार की बात सुनकर दूसरा व्यक्ति बोला, "आप बिलकुल ठीक कहते हैं। एक कुत्ता रात भर मेरे मुँह को चाटता रहा और इनसे इतना भी नहीं करते बना कि उस कुत्ते को भगा देता।" उनकी बात सुनकर घुड़सवार को हँसी आगई और उनकी परावलम्बी वृत्ति पर तरस खाता हुआ, वह वहाँ से चलता बना।

आप कहेंगे कि ऐसी कहानियाँ सर्वथा कपोलकल्पित हैं। हो सकता है आपकी बात ठीक हो। परन्तु आप यह तो स्वीकार करेंगे ही कि आज के युग में ऐसे अनेक व्यक्ति देखे जा सकते हैं जो भोजन बनाने का सब सामान—दाल,चावल, आटा, घी, सब्जी आदि होने पर भी सूखे बैठे रहते हैं, क्योंकि वे हाथ-पैर हिलाकर अपना भोजन स्वयं नहीं बनाना चाहते हैं। अब आप ही विचार कीजिए कि ऐसे व्यक्तियों को जीवित रहने का अधिकार है या नहीं।

हमारे देश के भिखारी अथवा भिखमंगे परावलम्बन का ज्वलन्त उदाहरण अथवा चलता-फिरता सजीव रूप हैं। इन्हें देखकर आप भी कभी सोचने लगते होंगे कि ये लोग समाज का अभिशाप तथा देश के कलंक हैं। किसी हृष्टपुष्ट भिखारी को देखकर सम्भवतः कभी यह भी कह बैठते हो, "महाराज! क्यों नहीं मेहनत मजदूरी करते! भगवान ने तुम्हें ऐसा स्वस्थ शरीर दिया है। भीख मांगते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती?" आदि। इन भिखारियों में कुछ पहुँचे हुए भिखारी भी होते हैं। वे तुरन्त आपकी बात का भांति भांति से उत्तर देने लगते हैं। इन उत्तरों का सारांश यह होता है कि वे तो भगवान के भरोसे हैं, वह उनकी देख-भाल करता रहता है। तात्पर्य यह है कि भाग्यवादिता परावलम्बन की जननी है और इसके द्वारा भारतवर्ष का अत्यधिक अहित हुआ है। नाथ पंथी योगी तथा निर्गुण पन्थी साधु, इस प्रवृत्ति के प्रसार में विशेष सहायक हुए हैं। ये लोग प्रायः ऐसी बातें कहते हुए देखे जा सकते हैं कि—

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम
दास मलूका यों कहैं सबके दाता राम।

इन साधुओं के इस प्रकार के पाखण्ड से चिढ़कर ही गोस्वामी तुलसीदास ने यह बात कही थी कि—

कादर मन कर एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा॥

और बात भी ठीक है; जब बुद्धि-विहीन पशु अपने कार्य स्वयं अपने आप कर सकते हैं तो बुद्धि-विवेक एवं ज्ञान सम्पन्न मानव क्यों न अपना कार्य करें?

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि स्वावलम्बन जीवन है, परावलम्बन मृत्यु। स्वावलम्बन के द्वारा मनुष्य की समस्त शक्तियाँ निखर उठती हैं, वह अपने आप को पहिचानने लगता है, उसे विदित हो जाता है कि वह अक्षय एवं विपुल शक्ति का भण्डार है तथा संसार का ऐसा कौन सा कार्य है जिसे कर सकने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। स्वावलम्बन के द्वारा व्यक्ति में आत्म बल, आत्म-विश्वास और आत्म-निष्ठा का विकास होता है तथा इन दिव्य शक्तियों के सम्मुख समस्त कठिनाइयाँ तृणवत् प्रतीत होने लगती हैं। स्वावलम्बी मनुष्य के सम्मुख सफलता हाथ जोड़े खड़ी रहती है। सीता-हरण के अवसर पर राम ने अपने ऊपर भरोसा किया और स्वयं अपने आप अपनी सहायता करने की बात सोची हनुमान, सुग्रीव, अंगद आदि सहायक स्वयं उन्हें प्राप्त हो गये। कालान्तर में रावण का भाई विभीषण भी उनका सहायक बन गया। परन्तु यदि वे हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाते, यह कह कर कि जो होना था सो होगया सीता लौटकर आनी होगी, तो आजाएँगी, अन्यथा जाती ही क्यों? तो क्या सीता कभी लौटकर आतीं? दूसरे, यदि वे भरत के पास संदेश भेज कर सहायता की याचना करते, तो क्या वे राम बने रहते?

भगवान श्री कृष्ण का गोवर्द्धन-धारण स्वावलम्बन का एक अन्य सुन्दर उदाहरण है। गोकुल वासियों ने इन्द्र से लाख अनुनय-विनय किए कि वह पानी बरसाना बन्द करदे, वह न माना। कृष्ण की सहायता से उन सबने गोवर्द्धन पर्वत को उठा कर छाता बना लिया। गाँव के सब लोग उसके नीचे पहुँच गए। इन्द्र को लज्जित होकर स्वयं ही जल-धार रोकनी पड़ी।

एक नहीं, आपको ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनके द्वारा जो स्वावलम्बन के नैसर्गिक गुणों का उच्चतम स्वर से यशोगान करते हैं। स्वावलम्बन उन्नति का मार्ग, उत्थान का मूल और अभ्युदय की आधार-शिला है। जो व्यक्ति अपनी शक्ति और अपने बल पर निर्भर होकर कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ हो जाता है, संसार की समस्त रिद्धियाँ और सिद्धियाँ उसकी परिचारिका बनकर उसका मार्ग परिष्कृत करती चलती

है और सफलता उसकी अनुगामिनी बनने को उसी प्रकार लालायित रहती है, जैसे काया के साथ छाया।

उन्नति सुख एवं आनन्द की योजना करती है और स्वावलम्बन उन्नति का विधायक है। अपने प्रयत्नों द्वारा प्राप्त सफलता एवं उन्नति के द्वारा उपलब्ध आनन्द अनूठा होता है। वह आनन्द प्रातःकालीन शीतल एवं मन्द सुरभि के सदृश प्रफुल्लित करने वाला होता है, जिसके द्वारा हृदय-कलिका खिल उठती है। यह आनन्दानुभूति सर्वथा अनूठी होती है। यह हृदय में उत्साह का संचार करती, स्वाभिमान का आविर्भाव करती तथा आत्मनिर्भरता की चेतना का पोषण करती तथा सांसारिक सफलताओं के प्रति उदासीन रहने की भावना को उद्दीप्त करती है। अंग्रेजी के साहित्यकार शेक्सपीयर ने ठीक ही कहा है, "जो दुर्बल परावलम्बी केवल दूसरों का अनुसरण करने वाले हैं वे स्वावलम्बियों के स्वाभिमान को नहीं समझ पाते। स्वावलम्बी को इस बात की प्रसन्नता नहीं होती है कि उसे राजमुकुट मिल गया वरन् इस बात की होती है कि उसमें राज-मुकुट पाने की शक्ति है।" पूज्य बापू ऐसे ही स्वावलम्बी महापुरुष थे। जिस समय दिल्ली में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपलक्ष में उत्सव मनाये जारहे थे, उस समय वे नोआखाली की आग में झुलसते हुए परमानन्द का अनुभव कर रहे थे। इसी प्रकार महाराणा प्रताप को घास की रोटी खाना पत्थरों पर सोना आदि कष्ट झेलना स्वीकार था, परन्तु अकबर की दासता स्वीकार करके दूध के कुल्ले करना, मखमल पर चलना आदि सुखों का आलिंगन मान्य न था, क्योंकि उन्हें इस बात का भरोसा था कि उनमें समस्त मेवाड़-निवासियों को सुखी बनाने की शक्ति है। भामाशा ने अपनी समस्त सम्पत्ति राणा प्रतापसिंह के चरणों पर नहीं चढ़ाई बल्कि स्वाव-लम्बी राणा प्रताप के चरणों में सहर्ष समर्पित की थी।

स्वावलम्बन केवल व्यक्तित्व का, व्यक्ति के चरित्र का ही निर्माण करता हो, सो बात नहीं। वह लोक-कल्याण एवं लोक-रंजन की प्रेरणा प्रदान करता है। इतिहास बतायेगा कि प्रत्येक देश तथा समाज का कल्याण स्वावलम्बी आत्माओं के द्वारा ही हुआ है। बड़े-बड़े विद्वान,

सुधारक नेता, वैज्ञानिक, साधु-सन्त आदि सभी स्वावलम्वी महात्मा थे। किसी देश के निवासी जितने ही अधिक स्वावलम्बी होंगे, वह देश उतना ही अधिक उन्नत होगा। इगलैंड, अमेरिका, रूस, जर्मनी तथा जापान के उदाहरण तो अब पुराने पड़ गए। चीन स्वावलम्बन का अन्तिम एवं सजीव उदाहरण है। वहाँ के निवासी अफीमची एवं जाहिल कहे जाते थे। पिछले पांच वर्षों में वहाँ के निवासियों ने जिस तत्परता के साथ देश की उन्नति की है, उसे देखकर समस्त संसार आश्चर्यचकित होकर दाँतों तले अंगुली दबा गया है।

कहना न होगा कि विश्व का इतिहास स्वावलम्बी व्यक्तियों की गौरव-गाथायें लिखकर ही कृतकृत्य हुआ है। उन व्यक्तियों का महत्त्व इस कारण नहीं है क्योंकि इतिहास में उनकी चर्चा है, बल्कि उनकी चर्चाएँ लिखकर इतिहासकार अपने जीवन को सार्थक बना सके हैं। अस्तु।

राम और कृष्ण की चर्चा हो ही चुकी। बालक ध्रुव ने अपने बल बूते पर ही भगवान् का साक्षात्कार किया था, गाण्डीवधारी पार्थ ने पाण्डवों को जय-श्री दिलाई थी, भक्त सूरदास ने "कै हम ही कै तुम ही माधव अपन भरोसे लरिहौं" कह कर ही भगवान् को अपना उद्धार करने के लिए विवश कर दिया था। गोस्वामी तुलसीदास का आत्म-विश्वास भगवान् कृष्ण की मूर्ति को भगवान राम की मूर्त्ति के रूप में परि-वर्तित करने में समर्थ हुआ था। महर्षि दयानन्द, महात्मा गान्धी तथा अन्य देश-सेवकों ने किसी के आगे स्वतन्त्रता की भीख नहीं मांगी, बल्कि अपने बल भरोसे पर ब्रिटिश साम्राज्य जैसी महती शक्ति से मोर्चा ठाना और अन्त में उसे उखाड़ कर फैंक ही दिया।

भारतवर्ष में ही नहीं, अन्य देशों में भी अनेक स्वावलम्बी महापुरुष हो गये हैं विलसन, रूसो, नैपोलियन, ऐडीसन, गोल्डस्मिथ, क्लिन्थिस, रैमजेमैकडोनल्ड, हिटलर, स्टैलिन, चर्चिल, ट्रूमैन आदि के ऐसे उदाहरण हैं जिन्हें देखकर हम समझ सकते हैं कि साधारण स्थिति का मनुष्य स्वा-वलम्बी होकर उच्चतम पद को प्राप्त कर सकता है। स्वावलम्बन मनुष्य

को आशावादी बनाकर हर घड़ी उसके कान में यह गुंजरित करता रहता है कि "तुम्हारी शक्ति अपरमित है, तुम किसी से कम नहीं" 'A man can do what man has done" कुबेर के कोष के अभाव में स्वावलम्बी के मार्ग में अनेक असुविधाएं भले ही आजाएं, परन्तु वह असमर्थ नहीं बन सकता। सतत प्रयत्न उसके लिए किसी अन्य लोक का ईश्वर का सन्देश मात्र न होकर अहम् की प्रत्यक्ष पुकार बनता है।

हम लोगों में स्वावलम्बन का सर्वथा अभाव है। बहुत से विद्यार्थियों की यह आदत पड़ जाती है कि वे नकल करके ही अपना काम चलाना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि वे परीक्षा में असफल हो जाते हैं। बहुत से ऐसे भी विद्यार्थी होते हैं जो पास होने के लिए परीक्षकों के पास दौड़-धूप करते हैं। यही हाल अन्य वर्ग के लोगों का है। तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष के अधिकांश निवासी न तो अपने पैरों पर खड़ा होना जानते हैं और न वे अपने पैरों पर खड़े हो सकने की इच्छा रखते हैं। यही कारण है कि सब प्रकार की सम्पत्ति, विपुल धन राशि, जन शक्ति आदि होने पर भी इस देश की कोई भी योजना सफलता पूर्वक कार्यान्वित नहीं हो पाती है, और चारों ओर व्यभिचार एवं अनाचार का बोल-बाला है।

परावलम्बन का एक अन्य पक्ष भी देख लीजिये। आजकल का विद्यार्थी पाठ्यक्रम में निर्धारित मूल पुस्तकें न पढ़कर उनसे सम्बन्धित नोट एवं कुंजी पढ़कर काम चलाना चाहता है। फलतः उनकी शिक्षा की नींव बिलकुल कमजोर बनी रहती है और आगे चलकर जब वे जीवन में प्रवेश करते हैं, तो उनमें किसी भी कार्य को भली प्रकार सम्पन्न कर सकने की क्षमता नहीं पाई जाती है और वे शिक्षा-दीक्षा को व्यर्थ ही बदनाम करने का कारण बनते हैं।

सारांश यह है कि स्वावलम्बन एक महत्त्वपूर्ण एवं दिव्य गुण है। यह वह राजमार्ग है जिसका अवलम्बन करके हम बल, गौरव, सुख-समृद्धि, शान्ति, आत्मोत्थान आदि की सहज ही प्राप्ति कर सकते हैं। स्वावलम्बी मनुष्य को न माता-पिता की सम्पत्ति से मोह होता है और न अपने पड़ौसी

का धन अपहरण करने की इच्छा ही होती है, क्योंकि स्वावलम्बन का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह संसार के मध्य अपना मार्ग खोज निकालने की प्रवृत्ति को सदैव जागरूक रखता है। यदि सब लोग स्वावलम्बी बन जाएँ तो इसी भूतल पर स्वर्ग की सृष्टि हो जाए। न कोई अकर्मण्य रहे और न कोई आलसी। द्वेष और ईर्ष्या का सर्वनाश हो जाए, तथा सम्पूर्ण विश्व बल, विद्या और धन से परिपूर्ण हो जाए। स्वावलम्बन वास्तव में सुमति का फल और फूल दोनों है।

'सबै दिन जात न एक समान'

रूपरेखा—

१—उक्ति का अर्थ।

२—कतिपय उदाहरण।

(अ) व्यक्तियों के।

(ब) जातियों के।

(स) देशों के।

३—उपसंहार।

कौन नहीं जानता है कि परिवर्तन प्रकृति का अटल नियम है। जो आज है वह कल नहीं, और जो कल है वह परसों नहीं। एक पल के पश्चात् क्या होगा कोई नहीं जानता! सारांश यह कि समय परिवर्त्तनशील है; सब दिन एक से नहीं होते। यह बात किसी भी व्यक्ति के जीवन, जाति के जीवन, राष्ट्र के जीवन, विश्व की स्थिति, सब पर समान रूप से लागू होती है।

हम आँखें खोलकर जिधर भी देखें उधर हमें परिवर्त्तशीलता दृष्टि-गोचर होगी। अभी आकाश मेघाच्छन्न है, तो क्षण भर के पश्चात उसमें

होकर सूर्य की किरणें झांकती दिखाई देंगीं ; अभी यदि चारों ओर उज्जवल एवं शीतल चांदनी फैली हुई है, तो क्षण भर पीछे घनघोर वर्षा हो सकती है। जो व्यक्ति आज लखपती है, वह कल निर्धन हो सकता है, और जो आज कंगाल है, वह कल की तारीख में धनवान व्यक्ति बन सकता है। समय की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता व्यक्ति सापेक्ष है और वह रथ के पहिए की भांति ऊपर-नीचे घूमती रहती है। इसी का नाम समय का चक्र, भाग्य का खेल अथवा सृष्टि एवं संसार की परिवर्त्तन-शीलता है।

यह जीवन सुख और दुःख की आंख मिचौनी है, सुख दुःख की धूप-छांह में मानव खेलता-खाता रहा है; इसमें कभी वह उठकर खड़ा हो जाता है और कभी ठोकर खाकर गिर पड़ता है। इस उठने गिरने को उसने परिवर्त्तन कहा है और इसे उन्नति का प्रतीक मानकर उसने अपने भाग्य पर सन्तोष किया है। यथा

संसार में किसका समय है एकसा रहता सदा,
हैं निशि-दिवा सी घूमती सर्वत्र विपदा-सम्पदा।
जो आज एक अनाथ है नरनाथ कल होता वही।
जो आज उत्सव-मग्न है कल शोक से रोता वही।

निःसंदेह किसी का भी समय एकसा नहीं रहता, किसी की भी दशा समान नहीं रहती है। प्रातःकालीन बाल रवि मध्याह्न का प्रखर मार्त्तण्ड बनकर सायंकाल अस्ताचल को चला जाता है, शुक्ल पक्ष में नित्य नवीन कला धारण करने वाला चन्द्र कृष्ण पक्ष में अमावस्या के आते आते सर्वथा विलीन ही हो जाता है, वसन्त ऋतु में गर्व करने वाली आम्रमञ्जरी ग्रीष्म के ताप में झुलस कर न मालुम कहाँ चली जाती है, वर्षा ऋतु में अपने यौवन पर इठलाने वाली सरिता ग्रीष्म ऋतु में अपनी कृशता पर आंसू बहाने लगती है, पतझड़ के दिनों में नग्न एवं नीरस प्रतीत होने वाले लता-वृक्ष कुछ दिनों के अन्दर नव किसलय-युक्त एवं हरे-भरे होकर लहलहाते हैं। अस्तु।

इतिहास समय की परिवर्त्तनशीलता का सब से प्रबल समर्थक है। इसके पन्ने पलटने पर विदित होता है कि व्यक्तियों, जातियों तथा देशों

के जीवन में किस प्रकार के ज्वार-भाटे आये हैं, और आया करते हैं। अब हम कुछ उदाहरण देकर अपने कथन का पिष्ट पेषण करते हैं।

सतयुग में महाराज हरिश्चन्द्र हुए। वे चक्रवर्ती राजा थे और उनका व्रत था कि "चाहे सूर्य और चन्द्र अपने नियम छोड़दें, सूर्य अपनी दाहकता छोड़ दे और चन्द्रमा से चाहे अग्नि की वर्षा होने लगे, परन्तु हरिश्चन्द्र अपनी बात से न हटेगा।" ऐसे राजा हरिश्चन्द्र के राज्य में प्रजाजन सब प्रकार से सुखी और समृद्ध थे। उनसे न कोई असन्तुष्ट था और न कोई अप्रसन्न, उन्हें सब प्रकार का वैभव प्राप्त था परन्तु उनके दिनों ने ऐसा पलटा खाया कि उन्हें अपना ऋण चुकाने के लिए अपने पुत्र, अपनी पत्नी तथा स्वयं अपने आपको बेचना पड़ा, और एक चांडाल के यहाँ नौकरी करनी पड़ी। और फिर! उनके भाग्य ने पल्टा खाया। उन्हें साक्षात् भगवान् के दर्शन हुए और उनका पूर्व वैभव उन्हें फिर प्राप्त हुआ।

त्रेता युग में भगवान् राम हुए। उनकी कथा सर्वविदित है। आज उनके राज्याभिषेक की तैयारी हो रही है और कल प्रातःकाल तक, सूर्योदय से पूर्व ही उन्हें वन-वास की आज्ञा होती है और वे राजसी वस्त्र त्याग कर जंगल के लिए प्रस्थान कर देते हैं। चित्र के पशुओं को देखकर भयभीत हो जाने वाली सुकुमारी जानकी को हिंस्र पशुओं के बीच रहना पड़ता है, पलंग से कभी नीचे पैर न रखने वाली सीता को भूमि पर कुशासन पर सोना पड़ता है। षट्रस भोजन एवं नानाप्रकार के पकवान खाने वाले राम वन के कंद-मूल-फलों से अपना पेट भरने को विवश होते हैं। इतना ही नहीं, परम मेधावी एवं नीति-विशारद राम की बुद्धि में ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि वे सुवर्ण के मृग के पीछे भाग चलते हैं।

भगवान राम केवट को पुकारते हैं और उससे कहते हैं कि वह अपनी नाव पर बैठाकर उन्हें गङ्गा के उस पार पहुँचा दे इस अवसर का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द लिखे हैं—

तुलसी जिनके पद पंकज से प्रकटी तटनी जो हरै अघ गाढ़े।
सो प्रभु स्वै सरिता तरवे कों मांगत नाव करारे है ठाढ़े॥

द्वापर युग में भगवान श्रीकृष्ण हुए। वे भी राम की भांति पर-ब्रह्म के अवतार थे। समय के फेर से उन्हें अहीर की छोहरियों के बीच छछिया भर छाछ के लिये नाचना पड़ा, और महाभारत-संग्राम में अर्जुन का रथ हांकना पड़ा। जीवन भर भांति-भांति की लीला करने वाले, अनेक महारथियों का मद चूर करने वाले श्रीकृष्ण अन्त में एक बहेलिये के तीर के निशाने बने।

यदि श्रीकृष्ण नारायण के अवतार थे तो अर्जुन साक्षात् नर थे। उन्होंने विश्व को विजय किया था, उनके गांडीव की टङ्कार सुनकर शत्रु कांप उठते थे। त्रिलोकी थर्रा उठती थी; परन्तु समय के फेर में पड़ कर एकबार वे भी निरुपाय हो गए और भीलों से स्त्रियों की रक्षा न कर सके। अर्जुन भी वही थे, उनके बाण भी वे ही थे, परन्तु समय वही न था। इतना ही नहीं, ऐसे यशस्वी वीर अर्जुन को एक बार ज़नाना वेष धारण करना पड़ा था, और भीमकाय भीम को रसोइया बनकर महाराज विराट की रसोई बनानी पड़ी थी। समय के इन चक्करों को किसी ने भगवान की लीला कहा, किसी ने भाग्य का फेर, किसी ने कर्म की गति और किसी ने विधि का विधान।

अब आप आधुनिक काल के कुछ व्यक्तियों के जीवन-चरित्र पर दृष्टि-निक्षेप कर जाइये। समस्त यूरुप को विजय करने की दम भरने वाला नैपोलियन बोनापार्ट सैण्ट हैलेना में बन्दी बना, जर्मनी का हर हिटलर जो विश्व को हिला देने की शक्ति रखता था, एक कायर की भांति आत्म-हत्या करने को बाध्य हुआ, ब्रिटिश राज्य एवं इङ्गलैंड के राज्य सिंहासन का अधिकारी अष्टम् एडवर्ड ड्यूक ऑव विण्डसर बन गया। यदि वह अपनी प्रेमिका सिम्सन के पीछे गद्दी का त्याग न करता, तो उसका अनुज क्योंकर अष्टमजार्ज बनकर इङ्गलैंड के राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हो सकता था? इस सिक्के की दूसरी पीठ भी है। इङ्गलैंड के भूतपूर्व मन्त्री स्व० रैमजे मैकडौनल्ड, रूस के वर्त्तमान सर्वेसर्वा स्टालिन तथा चीन के वर्त्तमान अध्यक्ष माउत्सेतुंग पहिले एक साधारण व्यक्ति थे। समय के फेर से आज उन्नति के चरम शिखर पर विराजमान हैं। इसी प्रकार पूज्य बापू पहिले एक

साधारण वकील थे। गुजरात के एक साधारण परिवार में जन्म लेने वाले मोहनदास कर्मचन्द गांधी महात्मागांधी बनकर भारतीय जनता के श्रद्धेय बने और फिर विश्व वन्द्य पूज्य बापू बन गए। जिन मिस्टर गांधी को अंग्रेज लोग बार बार कारागृह में डाल देते थे, उन्हीं महात्मा गांधी की समाधि पर अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करके बड़े से बड़ा अंग्रेज आज अपने आपको कृतकृत्य समझता है। जिन कांग्रेस वालों को अंग्रेज गुण्डा कहा करते थे, कालान्तर में वे उन्हीं को राज्य सत्ता सौंपने को बाध्य हुए और आज दिन उनके साथ मित्रता करने में वे अपना सौभाग्य समझते हैं। आप ध्यान-पूर्वक देखिए आपको अपने नगर अथवा गाँव में ही ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण मिल जाएंगे जो कल तक उपेक्षणीय थे और आज आदर के पात्र हैं अथवा कल तक जनता जिनका जय जयकार बोलती थी, उन्हीं को जन साधारण आज तिरस्कार एवं उपहास की दृष्टि से देखता है।

अब जाति को ले लीजिये। प्राचीन काल में हिन्दू अथवा आर्य जाति की यश-चन्द्रिका समस्त विश्व में फैली हुई थी, उसकी विजय-वैजयन्ती सबसे ऊपर लहराती थी, उसका ज्ञान-मार्त्तण्ड समस्त भू-मण्डल को आलोक प्रदान करता था, वह विश्व की सबसे अधिक सम्पन्न एवं सुखी जाति थी, वह विद्या-बुद्धि, साहित्य-संगीत, कला-कौशल किसी भी क्षेत्र में अपनी सानी नहीं रखती थी। परन्तु समय ने पल्टा खाया और वह स्थिति उत्पन्न हो गई कि उसे सभ्य समझे जाने में भी लोक को सन्देह होने लगा। जिसकी मिट्टी में खेलकर एक नहीं अगणित महात्मा एवं दार्शनिक उत्पन्न हुए थे, वहीं के निवासी असभ्य और जङ्गली की उपाधि से विभूषित किए गए। समस्त विश्व की सिरताज हिन्दू जाति बात पीछे विदेशियों का मुंह ताकने लगी। वीरप्रसूता भारतमाता कुलियों की माँ कही जाने लगी। राम, कृष्ण, भीष्म, अर्जुन, भीम आदि के वंशज हम हिन्दू कायर, डरपोक और निकम्मे बन गये। इस जाति का अतीत जितना समुज्ज्वल था, भविष्य उतना ही अन्धकार-मय बन गया।

'जितना छानो उतना किरकिरा निकले' वाली लोकोक्ति हिन्दू-जाति पर अक्षरशः लागू होती है। आप इसकी उपजातियों को देखिये।

ब्रह्म-विद्या के पारंगत पारदर्शी विद्वान ब्राह्मण मूर्ख और पाखण्डी बन गये हैं। अपनी आन पर, अपनी शान पर, अपने पूर्वजों के नाम पर मर मिटने वाले क्षत्रिय वीर अपनी इज़्ज़त का सौदा करते देखे जा सकते हैं। देश के भरण-पोषण के उत्तरदायी वैश्य आज चोर बाज़ारी द्वारा अपने भाइयों के शोषण में संलग्न हैं, तथा समाज के सेवक शूद्र आज अपने उत्तरदायित्व को विस्मृत करके न मालूम किस फेर में पड़ गये हैं। प्रजा का अपने बालक के समान पालन करने वाले शासक आज उस पर भांति-भांति के अत्याचार करने लगे हैं। सारांश यह है कि रक्षक अब भक्षक बन गए हैं।

अन्य जातियों का इतिहास भी इसी प्रकार है। जो पहिले सभ्य थीं, वहाँ आज सभ्यता का ह्रास है और जो पहिले असभ्य थीं, वहाँ आज सभ्यता का प्रसार हो रहा है। यही हाल राष्ट्र अथवा देशों का है। प्राचीन-काल में रोम, यूनान, मिस्र, चीन, तथा भारत विश्व के अग्रणी थे, परन्तु आज बहुत पीछे हैं। एक समय था, जब रोम और यूनान का लोहा समस्त विश्व मानता था। उनकी सभ्यता, रीति-नीति, ज्ञान-विज्ञान, शासन-पद्धति आदि का संसार भर में आदर एवं प्रभुत्व था। यूनान ने सुकरात, प्लेटो आदि जैसी अमर विभूतियों को जन्म दिया। ये विभूतियाँ किसी भी देश के लिए गर्व की वस्तु हो सकती हैं। परन्तु आज इन देशों की कोई गिनती नहीं रह गई है। चीन और मिस्र की कथा सर्वविदित है ही। कुछ दिनों पहिले तक इन देशों की भी संसार उपेक्षा करता था। आज ये देश पुनः उन्नति के पथ पर अग्रसर हैं।

कुछ ही वर्षों पहिले तक जर्मनी तथा जापान की सारे संसार में तूती बोलती थी। परन्तु आज उन पर विदेशी शासकों का अधिकार है।

इङ्गलैंड का इतिहास भी इसी तरह उत्थान-पतन की राम-कहानी है। शुरू-शुरू में इंगलैंड एक साधारण देश था। वहाँ के कुछेक निवासी भारतवर्ष में व्यौपार करने आए थे। इन्हें यहाँ फिरंगी कहा जाता था। धीरे-धीरे उनका इस देश पर राज्य हो गया और वे अंग्रेज बहादुर कहे जाने लगे। इतना ही नहीं, इंगलैंड का लगभग आधे विश्व पर साम्राज्य

स्थापित हो गया और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि उनके साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त न होता था—उनका साम्राज्य इतना अधिक विस्तृत था कि प्रत्येक क्षण उसमें कहीं न कहीं सूर्य के दर्शन होते ही रहते थे। समय के फेर से आज दिन इंगलैंड का राज्य नाम-मात्र को रह गया है, उसके अधीन लगभग समस्त देश अब स्वतन्त्र हो गये हैं। धन, वैभव तथा ऐशोआराम में लोट लगाने वाला इंगलैंड आज राशन और कण्ट्रोल के सहारे किसी प्रकार अपने निवासियों का पेट भरने में प्रयत्नशील है।

एक दिन वह था, जब अमरीका पर इंगलैंड का राज्य था। आज अमरीका वाले स्वतन्त्र ही नहीं, अपितु इंगलैंड को अपना आर्थिक दास बनाए हुए हैं। अमरीका की आर्थिक सहायता आज इंगलैंड के जीवन-मरण का प्रश्न बन गयी है। जिस चीन देश पर जापान जैसा छोटा सा देश राज्य करने का स्वप्न देख सकता था, उसी चीन से अमरीका, इंगलैंड आदि देशों को सामूहिक रूप से भी उलझते हुए डर लगने लगा है। यही है समय की परिवर्त्तनशीलता अथवा काल की करामात। इसको लक्ष्य करके किसीने ठीक ही कहा है कि—

"राई को पर्वत करे, पर्वत राई माँहि।"

भारतवर्ष का इतिहास तो हमें भली भाँति विदित है ही। वैदिक-काल अथवा मध्यकाल के भारतवर्ष में और आज के भारतवर्ष में आकाश पाताल का अन्तर हो गया है। उन दिनों अन्य देश भारतवर्ष का अनुकरण करते थे, अब यह देश अन्य देशों के अन्धानुकरण में संलग्न हो गया। कुछ वर्षों पूर्व तक तो हमारे देश में विदेशी भाषा, विदेशी पोशाक, विदेशी रहन-सहन, विदेशी शिक्षा, विदेशी शासन तथा अन्य अनेक विदेशी प्रवृत्तियों का बोलबाला था। भारतवर्ष की ऐसी शोचनीय दशा को देख-कर भावुक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की आत्मा चीत्कार कर उठी। उन्होंने 'भारत दुर्दशा' नामक नाटक में अपने व्यथित हृदय के उद्गार इस प्रकार

प्रकट किए थे —

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई॥
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

देश का सौभाग्य है कि वह अब स्वतन्त्र है और हमारे नेतागण भारतीय रहन-सहन तथा भारतीय भाषा के प्रचार में संलग्न हैं। वे भारतीय संस्कृति पर भी बल देने लगे हैं तथा देश की शिक्षा-पद्धति को भी भारतीय परम्पराओं के अनुकूल ढालने की बात सोच रहे हैं। देश की सर्वतोमुखी उन्नति करने के लिए पंचवर्षीय योजना बनादी गई है। हमें आशा है कि भारतवर्ष का भविष्य सब प्रकार से समुज्ज्वल है।

अब हम अपनी दृष्टि को अधिक व्यापक बनाकर विश्व-स्थिति पर सामूहिक रूप से विचार करते हैं। कुछ वर्षों पूर्व हमारी सीमाएँ अत्यन्त संकुचित थीं, आज दिन वे विस्तीर्ण होकर विश्व-व्यापी होगई हैं। पहिले अन्य देशों की यात्रा एक असम्भव-सी वस्तु थी, आज विज्ञान के चमत्कारों के कारण समस्त विश्व घर-आँगन बन गया है। वर्षों के कार्य दिनों में और दिनों के कार्य सैकिण्डों में होने लगे हैं।

पहिले आध्यात्मिकता को सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतीक माना जाता था, आज भौतिकता, सांसारिक वैभव हमारी प्रगति एवं उन्नति की द्योतिका बन गई है। पहले मानव जीवन की सार्थकता त्याग, दान और संयम में थी, अब संग्रह, स्वार्थपरता एवं भोग-विलास हमारे जीवन के चरम लक्ष्य बन गए हैं। पहिले थोड़ा सा धन होते हुए भी हम सुखी थे, अब विपुल धनराशि के बीच रहते हुये भी कातर बने रहते थे। इस विपर्यय का एक कारण है हमारे दृष्टिकोण एवं हमारे मापदण्डों में आमूल परि-

वर्त्तन हो गया है। स्वार्थपरता के कारण हमारी आँखों पर एक परदा-सा पड़ जाता है और हमारी आँखें द्वेष, तथा ईर्ष्या का चश्मा लगाकर ही प्रत्येक वस्तु को देख पाती हैं। विश्व में फैले हुये भौतिकवाद के परिणाम स्वरूप विश्व-व्यापी दो महायुद्ध हो चुके हैं और तीसरे की तैयारी है। हर्ष का विषय है कि अनेक समझदार लोग इस ओर गम्भीरता पूर्वक विचार करने लगे हैं और उन्होंने भौतिकवाद के ताण्डव नृत्य के विरोध में आवाज भी उठाई है। सम्भव है कि तृतीय महायुद्ध के पश्चात विभिन्न देशों के कर्णधार देश-प्रेम के स्थान पर विश्व-प्रेम का पाठ पढ़ाने की बात सोचने लगें। तब तो निश्चय ही विश्व का भविष्य उज्ज्वल है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि समय के फेर का ही नाम सृष्टि-चक्र है। समय परिवर्त्तनशील है। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि "सबै दिन जात न एक समान" तथा सारी सृष्टि समय के नियन्त्रण में रह कर नित्य नये रङ्ग बदला करती है। समय के फेर से जिस प्रकार जवानी और बुढ़ापा आते, दिन-रात होते, ज्वार-भाटे आते, सर्दी-गर्मी-बरसात आदि मौसम आते, वसन्त और पतझड़ के दर्शन होते तथा शुक्ल पक्ष की चन्द्रिका लोक को शीतलता प्रदान करती है और कृष्ण पक्ष की सूचिका भेद अंधेरी आती है, उसी प्रकार देशों में क्रान्ति की लहरें उठतीं तथा विश्व-व्यापी महायुद्ध छिड़ जाते हैं। समय ही उत्पत्ति है, समय ही विनाश, समय ही उत्थान है, समय ही पतन। भारतवर्ष के आर्ष ऋषियों ने परिवर्त्तनशील समय के तीन रूप—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—निर्धारित किये हैं। सारांश यह है कि परिवर्तन सृष्टि में सर्वत्र और सर्वदा पाया जाता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, जाति, देश आदिक किसी की भी दशा सदैव समान नहीं रहती है। समय की इसी गति, दिनों की इसी असमानता के धूपछाँह में रहकर मानव उन्नति करता आया है और आगे भी करता जाएगा। परिवर्तन ही उन्नति है।

भारतवर्ष का बीमा-व्यवसाय और उसका संक्षिप्त इतिहास

रूप-रेखा

(१) बीमा-व्यवसाय क्या है ?
(२) बीमा-व्यवसाय के अनिवार्य तत्त्व
(३) बीमा-व्यवसाय का इतिहास ।
(४) उपसंहार—भारतवर्ष में बीमा व्यवसाय का भविष्य ।

क—बीमा व्यवसाय क्या है ?

भारतवर्ष में बीमा व्यवसाय के बीज ईसा की बीं शती में भली प्रकार जम चुके थे। जिस समय भारतवर्ष और बेबीलोन के बीच जल और थल दोनों ही मार्गों द्वारा व्यौपार होता था, उन दिनों यहां बीमा वाली प्रथा प्रचलित थी और इसका क्षेत्र समुद्र में डूब जाने तथा मार्ग में डाकुओं द्वारा सामान लूट लिये जाने से होने वाली क्षति को किसी हद तक पूरा करने तक ही सीमित था। उस समय न तो यह व्यवसाय इतना वैज्ञानिक ही था, और न उस समय जीवन-बीमा की ही चर्चा थी।

वर्त्तमान बीमा व्यवसाय पाश्चात्य देन है। भारतवर्ष के बीमा व्यवसाय का इतिहास राष्ट्रिय आन्दोलन का इतिहास है। यदि आप भारतवर्ष की बीमा कम्पनियों के संस्थापन काल का अध्ययन करें, तो स्पष्ट विदित हो जायगा कि अधिकांश बीमा कम्पनियां निम्न कालों में स्थापित हुई हैं। १. सन् १८७० के आसपास, २. सन् १९१२ के आसपास तथा सन् १९३१ के आसपास। कहना न होगा कि तीनों बार राष्ट्रिय आन्दोलन की लहर ने एक विशेष ज़ोर पकड़ा था।

इतने सुदूर पूर्व में बीज जम जाने पर भी भारतवर्ष में बीमे का चलन इतना कम क्यों है, यह शङ्का उठना स्वाभाविक है। भारतवर्ष में बीमा व्यवसाय का प्रचार न हो सकने के मुख्यतया चार कारण ठहरते हैं। यथा—

१. यहां की सामूहिक परिवार व्यवस्था। कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य के योगक्षेम का भार अपने ऊपर समझता है। इस कारण अपने बाल बच्चों के लिए किसी प्रकार कीआर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता ही नहीं थी।

२. मुसलमानी शासन का प्रभाव। इस्लाम धर्म में रुपये से व्याज कमाना मना है। भारत का सुख-समृद्धि का समय मुगल शासन काल रहा है।

३. मृत्यु के पश्चात अपना कार्य करने वाली संस्था के प्रति भारत वासियों की अरुचि। मृत्यु की चर्चा हमारे समाज में वर्जित सी ही है।

४. देश में विनियोग के साधनों की कमी। भारतवर्ष में उद्योगीकरण तथा बड़े बड़े व्यावसायिक केन्द्रों का स्थापित होना अभी हाल की बात है।

अब जैसे जैसे उक्त कारण दूर होते जा रहे हैं; यह व्यवसाय बढ़ता जा रहा है।

बीमा दो प्रकार का होता है। १. जीवन सम्बन्धी तथा २. पूंजी एवं सम्पत्ति सम्बन्धी। भावी आर्थिक क्षति पूर्ति की व्यवस्था करना इसका मुख्य उद्देश्य है। भावी दुर्घटना के कुप्रभाव को किसी हद तक आर्थिक रूप से कम कर देने के प्रबन्ध का नाम ही बीमा है।

बीमा का साधारण सा नियम यह है कि बीमादार तालिका में छपी हुई दरों के अनुसार किश्तों के रूप में बीमा कम्पनियों को रुपया अदा करता रहता है और बीमा कम्पनियां एक निश्चित समय के बाद 'जीवन बीमा में' अथवा एक दुर्घटना घटित होने पर एक निश्चित धनराशि देने का वायदा करती है। दुर्घटना जीवन बीमा व अन्य बीमे सभी में लागू होती है। जीवन बीमे में दुर्घटना अभिप्राय अवधि के पूर्व बीमादार की मृत्यु हो जाने से है, तथा अन्य प्रकार के बीमों में इन दुर्घटनाओं के अनेक रूप हो सकते हैं। आग लगना, पानी में डूब जाना, सामान का टूट जाना आदि। आजकल फसल, बीमारी, बेकारी, चोरी, प्रसूति आदि अनेक प्रकार के बीमे होते हैं। मानव जीवन का शायद ही ऐसा कोई

महत्वपूर्ण अङ्ग हो जिसका बीमा न किया जाता हो। बीमा सम्बन्धी नियम शर्तें आदि बीमा-पत्र पर छपे रहते हैं। यह बीमा-पत्र ही बीमादार और बीमा कम्पनी के बीच की हुई प्रसंविदा Contract या प्रमाण पत्र है। यह बीमादार के पास रहता है।

बीमे के किश्तों की तालिकाओं आदि के निर्माण के मूल में सम्भावना सिद्धान्त Theory of probability है। घटनायें विशेष क्रम से घटित होती रहती है। History repeats itself इतिहास का विश्लेषणात्मक अध्ययन बताता है कि समय के एक विशेष क्रमानुसार विशेष परिस्थितियां उत्पन्न होती और विशेष घटनाएँ घटित होती रहती है। जन-जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा तथा उसके साथ घटित होने वाली दुर्घटनाओं के आंकड़े एकत्र करके बीमे की तालिकाये तैयार की जाती है। जीवन बीमा के प्रसंग में इन्हें मृत्यु संख्यक तालिकाएँ Mortality Tables कहते हैं और इन्हीं के आधार पर जीवन बीमा का व्यवसाय का इतना बड़ा प्रासाद समाधारित है। गेफार्ट Gephart के शब्दों में हम कह सकते है कि जीवन बीमा उन लोगों की पारस्परिक प्रसंविदा है जो मृत्यु से डरकर वैयक्तिक अनियमितता निवारण करने के लिए सामूहिक नियमितता को बरतते हैं।

बीमे की किश्तों का निर्धारण एक कठिन कार्य है। यह काम बीमा गणित के विशेषज्ञों Actuaries द्वारा कराया जाता है। किश्तों में जोखिम के अतिरिक्त अर्जित व्याज तथा कम्पनी के हिस्सेदारों और बीमादारों को देने के लिए लाभांश की भी व्यवस्था करनी पड़ती है। इनके अतिरिक्त कार्यालय के कर्मचारियों का वेतन, एजेन्टों के कमीशन डाक्टर की फीस, डाइरेक्टरों की फीस, स्टेशनरी आदि के व्यय भी इसी आमदनी में करने पड़ते हैं। दावों के भुगतान के लिए सुरक्षित कोष Reserve or life fund की भी व्यवस्था करनी पड़ती है, जो कम्पनी के व्यवसाय एवं कार्याक के अनुरूप ही बढ़ता जाता है। बड़ी बड़ी कम्पनियों की सुरक्षित धनराशि करोड़ों रुपयों तक पहुँच चुकी है।

मृत्यु संख्या-दर तथा व्याज की दर ध्यान में रखकर जो किश्त

की दर निर्धारित की जाती है वह शुद्ध प्रीमियम Natural premium कही जाती है। यह शुद्ध प्रीमियम सिद्धान्तः सब प्रकार के दावों के निपटारों के लिये पर्याप्त होती है। इन दावों में कम्पनी के सभी प्रकार के दायित्व (जीवनकाल के, मृत्युपरान्त, समर्पण मूल्य) आजाते हैं। शुद्ध प्रीमियम पर्याप्त तभी होगा जब प्रयुक्त मृत्यु संख्यक तालिका में दिये गये अनुमान के आधार पर ही मृत्युएँ होती चलें तथा उसी दर पर व्याज की प्राप्ति होती रहे जो प्रीमियम निर्धारण के समय आंकी गई थी। साथ ही यह भी आवश्यक है कि समस्त किश्तों की रकम समय से आती रहे तथा उसका अविलम्ब विनियोग होता चले।

इस शुद्ध किश्त में व्यावसायिक व्यय अथवा अन्यान्य सम्भाव्य व्यय के निमित्त तथा लाभ के लिए कुछ भी नहीं जोड़ा जाता है। इसी जोड़े जाने को तो हमने लादना Loading कहा है। किश्तों की दरों की तालिका बनाने का तरीका यह है कि पहिले तो मृत्यु-संख्या तथा व्याज की दर को ध्यान में रखकर शुद्ध प्रीमियम का आगणन करा लिया जाता है और तत्पश्चात् अन्य खर्चों के लिए उसमें कुछ जोड़कर लादने की प्रक्रिया करके सकल किश्त Gross premium का निर्माण किया जाता है। सकल किश्त को कार्यालय की किश्त office premium भी कहते हैं और इसी दर की किश्तें बीमादारों से वसूल की जाती हैं।

बीमा व्यवसाय इतना वैज्ञानिक व्यवसाय होते हुए भी जनता में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न नहीं कर सका, इसका एक विशेष कारण है। दुर्व्यवस्था के कारण अनेक बीमा कम्पनियाँ फेल हो गईं और लोगों का रुपया मारा गया। यही कारण है कि साधारणतया लोग बीमा-कम्पनी के नाम से चौंकते हैं।

हालांकि भारत सरकार पिछली चालीस वर्षों से, बीमा कम्पनियों की देख भाल कर रही है, परन्तु घटना चक्र ही कुछ इस प्रकार चला है कि सरकार वांच्छित नियन्त्रण करने में असफल रही। भारतवर्ष के बीमा व्यवसाय और बीमा विधान का क्रम इस प्रकार ठहरता है।

१. सन् १९०० में स्वदेशी की मांग के कारण बहुत-सी भारतीय बीमा कम्पनियों का जन्म तथा स्थापित होने के थोड़े ही समय बाद उनकी अकाल मृत्यु।

२. इसको (सख्या शुद्धी) रोक थाम के लिए सन् १९१२ के बीमा कानून का बनना।

३. सन् १९१४ में महायुद्ध का छिड़ जाना। सन् १९३०—३१ में फिर स्वदेशी का आन्दोलन तथा क्रम संख्या १ वाले क्रम की पुनरावृत्ति अर्थात् भारतीय नई बीमा कंपनियों का जन्म तथा उनकी मृत्यु।

४. स्वदेशी के आन्दोलन के ६ वर्ष बाद सन् १९३८ वाले बीमा विधान का निर्माण।

५. सन् १९३९ में विश्व महायुद्ध का श्री गणेश।

६. सन् १९५० में फिर से बीमा-विधान का निर्माण।

कहना अप्रासंगिक न होगा कि महायुद्ध-काल में अन्य नियमों की भांति बीमा कानून भी निस्तेज पड़ गया। इस प्रकार पिछली दो बार जब-जब बीमा विधान सफल रूप से व्यवहार में लाने की योजना तैयार की गई तब-तब महायुद्ध छिड़ जाने से उस पर भारी आघात पहुँचा और उसका प्रभाव मन्द पड़ गया। संयोग की बात है कि अब फिर क्षितिज पर युद्ध के बादल मंडराने लगे हैं।

सन् १९५० वाला बीमा कानून बहुत सोच विचार के बाद बनाया गया है और उसे कड़ाई के साथ कार्यान्वित करने के लिए बीमा व्यवसाय कन्ट्रोलर Controller of Insurance को विपुल अधिकार दे दिये गये हैं।

ख—जीवन बीमा के मूल सिद्धान्त

"जीवन बीमा" का साधारण सा नियम यह है कि बीमादार तालिका में छपी हुई दरों के अनुसार किश्तों के रूप में बीमा कम्पनियों

को रुपया अदा करता रहता है और बीमा कम्पनियाँ एक निश्चित समय पर एक निश्चित धनराशि देने का वायदा करती हैं। यह धन राशि अवधि के बाद स्वयं बीमादार अथवा मृत्यु होने पर (जो भी पहिले हो) उसके उत्तराधिकारी को मिल जाती है। बीमे,सम्बन्धी नियम, शर्तें आदि बीमा-पत्र पर ही छपी रहती हैं। बीमेदार के पास सिर्फ यह बीमा पत्र ही रहता है, जिसे हम बीमेदार एवं बीमा कम्पनी के बीच की गई प्रसंविदा Contract का प्रमाण पत्र कह सकते हैं।

बीमा-पत्र की प्रायः मुख्य शर्तें यह होती है 'अमुक धन अमुक अवधि के बाद अथवा मृत्यु होने पर, यदि वह पहिले होजाय, दिया जावेगा।" इसका अर्थ यह हुआ कि जीवन बीमा करते समय हमें सदैव ही मृत्यु का ध्यान रखना पड़ता है।

मृत्यु अनिवार्य है, परन्तु फिर भी कोई भी व्यक्ति उसके समय के बारे में कुछ नहीं कह सकता। जीवन का बीमा कराते समय मृत्यु-काल की इसी अनिश्चितता को ध्यान में रखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। मृत्यु संख्यक तालिकाओं की सहायता से मृत्यु काल का अनुमान लगाना जीवन बीमा की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

ये मृत्यु संख्यक तालिकाएँ क्या हैं और ये कैसे तैयार की जाती हैं? इस विषय को तनिक स्पष्ट करना आवश्यक है। हम यह तो जानते ही हैं कि समय का चक्र सदा चलता रहता है। इसका साधारण अर्थ यह है कि थोड़े से फेर के साथ वे ही घटनायें घूम फिर कर घटित होती रहती हैं। अंग्रेजी की History repeats itself कहावत का भी लगभग यही अर्थ है। यदि हम एक निश्चित समय तक किन्हीं विशेष घटनाओं को ध्यानपूर्वक देखें, तो हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जायेंगे कि समय के एक विशेष क्रम से विशेष परिस्थितियां उत्पन्न होतीं तथा विशेष घटनायें घटती हैं। इसे हम एक उदाहरण देकर समझाते हैं। संसार में जब समृद्धि होती है, तब विभिन्न राष्ट्र शस्त्र आदि इकट्ठे होते तथा युद्ध की तैयारियाँ होती हैं। फिर युद्ध प्रारम्भ होता तथा तत्पश्चात संसार की आर्थिक

स्था बिगड़ती है। फलस्वरूप मंहगाई, बेकारी, लूटमार आदि विषमताओं का प्राधान्य होता है। अतः जिस किसी भी व्यक्ति ने संसार के इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पढ़ा है, वह सहज ही बता सकता है कि अमुक समय में संसार की आर्थिक व्यवस्था क्या होगी। इसी प्रकार हम आमों की फसल को लेते हैं। इस सम्बन्ध में साधारण नियम यह है कि आम की फसल एक वर्ष अच्छी होती है और एक बर्ष साधारण। हो सकता है कि कभी किन्हीं विशेष कारणोंवश इस क्रम का निर्वाह न हो सके, परन्तु अनुभव बताता है कि प्राचीन घटनाओं के आधार पर ही हम भविष्य की बात सोचते, उसके विषय में कार्यक्रम बनाते, तथा एक प्रकार से भविष्य-वाणी भी करते है। यदि ऐसा न हो तो हमारे जीवन का कोई भी भावी कार्यक्रम बन ही न सके। हमारे जीवन में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक सब जगह घटनाओं के क्रम को ध्यान में रखकर सब काम होते हैं। राज-नीतिज्ञ सोचते हैं कि अमुक समय में युद्ध छिड़ेगा, अर्थशास्त्री विचारते हैं कि अमुक समय में धन की अमुक दशा होगी। डाक्टर सोचते हैं कि अमुक बीमारी महामारी Epidemic फैलेगी। कहने का अभिप्राय यह है कि भावी सम्भावनायें ही संसार चक्र की धुरी Pivot हैं। सबका एक ही बीज तत्त्व है। अमुक परिस्थितियों में भविष्य की घटनायें भूतकाल की घटनाओं के ही अनुरूप होंगी।

बीमा व्यवसाय भी इसी नियम से शासित है। अतः जीवन बीमा का एक मुख्य तत्त्व है मृत्यु सम्भावना Probability of death।

संभावना तत्त्व पर विचार करने के लिये हमें विभिन्न घटनाओं का अध्ययन करना पड़ता है, जिसके लिये दो बातें आवश्यक है।

(अ) हम पर्याप्त संख्या को लें।

(ब) हमारे समस्त निरीक्षण एक निश्चित क्रम में एक निश्चित अवधि के हों।

अब हम मृत्यु संख्यक तालिकाओं के निर्माण को लेते हैं। विभिन्न व्यवसाय, विभिन्न वर्ग, तथा विभिन्न आयु के व्यक्तियों के जीवन का एक निश्चित समय तक मान लीजिये २०• वर्ष तक निरीक्षण कीजिये। सहज ही

समझ में आजावेगा कि अमुक वर्ग का अमुक आयु के व्यक्ति की अमुक समय तक जीवित रहने की संभावना है। कभी कभी असाधारण परिस्थितियां भी उत्पन्न हो जाती है, परन्तु असाधारणतायें स्वयं आपस में इस प्रकार सन्तुलित हो जाती है कि उनका औसत अनुमानित सम्भावना के अनुसार ही बैठता है। बस जीवन बीमा का भी यही मूल सिद्धांत है। अनुमान से पहले मर जाने वाले व्यक्तियों के उत्तराधिकारियों को दिये जाने वाले धन की कमी उन लोगों की किश्तों से पूरी हो जाती है जो लोग अधिक समय तक जीवित रहते है। अल्पायु एवं दीर्घायु का औसत "समान आय" ही बैठता है।

इन मृत्यु संख्यक तालिकाओं के बनाते समय हम व्यक्तियों के व्यवसाय, रहन-सहन, जलवायु, रोग आदि का विचार तो करते ही हैं, साथ ही दुर्बल एवं रोगी व्यक्तियों को छोड़ देते हैं। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे। इन लोगों का बीमा करते समय "अतिरिक्त किश्तें" ली जाती हैं। अतः गेफार्ट Gephart के शब्दों में हम कह सकते हैं कि जीवन बीमा उन लोगों की पारस्परिक प्रसंविदा है, जो मृत्यु से डर कर वैयक्तिक अनियमता निवारण करने के लिये सामूहिक नियमता को बरतते हैं।

यदि हम किसी मृत्यु तालिका को ध्यान पूर्वक देखें तो विदित होगा कि आयु के साथ मृत्यु सम्भावना बढ़ जाती है। यानी ज्यों ज्यों मनुष्य की अवस्था बढ़ती जाती है, त्यों त्यों उसमें जीवित रहने का काल कम होता जाता है। प्रत्येक क्षण मनुष्य का जीवन क्षीण होता जाता है। यही कारण है कि आयु के साथ किश्तों की दरें भी बढ़ती जाती हैं।

मान लीजिये हम केवल एक वर्ष की जोखिम लेते हैं इसवर्ष की जोखिम के लिये प्रत्येक आयु के व्यक्ति से ली जाने वाली किश्तें भिन्नहोती है अवस्थानुसार किश्त की इस दर को हम प्राकृतिक किश्त Natural Premium कहते हैं माना कि ३५ वर्ष की आयु वालों के लिये एक वर्ष का बीमा कराने की दर २५ रु० ४ आ० है और १००० व्यक्ति बीमा कराते हैं, तो किश्त के कुल २५२५० रु० आए। इस धन राशि में से हम २५ व्यक्तियों

को बीमे के एक एक हजार रुपये दे सकते हैं। हमारी तालिका के अनुसार इस वर्ष में २५ आदमियों के (३५ वर्ष वाले) मरने की सम्भावना है। इस उदाहरण में मृत्यु संख्या २.५२५ प्रतिशत हुई। अब ४० वर्ष की आयु को लेते हैं, तो मृत्यु प्रतिशत बढ़ जायेगी। मान लीजिये यह दिखाई गई है। ३.५ प्र० श० तो ४० वर्ष की आयु पर एक वर्ष का १००० रु० का बीमा कराने की किश्त हुई ३५ रु० किसी भी प्रामाणिक मृत्यु तालिका को देखकर उक्त विषय का व्यावहारिक रूप भली प्रकार समझा जा सकता है।

स्वाभाविक किश्त Natural Premium की दर प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है। इसके अर्थ यह हुए कि वृद्धावस्था में, जबकि मनुष्य के अवयव ढीले पड़ जाते हैं तथा मनुष्य आराम चाहता है, यह बढ़ती हुई किश्त देना सम्भव न हो सकेगा। इसके अनुसार बीमे का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो-जाये। अवकाश ग्रहण करने के साथ साथ किसी से यह आशा करना कि वह बढ़ी हुई किश्तें देता रहेगा, एक दुराशा मात्र है। उपरोक्त योजना के अन्तर्गत केवल कम उम्र के स्वस्थ मनुष्य ही लाभ उठा सकते हैं। और 'दुर्घटना के प्रति व्यवस्था" वाला बीमा-सिद्धान्त सर्वथा उपेक्षित ही रह जाता है। इसी कठिनाई को ध्यान में रखकर आजकल समान किश्तें Level Premiums ली जाती हैं। इस योजना के अनुसार जीवन भर अथवा बीमे की पूरी अवधि तक एक ही दर से किश्तें देनी होती हैं। अगर हम जीवन भर की स्वाभाविक किश्तों को जोड़ लें, उस कुल धन-राशि को उक्त समय को प्रत्येक वर्ष में बराबर बराबर बांट लें तो उस समान रूप से विभाजित किश्त का वर्तमान मूल्य (Present value) ही समान किश्त (Level Premium) होती है। The level premium is simply the present value of the natural premiums distributed into equalised annual instalments throughout the whole duration.

यह समतल किश्त Level premium प्रारम्भिक अवस्था में अपेक्षाकृत कुछ अधिक तथा बाद की जोखिम लेने की दृष्टि से अपेक्षाकृत कम होती है। जोखिम के लिए आवश्यक धन, व्यय तथा लाभ आदि को

छोड़कर जो धन बच रहता है, उसे अलग जमा कर दिया जाता है। अलग से रखी हुई इस धनराशि का नाम सुरक्षित धन Life or Reserve Fund कहते हैं। बीमा प्राप्त करते समय एजेण्टों के कमीशन, डाक्टरी फीस, बीमापत्र जारी करने आदि का व्यय इतना अधिक होता है कि प्रथम वर्ष की पूरी किश्त समाप्त हो जाती है। और "प्रथम वर्ष" की किश्तों की आय का सुरक्षित धन Life Fund कुछ नहीं होता।

संक्षेप में सुरक्षित धन life Fund समतल किश्तों से स्वाभाविक किश्तों का आधिक्य है।

ज्यों ज्यों किसी बीमा कम्पनी का व्यवसाय बढ़ता जाता है, यह सुरक्षित धनराशि भी बढ़ती जाती है। अनेक बड़ी कम्पनियों में यह करोड़ों रुपयों तक पहुँच गयी है। इसके द्वारा ब्याज आदि के रूप में सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है। इस प्रकार बीमा व्यवसाय का यह दूसरा तत्त्व हमारे सामने आ जाता है। इस सुरक्षित धन को लगाने में बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है। किश्तों की दरें निर्धारित करते समय सुरक्षित धन द्वारा अर्जित आय भी ध्यान में रखनी पड़ती है। किश्तों की दरें जितनी ही कम होंगी बीमादारों का उतना ही अधिक हित साधन हो सकेगा।

बीमा व्यवसाय करने के लिये भी कुछ धन उठा कर रख दिया जाय। इसके अतिरिक्त बीमेदारों व हिस्सेदारों को लाभांश Bonus भी देना पड़ता है। इसके लिए किश्तों की समतल दरें कुछ अधिक करनी पड़ती हैं। इसे हम लादना Loading कहते हैं। इस लादने Loading द्वारा एजेण्टों आदि के कमीशन अन्य व्यय तथा लाभांश की भी व्यवस्था की जाती है। परिणाम स्वरूप आजकल की समान किश्तों की दरें अनुमानित किश्तों से लगभग २५ प्र० श० अधिक होती हैं. हमारे उक्त कथन का सारांश यह हुआ कि आजकल का बीमा व्यवसाय सिद्धान्ततः निम्नलिखित तीन तत्त्वों पर समाधारित है।

१. मृत्यु तालिकाओं एवं तदनुसार किश्त की दरें।
२. ब्याज की दर।
४. लादना।

इन तीनों तत्वों के समुचित मिश्रण द्वारा ही किश्त की दरें निर्धारित होती हैं। बीमेदार इन्हीं किश्तों को चुका कर अपना बीमा कराते हैं। इसके बदले में बीमा कम्पनियाँ निश्चित धनराशि को निश्चित समय पर मृत्यु अथवा एक विशेष अवधि के बाद चुकाने का ठेका लेती हैं। इस चुकाई जाने वाली धनराशि को प्रस्तावित धन Sum assured कहते हैं आजकल जीवन-बीमा-व्यवसाय का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है, तथा बीमेदारों की सुविधा के लिए एवं बीमा व्यवसाय का प्रचार करने के लिए बीमापत्र की शर्तें अत्यन्त उदार बना दी गई हैं। इस कारण यह आवश्यक है कि अच्छे जीवन छांटकर ही मृत्यु तालिकायें बनाई जायें। व्याज की दर निर्धारित करते समय पूरी सतर्कता बरती जाय तथा किश्तों को काफी लादा जाये।

जीवन बीमा का सबसे सरल स्वरूप है "आजीवन बीमा" यानी बीमादार उम्र भर किश्तें देता रहे, तथा मृत्यु पर्यन्त उसके उत्तराधिकारियों को प्रस्तावित धन (मय मुनाफे के) दे दिया जाये। परन्तु आजकल बन्दोबस्ती बीमा (Endowment Assurance) ही सबसे अधिक प्रचलित है। इस योजना के अन्तर्गत मृत्यु होने पर अथवा अवधि विशेष के बाद प्रस्तावित धन चुकाना होता है। बीमेदार को भी केवल प्रस्तावित अवधि तक ही किश्तें चुकानी पड़ती हैं। एक उदाहरण ले लीजिये। मान लीजिए कि मैं २० वर्ष के लिए १००० रु० का बन्दोबस्ती बीमा कराता हूँ। ऐसी हालत में मुझे अधिक से अधिक २० वर्षों तक ही किश्तें देनी हैं। यदि मैं २० वर्ष पूरी होने के पहले ही मर जाता हूँ तो मेरे उत्तराधिकारियों को १००० रु० मिल जायेंगे। और यदि २० वर्ष तक जीवित रहता हूँ, तो २० वर्ष तक लगातार किश्तें देने के बाद मुझे स्वयं को १००० रु० मिल जायेंगे। आर्थिक दृष्टि से बीमादार की शीघ्र मृत्यु से बीमा कम्पनी को हानि होती तथा बीमादार को लाभ होता है। बन्दोबस्ती बीमे की दरें निर्धारित करते समय आयु विशेष के व्यक्तियों की अनुमानित मृत्यु तिथि को ध्यान में रखना पड़ता है। वैसे बीमा कम्पनियों का हित इसी में है कि बीमेदार दीर्घजीवी हों तथा सदैव सम्पन्न एवं समृद्ध बने रहें। ताकि आजी-

वन किश्तें चुकाते रहें। यदि बीमा कराने वालों के दीर्घ जीवन पर बीमा कम्पनियों का विश्वास न हो तो यह व्यवसाय दो दिन भी न चल सके।

मृत्यु संख्यक तालिकाओं में भूतकालीन अनुभव से प्राप्त बीमादारों की अवस्था संख्या तथा विभिन्न अवस्था वर्ग के मृत बीमादारों की संख्या का उल्लेख रहता है। ये अनेक वर्षों के आधारों पर तैयार होती और इनमें लिखी हुई मृत्यु-दर इस बात का संकेत देती हैं कि भविष्य में मृत्यु-दर किस ढंग की रहेगी। यह निष्कर्ष सम्भाव्यता सिद्धान्त Theory of Probability पर आधारित रहता है।

मान लीजिए किसी बीमा कम्पनी का एक वर्ष का अनुभव निम्न-प्रकार है।

बीमादारों की अवस्था,	बीमादारों की संख्या,	वर्ष भर में मरने वाले बीमादारों की संख्या
१०	२५००	५
२०	२०००	५
२१	१६००	४
२२	१५००	३
२३	१२५०	६
२४	१०००	८
२५	२४००	२४
२६	८००	१२

उक्त अनुभव के आधार पर निम्नांकित मृत्यु संख्यक तालिका का निर्माण होगा।

अवस्था,	बीमादारों की संख्या,	मृत्यु की संख्या,	मृत्यु दर प्रति हजार।
२०	२५००	५	२
२१	२०००	५	२.५

२२	१६००	४	२·५
२३	१५००	३	२
२४	१२५०	६	४·८
२५	१०००	८	८
२६	२४००	२४	१०
२७	८००	१२	१५

इस प्रकार बहुत सी कम्पनियों के बहुत से वर्षों के सामूहिक अनुभव के आधार पर अधिक प्रामाणिक मृत्यु संख्यक तालिकाओं का निर्माण हो सकता है और होता है।

मृत्यु संख्या के आधार पर कम्पनी अपने भावी दायित्व का अनुमान लगाती है। ब्याज की दर के अनुसार कम्पनी बीमादारों से प्राप्त अग्रिम किश्त का विनियोग करके ब्याज अर्जित करने की आशा करती है, तथा शुद्ध किश्तों को लादने की क्रिया के द्वारा वह अपने व्यावसायिक व्यय की व्यवस्था करती है। ये व्यय कई प्रकार के होते हैं।

(अ) कार्य प्राप्त करने का (अथवा बीमा करने का) व्यय।

(ब) मुनाफा सहित बीमापत्रों के लिए लाभांश (Bonus) की व्ययवस्था।

(स) मृत्यु संख्या एवं अर्जित ब्याज की दर में सम्भाव्य अन्तर पड़ जाने की दशा में सम्यक आर्थिक व्यवस्था।

मृत्यु संख्या दर तथा ब्याज की दर ध्यान में रखकर जो किश्त की दर निर्धारित की जाती है वह शुद्ध प्रीमियम (Level premium) कही जाती है। यह शुद्ध प्रीमियम सिद्धान्तः सब प्रकार के दावों के निपटारे के लिए पर्याप्त होती है। इन दावों में सभी प्रकार के दायित्व, जीवनकाल के, मृत्योपरान्त समर्पण मूल्य आजाते हैं। शुद्ध प्रीमियम पर्याप्त तभी होगी जब प्रयुक्त मृत्यु संख्यक तालिका में दिये गये अनुमान के आधार पर ही मृत्युयें होती चलें तथा उसी दर पर ब्याज भी प्राप्त होता रहे जो प्रीमियम निर्धारण के समय आंकी गई थी। साथ ही यह भी आवश्यक है कि

समस्त किश्तों की रकम समय से आती रहे तथा उसका अविलम्ब विनियोग होता चले।

इस शुद्ध किश्त में व्यावसायिक व्यय अथवा अन्यान्य सम्भाव्य व्यय के निमित्त तथा लाभ के लिए कुछ भी नहीं जोड़ा जाता है। इसी जोड़े जाने को तो हमने लादना कहा है। किश्तों की दरों की तालिका बनाने का तरीका यह है कि पहिले तो मृत्यु संख्या तथा व्याज की दर को ध्यान में रखकर शुद्ध प्रीमियम का आगणन करा लिया जाता है और तत्पश्चात् अन्य खर्चों के लिए उसमें कुछ जोड़ कर लादने की प्रक्रिया करके सकल किश्त (Gross premium) का निर्माण किया जाता है। सकल किश्त को (Gross premium) अथवा कार्यालय की किश्त office-premium भी कहते हैं और इसी दर की किश्तें बीमादारों से वसूल की जाती है। प्रीमियम निर्धारण का कार्य बड़ा ही जटिल है। इसमें उच्च गणित का प्रयोग होता है। तथा यह बीमा गणित विज्ञान (Actuarial science) का एक अंग है। इसके लिए बीमा कम्पनियां बीमा गणितज्ञों को नियुक्त करती तथा काफी फीस देकर उनसे यह काम कराती है।

(ग)

भारतवर्ष में किए गये बीमा व्यवसाय का इतिहास

भारतवर्ष में किये गए बीमा व्यवसाय के इतिहास को निम्न प्रकार अध्ययन किया जा सकता है—

(१) सन् १८७० तक की प्रारम्भिक अवस्था — इस समय के बारे में हमें कोई भी क्रमबद्ध लेखा नहीं मिलता है, इसके विषय में हमारा ज्ञान बहुत ही थोड़ा है।

२. १८७० से लेकर सन् १६०० तक का समय—यह समय इस देश में राष्ट्रिय आन्दोलन का था। इस समय चारों ओर स्वदेशी की पुकार गूँज रही थी। इस बीच में इस व्यवसाय ने कुछ उन्नति की और इसकी जड़ें जमीं।

३. सन् १६०१ से लेकर सन् १६१२ तक का समय—यह समय इस देश में राष्ट्रिय आन्दोलन का था। इस समय चारों ओर स्वदेशी की गूंज हो रही थी। इस लहर से बीमा व्यवसाय भी अछूता न बचा। और स्वदेशी के नाम पर छोटी बड़ी अनेक कम्पनियां उठ खड़ी हुईं। उनमें से बहुत सी कम्पनियां फेल भी हो गईं। इनकी असफलता के कारण उनका कुप्रबन्ध एवं द्रव्य की कमी ही था। अन्त में जाकर सन् १६१२ वाला बीमा—कानून बना।

४. सन् १६१३ से लेकर सन् १६३० तक का समय—इस काल को हम प्रयोग का युग कह सकते हैं। बने हुए बीमा कानून के कारण इस काम को करने वालों ने यानी बीमा व्यवसाइयों ने खूब आगा पीछा सोच कर काम किया।

५. सन् १६३१ से लेकर आज दिन तक का समय—इसे हम वर्तमान युग कह सकते हैं। यहां पर विशेष ध्यान देने की बात है कि सन् १६३१ में फिर से स्वदेशी की लहर इस देश में दौड़ी थी। उसी के नाम पर फिर यहां अनेक नई बीमा कम्पनियां उठ खड़ी हुई थीं इन दो स्वदेशी आन्दोलनों के कारण ही इस देश के बीमा व्यवसाय को बहुत कुछ प्रोत्साहन मिला है और कई विदेशी कम्पनियों का प्रभाव कम हो सका था। इस आन्दोलन के समय स्थापित बीमा कम्पनियों में कई बीमा कम्पनियां आज दिन भी मौजूद हैं। और उन्नति कर चुकी हैं। अतः स्वतन्त्र भारत में इस व्यवसाय को एक नवीन जीवन देकर पूरे बल से चलाना हम सब का एक कर्त्तव्य हो जाता है।

जैसा हम देख चुके हैं, इस देश में किसी न किसी रूप में बीमे की प्रथा बहुत दिनों से चली आती थी। परन्तु उसका वर्तमान रूप हमें निश्चय

ही विदेशों से मिला है। बीमे का वर्तमान रूप निश्चय ही विदेशी देन है।

सन् १९१४ में सबसे पहिले यहां के बीमा व्यवसाय के इतिहास को एकबद्ध रूप से लिखना प्रारंभ होता है। सन् १९१४ से भारत सरकार ने बीमा कंपनियों का लेखा जोखा छापना आरंभ किया था। काम नया नया होने से इस प्रारंभिक लेखे के व्यौरे में अनेक त्रुटियां थीं। परन्तु बाद में क्रमशः उन्नति हो गई। आज के दिन भारत सरकार द्वारा छापी जाने वाली 'दी इण्डियन इन्श्योरेन्स ईयर बुक' उसी सन् १९१४ वाले लेखे जोखे का परिवर्द्धित एवं संशोधित रूप है बैलफोर्ड साहब द्वारा लिखी हुई ऐन्सा-इक्लोपीडिया में इसका संक्षिप्त वर्णन अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से दिया गया है।

शुरू शुरू में इस देश में केवल विलायती बीमा कम्पनियां ही बीमे का काम करती थीं। और प्रायः वे विदेशी लोगों और उनकी परम्परा में उत्पन्न भारत में रहने वाले विलायती साहबों का ही बीमा करती थीं। मृत्यु की तालिकायें (Mortality tables) ठीक तरह से न होने के कारण इनकी किश्तों की दरें बहुत अधिक थीं। विशेष कर भारतवासियों के लिए।

सन् १८८१ में 'सिटी आफ ग्लासगो' नामक विलायती बीमा कम्पनी ने कलकत्ते में अपनी एक शाखा स्थापित की। और सबसे पहिले हिन्दुस्तानियों का बीमा कराना आरम्भ किया विशेष बात यह थी कि इस कम्पनी में हिन्दुस्तानियों का भी बीमा उसी दर पर स्वीकार करना शुरू कर दिया था जिस दर पर वह विलायती लोगों का बीमा करती थी। यह काम इसने उसी दिन शुरू कर दिया था जिस दिन इसने कलकत्ते में अपना दफ्तर खोला था।

सन १८१८ में न्यू ओरियण्टल बीमा कम्पनी की स्थापना हुई। यह पहिली भारत बीमा कम्पनी थी। बस यहीं से भारतवर्ष में वैज्ञानिक ढंग पर आधुनिक बीमे का प्रादुर्भाव हुआ समझिये।

सन् १८१८ से लेकर सन् १८७० तक के इस ५० वर्ष के समय को हम प्रयोगावस्था का युग मान सकते हैं। इस बीच में अनेक कम्पनियां देशी

और विदेशी खुलीं और समाप्त हुई। वे या तो असफल होने के कारण फेल हो गईं। अथवा अन्य बड़ी कम्पनियों में मिलादी गई।

ठीक इसी समय इंगलेंड में भी बीमा व्यवसाय को उन्नत करने के विशेष प्रयत्न हुये थे। इस समय इगलैंड में भी छोटी बड़ी अनेक बीमा कम्पनियां खुलीं। उन्होंने बड़े ठाट बाट से दफ्तर खोले। सस्ती सस्ती एन्युटियां बेचीं और कालान्तर में विलीन हो गईं। इस समय इंगलैंड में एक प्रकार से बेईमानी का ही बोलबाला था। हर जगह धोकेबाजी का ही बाजार गर्म था। बीमा कम्पनियां भी कोई उपवाद न थी। तनिक ध्यान देने की बात है कि सन् १८२४ से लेकर १८६८ तक के इस छोटे से ४४ वर्ष के समय के ही बीच में इंगलैंड में २८५ बीमा कम्पनियां स्थापित हुईं। इनमें से सन् १८१० तक ११४ बीमा कंपनियों का अस्तित्व शेश नहीं रहा। वे गायब हो चुकी थीं। इन बीमा कम्पनियों के फेल होने के मुख्यतया दो कारण थे। एक तो इनका प्रबन्ध बहुत ही बुरा था दूसरे इनके खर्चे अनाप शनाप फिजूल थे इसके अलावा इनके फेल होने का दूसरा कारण यह था कि ये कंपनियां बिना सोचे समझे प्रत्येक व्यक्ति का बीमा कर लिया करती थीं।

कम्पनियों की इस दुर्गति एवं दुर्व्यवस्था के कारण लोगों में बीमा कम्पनियों के प्रति बड़ा भयंकर क्षोभ उत्पन्न हो गया था। अन्त में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने सन् १८७० में बीमा कानून बनाया, और इस व्यवसाय को सहारा दिया।

इस कानून के अनुसार (१) मोटे तौर पर बीमा कंपनियों की तमाम लागतों को आय कर (Income-tax) से बरी कर दिया गया।

(२) प्रत्येक बीमा कंपनी से एक्चुअरी द्वारा बनाई गई सालाना रिपोर्ट मांगी गई।

(३) बीमा कम्पनियों के लिए यह आवश्यक हुआ कि वे कुछ निश्चित रकम सरकार में जमा करें।

(४) अलग से एक जीवन-कोष (Life fund) रखने की व्यवस्था की गई ।

(५) बीमादारों के लिए यह सुविधा दी गई कि बीमा कम्पनी के प्रति किसी भी प्रकार का असन्तोष होने पर वे कानूनी कार्यवाही कर सकें । कानून उनकी रक्षा करेगा ।

इङ्गलैण्ड के बीमा इतिहास में यह एक अत्यन्त ही सुन्दर एवं प्रगतिवान कार्य हुआ । इससे जनता को सन्तोष हुआ और बीमा कम्पनियों के साथ विश्वास उत्पन्न हुआ । फलतः बीमा कम्पनियों को भी जनता का पूरा पूरा सहयोग मिलने लगा । परन्तु भारतवर्ष में इस तरह के कानून का सर्वथा अभाव ही था । जब कभी भी इसके लिए मांग की गई, तब वह ठुकरा दी गई । यह कहकर कि इन ग्रामीणों के जीवन सम्बन्धी व्यौरे उपलब्ध नहीं हैं ।

अब हम बीमा-इतिहास को प्रत्येक उत्थान का क्रमिक विवेचन करते हैं ।

हमने अभी तक जो कुछ देखा उसके आधार पर हम इतना तो कह ही सकते हैं कि बीमा व्यवसाय के प्रथम उत्थान का इतिहास उपलब्ध नहीं है । उसका क्रमबद्ध व्यौरा जानना कठिन ही है ।

बीमा-व्यवसाय का द्वतीय उत्थान-काल

हम अन्यत्र बता ही चुके हैं कि बीमा इतिहास के द्वतीय उत्थान वाले युग ही में हमारे यहाँ आधुनिक ढङ्ग पर बीमे का श्रीगणेश मानना चाहिये ।

सन् १८७१ ई० में बौम्बे म्युच्युअल बीमा कम्पनी की स्थापना हुई । उसके अलावा सन् १८७४ ई० में ओरीएन्टल बीमा कम्पनी की स्थापना हुईइस कम्पनी ने आरम्भ से ही अपने बीमेदारों की सुविधा तथा सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए अनेक उदार नियम बनाए । आज दिन यह हमारे देश की प्रमुख बीमा कम्पनी है

इसके बाद सन् १८६० ई० के आस-पास—दो चार वर्ष पहिले अथवा दो-चार वर्ष पीछे अन्य प्रान्तों में भी जैसे—बंगाल, पंजाब, मद्रास, संयुक्त प्रान्त में भी बीमा कम्पनियाँ स्थापित हुईं। परन्तु यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की यह है कि आरम्भ के लगभग १० वर्षों तक प्रायः सभी कम्पनियाँ म्युच्युअल कम्पनियाँ ही थीं और लगभग सब की सब बम्बई प्रान्त में ही स्थापित की गई थीं। इन बीमा कम्पनियों की कुछ निजी विशेषतायें थीं, वे उल्लेखनीय हैं। इनको लिखने से हमारा तात्पर्य उनके गुण दोष विवेचन नहीं है। ये उनके गुण समझे जायं अथवा अवगुण। इस निर्णय का भार हम अपने विज्ञ पाठकों के ही ऊपर छोड़ देते हैं।

(१) वे प्रायः जातीय कम्पनियां थीं। तथा जातीयता (साम्प्रदायिकता कह दें तो विशेष अनुचित न होगा) के भाव उनमें उग्र रूप में विद्यमान थे। उदाहरण के तौर पर हम कह सकते हैं कि बम्बई प्रान्त में स्थापित बीमा कम्पनियाँ केवल पारसियों का ही बीमा करती थीं।

(२) उनके काम करने वाले कर्मचारी प्रायः सब अवैतनिक थे।

(३) उन दिनों एजेण्ट नहीं थे। परिस्थितियों के अनुसार उनकी आवश्यकता ही नहीं थी। बीमा कराने वालों का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित एवं सीमित था। प्रायः संचालकों के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण ही बीमे होते थे।

इस तृतीय विशेषता को यानी एजेण्टों के अभाव को हम एक अवगुण मानते हैं क्योंकि एजेण्टों के न होने से बहुत ही थोड़ा काम हो सकता था। परन्तु इससे विशेष क्षति नहीं हुई। यह विशेषता हम संख्या २ में बता चुके हैं। अवैतनिक प्रबन्धकर्त्ता होने के कारण खर्च बहुत थोड़ा था। अनेक प्रबन्ध अत्यन्त मितव्ययतापूर्ण ही होते थे। इस मितव्ययता ने बीमा कम्पनियों की नींव जमाने में विशेष सहायता दी, साथ ही उनके उत्थान को पूरा पूरा प्रोत्साहन मिला।

बीसवीं शताब्दी के आते आते अन्य प्रान्तों में भी लोगों का ध्यान इस व्यवसाय की ओर जाने लगा था। सर्वप्रथम पंजाब में सन् १८९६ ई०

में भारत बीमा कम्पनी की स्थापना हुई, उसका प्रधान कार्यालय लाहौर हुआ। बम्बई प्रान्त के अतिरिक्त किसी और प्रान्त में स्थापित होने वाली यह पहली बीमा कम्पनी थी। एक प्रोप्राइटरी बीमा कम्पनी होने के नाते इसका विशेष महत्त्व है। भारतवर्ष के बीमा इतिहास में इसका विशेष स्थान रहेगा। क्योंकि बम्बई प्रान्त के बाहर स्थापित होने वाली यह पहली प्रोप्राइटरी बीमा कम्पनी है।

भारत बीमा कम्पनी की रुपया लगाने की नीति आरम्भ से ही अत्यन्त उदार एवं प्रगतिशील थी। सबसे अपूर्व बात तो यह थी कि बीमे धमार्थ खाते नाम कर दिये जाते थे। उनकी किश्तों की दरों में यह विशेष रियायत देती थी। बाद की अन्य बीमा कम्पनियों ने भी यह रियायत दे। शुरू कर दिया, और आजकल यह रियायत सभी बीमा कम्पनियाँ देती हैं। परन्तु भारतीय बीमे के लिए भारत बीमा कम्पनी का यह कदम एक एक नवीन वस्तु ही था। भारत बीमा कम्पनी का यह कार्य हमारे देश की धर्म भावना के अनुकूल था। इस कारण लोगों का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। लोगों की बीमे की ओर प्रवृत्ति हुई। बस यहीं से आप बीमे के तृतीय उत्थान का बीजारोपण हुआ समझ लीजिए। इस बीच में सरकारी कर्मचारियों के बीमे कराने के लिए सन् १८८३ में भारत सरकार ने पोस्टल लाइफ इन्श्योरेन्स की योजना चालू करदी थी। यह योजना आजतक प्रचलित है। इस पर बीमे के (राष्ट्रिय-करण) के अन्तर्गत विस्तार से विचार करेंगे।

बीमे का तृतीय उत्थान काल

सन् १९०० ई० से लेकर सन १९१२ ई० तक के समय को हम बीमा व्यवसाय का तृतीय कार्य मानते हैं। इस समय देश में अनेक विदेशी बीमा कम्पनियाँ कार्य कर रही थीं, और भारतीय कम्पनियों की संख्या बहुत ही थोड़ी थी।

इन्हीं दिनों स्वदेशी की पुकार लगाने वाला राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होगया था। इस आन्दोलन ने भारतीय बीमा व्यवसाय को उत्तेजना प्रदान की और बीमे का काम बढ़ा।

इस स्वदेशी की पुकार के कारण यहाँ कई देशी बीमा कम्पनियां स्थापित हुईं और भारतीय बीमा कम्पनियों की संख्या बढ़ी। यहां यह बात बता देना अप्रासङ्गिक न होगा कि इन बीमा कम्पनियों की स्थापना प्रायः बरसात के दिनों में उग आने वाले कुकरमुत्ता की उपज (Fungus growth) के ही समान थी। अर्थात् इनकी नींव दृढ़ नहीं थी अतः बहुत सी भारतीय बीमा कम्पनियां फेल हो गईं। फलस्वरूप सन् १९१२ वाला बीमा कानून बना। इसके बाद ही आप बीमा व्यवसाय का चतुर्थ उत्थान काल समझ लीजिये।

सन् १९१४ ई० में यूरोपीय प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। इसके कारण सब अवस्था ही बिगड़ गई। बीमा भी उससे अछूता नहीं रह सका। एक तरह से सन् १९१२ ई० में बनाए गये बीमा कानून का प्रभाव जाता रहा। यानी उसकी उपयोगिता ही नहीं रही।

युद्ध की जोखिम लेने वाली नई नई पालिसियां जारी की गईं। इनकी किश्तों की दर अपेक्षाकृत अधिक थी। जो भी किसी रूप में लड़ाई में भाग लेने को हुआ, उसी से अधिक किश्त मांगी गई। फलतः बहुत कम लोग बीमा कराने लगे। होते हवाते सन् १९१६ में सबसे कम काम रह गया।

इस समय विलायती बीमा कम्पनियों ने अपने अद्भुत देश-प्रेम का परिचय दिया। उन कम्पनियों ने लड़ाई के नाम पर अपने किसी भी बीमा-दार से अधिक किश्तें नहीं मांगीं।

यहां पर हम एक बात विशेष रूप से बता देना चाहते हैं। भारतीय बीमा कम्पनियों ने भी व्यर्थ ही अपनी किश्तें बढ़ाईं क्योंकि बीमेदारों की मृत्यु संख्या पर युद्ध का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। कारण स्पष्ट है कि फौज में भरती होने वाले प्रायः एक जाति विशेष के लड़ाकू लोग होते हैं। ये लोग औसतन कम धन वाले व्यक्तियों की ही श्रेणी के थे। और साधारणतया इस श्रेणी के लोगों में उन दिनों प्रायः बीमे का प्रचार नहीं

के बराबर था, अर्थात् युद्ध में भाग लेने वाले व्यक्तियों में बहुत कम लोगों के बीमे हुये थे।

महायुद्ध बन्द होने के बाद ही सन् १९१६ ई० में इस देश में बड़े ज़ोर की प्लेग फैली। उसी के कारण अनेक मृत्यु हुई। बीमा कम्पनियों के लिये यह एक आपत्तिकाल था। इस विपत्ति का बीमा कम्पनियों ने डटकर मुक़ाबिला किया। वे इसमें खरी उतरीं और उस सङ्कट काल को सफलता पूर्वक पार कर गई। इस सङ्कट का कुप्रभाव पड़ा। सबसे अधिक बीमा कम्पनियों के हिस्सेदारों पर। उनको मिलने वाले बोनस में बहुत कुछ कमी हो गई। क्योंकि ऐसी हालत में लाभ तो एक ओर रहा, क्लेमों की अदायगी से ही चैन न था।

युद्ध के बाद व्यवसाय फिर से चेते। देश में शान्ति स्थापित हुई। लोगों ने चैन की सांस ली। उनमें आशा का संचार हुआ, और समृद्धि आई। फल स्वरूप बीमा व्यवसाय फिर चेता। अब यहां अनेक विदेशी कम्पनियां भी आकर्षित हुई। उनमें प्रुडेन्शियल एश्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड तथा विन्टरथर स्विस कम्पनी लिमिटेड तथा विन्टरथर स्विस लाइफ एशोरेन्स कम्पनी मुख्य थी।

हम अन्यत्र बता चुके हैं कि लड़ाई के कारण बहुत सी विदेशी कम्पनियों का काम बन्द हो गया था, और वे यहां से विदा हो गई थीं। इस तरह से इसमें बहुत से बीमेदारों का रुपया भी मारा गया था। उदाहरण के लिये हम एथ्यान्स एण्ड स्टटगार्टर लाइफ इश्योरेन्स बैंक आफ जर्मनी का नाम ले सकते हैं। इन बीमा कम्पनियों में बहुत से भारत वासियों के बीमा हो रहे थे। कहने का सारांश यह है कि यह वह समय था जबकि बीमा कम्पनियों के प्रति लोगों का विश्वास उठ चुका था। अतः अब इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि लोगों में बीमा कम्पनियों के प्रति फिर से एक नया दृष्टिकोण लेकर विश्वास उत्पन्न कर दिया जाये। इस समय दो आवश्यकताएँ सामने रक्खी गई।

सन् १९१२ ई० वाले बीमा कानून के अवगुण दूर करना तथा बीमा कम्पनियों के लेखे जोखे का पूरा हिसाब रखना। इन्हीं आवश्यकताओं की

पूर्ति के लिए १९२८ में फिर से बीमा कानून बनाया गया। और बीमा व्यवसाय के चतुर्थ उत्थान काल की इतिश्री हुई।

आधुनिक काल....सन् १९३० ई० में फिर से स्वदेशी का आन्दोलन उठा, इस बार उसका रूप अधिक व्यापक था। इस स्वदेशी की भावना के निम्न प्रभाव हुए—

(१) स्वदेशी कम्पनियों को गिरती हुई व्यौपारिक परिस्थिति पर विजय दिलाई।

(२) बीमे का काम खूब बढ़ा। (३) बहुत सी नई विदेशी कम्पनियाँ खुलीं। (४) अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए बहुत सी प्राचीन एवं सुदृढ़ बीमा कम्पनियों ने बड़ी मात्रा में लाभांश (Bonus) बांटे।

इस समय एक प्रकार से सस्ती बीमा कम्पनियां स्थापित होने की प्रवृत्ति फिर से परिलक्षित होने लगी थी तथा बीमा व्यवसाय में आपसी प्रतियोगिता ने उग्र रूप धारण कर लिया था। कहना अनुचित न होगा कि प्रतिस्पर्द्धा का रूप व्यभिचारमय होगया। इस सब दुर्व्यवस्था की बात को रोकने के लिये सन् १९३८ ई० में फिर से बीमा कानून का निर्माण हुआ। इस कानून में क्रमशः सन १९३९ ई० में तथा १९४० में अनेक संशोधन भी किये गये : उसे पूर्ण बनाने के लिये सन १९४४ में फिर एक उप-समिति नियुक्त हुई थी। अनेक वाद-विवाद तथा संशोधन आदि के बाद अब तो वह सन १९५० के बीमा विधान के नाम से एक नवीन परिधान धारण करके हमारे सन्मुख उपस्थित होगया है। १ जनवरी सन् १९५१ से वह पूर्ण कानून के रूप में लागू है।

अब हम भारत में किये गए बीमा व्यवसाय के बारे में तनिक विस्तृत और आँकड़ों के साथ समझा देना चाहते हैं। हमें विश्वास है कि इससे पाठकों का ज्ञान वर्द्धन होगा और उन्हें अपने देश में किये गए बीमा व्यवसाय के सम्बध में अनेक ज्ञातव्य तथा रुचिकारी बातें विदित हो जायँगी।

(अ) १६ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में भारतवर्ष में १५ बीमा कंपनियां काम करती थीं।

हालांकि यहाँ की जनता अपढ और बीमा व्यवसाय से अनभिज्ञ थी। परन्तु फिर भी इन कम्पनियों को अपना कार्य-क्षेत्र बढ़ाने का काफी मौका मिला और आशातीत कार्य प्राप्त होने लगा फलतः यहाँ कार्य करने केलिए अन्य अनेक विलायती कम्पनियां आकर्षित हुईं।

प्रायः सभी विदेशी कम्पनियाँ भारतवासियों के जीवन-बीमा पर अतिरिक्त दरें लेती थीं। यूरुप वालों के जीवन जोखिम की अपेक्षा भारत वालों से १० रु० से लेकर २५ रु० प्रति हजार अधिक दर लेती थी। सर्वप्रथम 'सिटी आफ ग्लासगो" नामक बीमा कम्पनी ने ही यह भेद मिटाया था।

बौम्बे म्युचुअल तथा औरियन्टियल बीमा कम्पनियों की स्थापना के साथ भारतवर्ष में एक नया बीमा-युग आरम्भ हुआ। २० वर्षों के भीतर बम्बई तथा मद्रास प्रान्तों में अनेक बीमा कम्पनियां स्थापित हुईं। ये प्रायः सब म्युचुअल कम्पनियां थीं। और जाति विशेष के हित साधन को दृष्टि में रखते हुए स्थापित की गईं थीं। एजेन्टों की आवश्यकता ही न थी तथा अन्य सब कर्मचारी अवैतनिक थे। अतः इनके खर्चों में खूब किफायत था। उन दिनों स्थापित होने वाली बीमा कम्पनियों की संख्या २६ थी।

इन दिनों भी भारतीय बीमा व्यवसाय अपनी शैशवावस्था में ही था और अनेक विदेशी कम्पनियां यहाँ अपनी शाखाएँ खोल रही थीं और अधिकांश कार्य प्राप्त कर रही थीं।

इस बीच में पहिली प्रोप्राइटरी संस्था करांची की इण्डियन लाइफ बीमा कम्पनी थी, तथा बम्बई प्रान्त के बाहर स्थापित होने वाली प्रथम प्रोप्राइटरी बीमा कम्पनी थी लाहौर की भारत इन्श्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड।

(स) अब हम बीमा व्यवसाय के महत्त्वपूर्ण समय पर आते हैं। यह समय था सन १६०० से लेकर सन् १६१२ तक का काल। इस बीच में बीमा सम्बन्धी पर्याप्त जागृति हुई और बीमे का काफी काम हुआ। इन दिनों विदेशी बीमा कम्पनियां विशेषकर इङ्गलैंड की कम्पनियां, विशेष रूप से अपनाई गईं थीं।

सन् १६१२ का बीमा विधान बन जाने पर बहुत सी विदेशी बीमा कम्पनियों ने भारतवर्ष में काम करना बन्द कर दिया था।

इन्हीं दिनों राष्ट्रिय आन्दोलन उठा और फलतः अनेक छोटी बड़ी भारतीय बीमा कम्पनियां स्थापित की गईं। इनमें से बहुत-सी तो आज भी मौजूद हैं और उनमें से कई एक की प्रमुख एवं सुदृढ़ बीमा कम्पनियों में गिनती है।

(द) अब हम बीमा व्यवसाय के चतुर्थ-काल विभाग पर आते हैं। यह काल सन् १६१२ से सन् १६३० तक पड़ता है।

सन् १६१२ के बीमा विधान के फलस्वरूप अनेक विलायती बीमा कम्पनियों ने भारतवर्ष में काम करना बन्द कर दिया।

सन् १६१४ में प्रारम्भ होने वाले महायुद्ध का बीमा व्यवसाय पर बुरा प्रभाव पड़ा। सन् १६१५ के आस-पास कुछ नई विदेशी कम्पनियों ने भारत में अपना कार्य प्रारम्भ किया। उनमें मुख्य ये हैं। रोयल लन्दन आक्जिलरी, यौर्कशायर इन्श्योरेन्स कम्पनी, ग्रेट ईस्टर्न लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी तथा शांघाई लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड।

युद्ध की समाप्ति के बाद देश में सम्पन्नता और दो अन्य विदेशी कम्पनियों ने अपने अपने कार्यालय खोलकर कार्य आरम्भ किया। उनके नाम हैं। प्रूडैन्शियल एश्योरेन्स कम्पनी तथा चाइना अंडर राइट्स।

इस प्रकार अनेक विदेशी बीमा कम्पनियों ने भारतवर्ष में व्यवसाय प्रारम्भ किया और समाप्त किया। कुछ तो अन्य कम्पनियों में मिला दी गईं और कुछ ने अपना हाथ खींच लिया। इनका इतिहास अत्यन्त

रोचक है और पिछली तालिका द्वारा उनके सम्बन्ध में काफी जानकारी प्राप्त हो जाती है।

सन् १६१२ वाले बीमा विधान के बाद अनेक भारतीय कम्पनियाँ स्थापित हुईं। उनमें बहुत-सी फेल होगईं।

सन् १६१६ में भारतवर्ष में बीमे का सबसे कम काम हुआ था। तब से लेकर आज तक बराबर इस व्यवसाय में वृद्धि हुई है। आंकड़े हमारे कथन की पुष्टि करेंगे। सन १६१४ में भारतीय बीमा कम्पनियों ने कुल ३ करोड़ रुपये का कार्य किया था। क्रमागत उन्नत होते होते यह आंकड़ा सन १६४८ में १०७ करोड़ रुपये हो गया। सन १६१४ में चालू काम २२ करोड़ रुपये का था। सन् १६४८ में ६६७ करोड़ रुपए का हो गया। सन् १६१४ में जीवन कोष ६ करोड़ रुपए था, सन् १६४८ में वह १५० करोड़ रुपये हो गया। यह तो हुई जीवन बीमा की बात। अन्य प्रकार के बीमों में भी वृद्धि हुई है।

इस सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिये एवं कौतूहल शान्त करने के लिये पाठक चाहें तो भारत सरकार द्वारा प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली ईयर-बुक देख सकते हैं।

एजेण्टों के लिये प्रतिवर्ष जारी किये जाने वाले लाइसेन्सों की संख्या में जहां एक ओर क्रमशः वृद्धि हुई है, वहां रद्द होने वाले लाइसेन्सों की संख्या भी प्रतिवर्ष बढ़ती गई है। इससे स्पष्ट है कि केवल प्रस्तावपत्र लेने भर के लिये बहुत से एजेण्ट बना दिये जाते हैं। बाद में वे लोग कुछ भी काम नहीं करते हैं। इसीलिये आवश्यक है कि एजेण्टों के लिये कुछ न्यून-तम योग्यता निर्धारित हो तथा उनके लिए कम से कम कार्य प्राप्त करने की रकम भी अनिवार्य बना दी जावे।

एजेण्टों में लगभग २० प्रतिशत संख्या महिलाओं की रहती है। सन् १६४८ में उनकी २१. सख्या ३ प्रतिशत थी।

अगर हम भारतवर्ष में किये गये बीमा सम्बन्धी आंकड़ों का ध्यान पूर्वक अध्ययन करें, तो हमें अनेक तथ्य विदित होंगे। यथा—१. भार-

तीय बीमा कम्पनियों द्वारा जारी किये बीमापत्रों की औसत रकम डेढ़ हजार रुपये है। विदेशी बीमा कम्पनियों के पक्ष में यही रकम ३ हजार रुपये से कुछ अधिक है। २. भारतवर्ष में सबसे अधिक बीमे बन्दोबस्ती सूची में होते हैं। बन्दोबस्ती बीमा की संख्या कुल बीमों की प्रायः ७५ प्र० श० रहती है। यह सबसे कम ७२ प्रतिशत सन् १६२५ में रही है। सन् १६२० में तो यह ८३ प्रतिशत से भी अधिक हो गई थी। ३. आजीवन बीमे ८ प्रतिशत के आसपास रहते हैं। आजीवन बीमों के दो भेद होते हैं। १. जिनमें जीवन पर्यन्त किश्तें दी जायें तथा २. जिनमें केवल सीमित समय तक किश्तें दी जायें परन्तु बीमे का भुगतान मृत्यु के बाद ही हो। आप देखेंगे कि दोनों प्रकार के बीमापत्रों की प्रतिशत संख्या लगभग एकसी है। शेष में अन्य प्रकार की सूचियों में जारी किए गए बीमापत्र आ जाते हैं। ४. भारतवर्ष में किए गए कार्य का आधे से ज्यादा काम प्रतिवर्ष भ्रष्ट (Lapse) हो जाता है। यह तो हम बता ही चुके हैं कि सन् १६१२ और सन् १६३८ के बीमा विधानों का निर्माण समान परिस्थितियों में हुआ था। उसके निर्माण के बाद तुरन्त ही युद्ध छिड़ जाने के कारण एक दम फिर नई समस्यायें सम्मुख आ गई थीं। सन् १६५० के बीमा-विधान बनाने के बाद फिर युद्ध की चर्चा जोरों पर हैं। अस्तु।

नया बीमा विधान बन जाने के कारण बीमा कम्पनियों ने अपनी अपनी विवरण पत्रिकाओं तथा बीमापत्रों की शर्तों में आवश्यक परिवर्तन कर दिए हैं, ताकि वे नियमानुकूल हो जायें प्रायः सभी बीमा कम्पनियों ने मृत्यु संख्या दरों तथा अर्जित ब्याज की कम दरों को ध्यान में रखकर अपनी किश्त की दरों में परिवर्तन कर दिए हैं। नई परिस्थितियों का मुकाबिला करने के लिए भारतीय बीमा कम्पनियों के पास समस्त सुविधायें और साधन हैं, वे उसके लिए पूरी तरह तैयार है। अतः भारतीय बीमा व्यवसाय का भविष्य सर्वथा समुज्ज्वल है।

(३१) सुख के दिनों की याद

रूप-रेखा—

(१) अतीत की स्मृति सदैव सुखदायी।
(२) अपने बालकपन की याद।
(३) बीती बातों की याद के उदाहरण।
(४) बाल्य-काल का चिन्तामुक्त जीवन वर्तमान चिन्तायुक्त जीवन की अपेक्षा अधिक सरल, सरस एवं सुखदायी।
(५) दुःखों को भूलने का एक साधन।
(६) दुःखों को भुलाने वाले अन्य उपायों में इसका स्थान।
(७) उपसंहार।

'Past is ever glorious' अर्थात् अतीत का स्मरण सदैव सुखदायी होता है।

सुख के वे दिन अब एक स्वप्न बन गए हैं। वे बचपन के दिन थे, जब न घर की फिक्र थी और न गृहस्थी के झंझट ही थे। न आटा-दाल का भाव मालूम था, न नौन—तेल—लकड़ी का ही फेर था। बस, केवल खाना, खेलना, सोना और पढ़ना, ये ही समस्त जीवन था। जब किसी चीज़ की ज़रूरत हुई, माँग ली, जब कोई कष्ट हुआ, तो रो दिए। ऐसा प्रतीत होता था कि संसार में मन की परेशानी की कोरी चर्चा ही चर्चा है। वस्तुतः निन्यानवे का फेर जीवन की वस्तु न था—केवल किताबों में लिखने की बात थी। परन्तु अब दुनियाँ ही दूसरी है। सुबह से शाम तक, चोटी से ऐड़ी तक का पसीना एक करना पड़ता है, तब जाकर कहीं किसी तरह पेट भर पाता है। न कोई यह पूछने वाला है कि भूख लगी है और न यह कहने वाला है कि जरा आराम कर लो, थक गए होगे। उल्टे यही सुनने को मिलता है—यह नहीं है, वह नहीं है, यह चाहिए, वह चाहिए। किसी ने ठीक ही कहा है—

जब दद्दा दद्दा कहते थे, तब बड़े मजे में रहते थे,

अब दद्दा दद्दा कहलाए, तो बड़ी मुसीबत में आए।

वे दिन बड़े ही सुनहरे थे, जब माता-पिता मेरा मुँह देखते थकते न थे और लल्ला, मुन्ना कहकर पुकारते हुए उनका मुँह सूखता था। ऐसा प्रतीत होता था कि जीवन में प्यार ही प्यार भरा पड़ा है। परन्तु अब कोई चतुर्वेदीजी कहता है, कोई भाईसाहब कहता है, कोई प्रोफेसर साहब कहता है, कोई कुछ कहता है, कोई कुछ; परन्तु इन समस्त सम्बोधनों में रूखापन है, प्रेम का वह स्रोत नहीं दिखाई देता है जो लल्ला अथवा मुन्ना कहकर पुकारे जाने में था। तब ऐसा लगता था कि हम छोटे थे, अब ऐसा प्रतीत होता है कि हम बड़े हैं; तब युवावस्था की कल्पना करके हम प्रफुल्लित होते थे, अब बुढ़ापे का ख्याल करके सिहर उठते हैं। भगवान् कृष्ण जब गोकुल के कन्हैया से द्वारिकाधीश बन गए, तब उन्हें अपने गोकुल के नटखट जीवन की, कन्हैयापन के रसीले दिनों की याद प्रायः आती रहती थी—

नीके रहियो जसुमत मैया

× × × ×

जा दिन तें हम तुमसों बिछुरे, काहू न कह्यौ कन्हैया
प्रात न काऊ कलेवा दीनों, साँझ न पीनी धैया।

—(सूर)

वे भले ही सोने में कटोरे में दूध पीते हों अथवा सोने के गड़ुए से गङ्गाजल का पान करते हों, परन्तु राजाओं के उस कृत्रिम जीवन में लूट-लूटकर दधि और माखन-रोटी खाने का वह सुख कहाँ? तभी तो वह अपने सखा उद्धव से बार बार इस प्रकार की बातें कहा करते थे—

ऊधौ मोंहि ब्रज बिसरत नाहीं — सूर

अथवा

नंद और जसोमति के प्रेम-पगे पालन की,
लाड़-भरे लालन की लालच लगावती।
कहै रतनाकर सुधाकर-प्रभासों मढ़ी,

मंजु मृगनैनिनि के गुन-गन गावती।

× × ×

सुधि ब्रज-वासिन दिवैया सुख-रासिन की
ऊधौ नित हमकौं बुलावन कौं आवती।

(रत्नाकर)

हमें भी ठीक इसी प्रकार अपने बीते दिनों की याद आ जाती है। उन दिनों की याद हमारे हृदय में एक सुखद कसक उत्पन्न कर देती है। जहाँ हम खेलते थे, वहाँ की अब चर्चा मात्र से सन्तोष कर लेना पड़ता है, हम जिन पेड़ों पर चढ़ कर छीना झपटी करते थे, उनकी झाँकी अब आँखों में झूम कर कृष्ण की भांति हमको यह कहने को विवश करती है—

ऊधौ ब्रज-बास के बिलासनि कौ ध्यान धंस्यौ
निस-दिन काँटे लौं करेजैं कसकत है।

क्योंकि—

प्यारौ नाम गोविंद गुपाल कौ बिहाइ हाय
ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करिहैं कहा।

कन्हैया, काना आदि कहे जाने में जो रस था, वह महाराज कृष्ण अथवा जय द्वारिकाधीश के जयघोष में कहां? उनमें अपनापन था, इनमें दिखावा है।

आप कह सकते हैं कि अजी! तुम अपनी बात छोड़ो। तुमको आर्थिक संकट है, कम वेतन मिलता है, तुमको मनमानी करने के अवसर नहीं मिल पाते हैं, इसी कारण इतने परेशान रहते हो, अल्हड़पन के उन दिनों की याद करते हो, अज्ञान से युक्त उस जीवन को सुख-स्वप्न करते हो आदि। मैं कहता हूँ, ठीक कहते हैं आप। आप द्वारिकाधीश के कृष्ण की अपेक्षा तो अधिक साधन-सम्पन्न न होंगे, उनसे अधिक समर्थ सिंहासन पर तो विराजमान न होंगे। परन्तु जब गोपियों ने उनके सखा उद्धव से यह प्रश्न किया कि, क्या कभी उन्हें यहाँ की तरह मक्खन-मिश्री खाने को मिलती है? क्या कोई लाल कहकर उन्हें प्यार करता है? क्या वह कभी उत्साह-पूर्वक बन्शी बजाने की फ़ुरसत पाते हैं? तो उद्धवजी अवाक

रह गए थे। उनसे कुछ भी उत्तर न बन पड़ा था। आप भी अपने मन में निम्नलिखित छन्द में निहित इन प्रश्नों को उठाइए, सोचिए कि मन मसोस कर रह जाने के अतिरिक्त आपके पास कोई उत्तर है क्या ?

> षटरस व्यंजन तौ रंजन सदा ही करैं
> ऊधौ नवनीत हूं स-प्रीति कहूँ पावैं हैं।
> कहै रतनाकर बिरद तौ बखानैं सबै
> साँची कहौ केते कहि लालन लड़ावैं हैं ॥
> रतन-सिंहासन बिराज पाक सासन लौं
> जग-चहुँ-पासनि तौ सासन चलावैं हैं।
> जाइ जमुना-तट पै कोऊ बट-छाहिं माहिं
> पाँसुरी उमाहि कबौं बाँसुरी बजावैं हैं।

ऐसे सुख से दिनों की याद किसको विह्वल न कर देगी ? उन दिनों जो मिल जाता, वही खा लेते थे और जहां जगह मिल जाती थी, वहीं सो जाते थे। न यह जानते थे कि बदहज्मी अथवा पेट खराब होना क्या चीज होता है, न यह सोचते थे कि कब्ज की भी कोई दवाई होती है और न यह विश्वास ही कर सकते थे कि नींद न आने की भी कोई बीमारी होती है। रात को वक्त बे वक्त आँख खुल जाने का सवाल ही न था। परन्तु अब ! पहले तो इच्छा होने पर खाने को भर पेट मिलता ही नहीं है, और यदि कदाचित पेट भर भी जाता है, तो फिर हज्म ही नहीं होता है। दिन भर के परिश्रम के बाद जब घर लौटते हैं, तो कभी डाक्टर के जाना पड़ता है, कभी दूध वाले के यहाँ। इन सबसे छुट्टी पाकर जब चारपाई पर लेटते हैं तो व्याधियों के मन्दिर शरीर के कष्ट एक एक करके सताने लगते है। पीड़ित शरीर से नींद रूठी सी जान पड़ती है, लाख बुलाने पर भी वह नहीं आती है। उन दिनों माता केवल इतना कह भर देती थी कि "आजा री निदरिया, तुझे लाल बुला रहा है"[1] बस वह तुरन्त चली आती थी। परन्तु अब आरजू मिन्नतें करने पर भी वह आने का नाम नहीं लेती है। अब जब कभी कोई खट्टी चीज दाँतों में लगती

१ मेरे लाल को आओ निदरिया तोकों कान बुलावै।

है अथवा कड़ी चीज दाँतों के मसूड़ों में चुभती है, तभी वे दिन याद आ जाते हैं जब हम सब साथी होड़ बद कर कच्ची इमली, कच्चे आम आदि पेड़ से तोड़-तोड़ कर खाया करते थे। कड़ी से कड़ी चीज खाने में आनन्द आता था। अब जब मुलायम रोटी, पूरी खाने बैठते हैं, तभी याद आती है कि कितने उत्साहपूर्ण थे वे दिन जब चना-कुरमुरा की भांति हमारा जीवन भी कुरकुरा था। तब जीवन में न कहीं सीलन थी और न कहीं अन्धकार था। अब अपने बीते दिनों और बीते हुये पुरुषार्थ की चर्चा करके भले ही मन को समझा लें, परन्तु न वे बल बूते हैं और न वे हौसले ही रहे हैं। न वह हिम्मत ही रही है और न वह शक्ति ही।

हम जब कभी अपने पुराने सहपाठियों से मिलते हैं, तो अपनी पुरानी बातों की चर्चा करते हुए घन्टों व्यतीत कर देते हैं! अमुक स्थान पर हम गिल्ली डंडा खेलते थे, अमुक स्थान पर चना-चिउड़ा बेचने वाली बुढ़िया को "ईश्वर कैसे थे ?" पूछ कर चिढ़ाया करते थे, अमुक पण्डितजी टिण्डे के नाम से मारने को दौड़ते थे, अमुक मास्टर साहब को बैंगन से चिढ़ थी अमुक साधु सीताराम का नाम लेते ही डण्डा लेकर पीछे दौड़ता था आदि। परन्तु सब बातें उल्टी पड़ गई हैं। कोई हमें किष्किंधापुरी का निवासी समझता हैं, कोई हमारे चौखटे को आँखें फाड़ कर देखता है, कोई हमसे घड़ी का टायम पूछता है और कोई हमारे हास्यास्पद नाम रखता है। सब वक्त की बात है। एक वे दिन थे, जब हमारे सम्बन्धी हमारे बड़े होने की बाट जोहते रहते थे, हमारे भविष्य की बात सोचते थे, हमारे शादी-विवाह की योजनायें बनाया करते थे, अब एक समय यह आया है कि औरों की क्या कहें, हम स्वयं अपने दिन गिनने लगे हैं। सच्ची बात तो यह है कि वे दिन हवा हुए जब पसीना गुलाब था। अब कोई टके सेर नहीं पूछता है।

वे दिन गुलाबी दिन थे, वे आशा के दिन थे। उन दिनों हम भविष्य की ओर देखकर खेल का नई योजनाएँ बनाया करते थे— मैं यह करूँगा मैं वह करूँगा—आदि की चर्चाओं से जीवन में स्फूर्ति ही स्फूर्ति भरी रहती थी। परन्तु अब, भविष्य अन्धकारमय दिखाई देता है। जीवन में

निराशा ही निराशा है। हम यह न कर सके, हम वह न कर सके, अभी यह करना है, अभी वह करना है, इन्हीं बातों को सोच सोच कर अपना जी दुःखी किया करते हैं। आशा भरे उन दिनों की स्मृति निसंदेह बहुत ही सुखदायी है।

सुख के उन दिनों की याद इस नीरस जीवन में एक बार तो रस बहा ही देती है। उनकी चर्चा मात्र से मन प्रफुल्लित हो जाता है। जब ही किसी बालक की मधुर वाणी कानों में मिश्री घोलने लगती है, तभी हमें अपने वे सुनहरी दिन याद आजाते हैं जब हमारी तुतली बातो को सुनकर हमारे गुरुजन फूले नहीं समाते थे। सुभद्राकुमारी चौहान ने एक बार अपनी बालिका के साथ खेलते हुए अपने बचपन के सुख का अनुभव किया था। उस सुख को उन्होंने लेखनी-बद्ध किया। उन दिनों की याद ही जब इतनी सुखदायी है, तब वे दिन न मालूम कितने सुखदायी न होंगे? यथा—

मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
नंदन-वन सी फूल उठी वह छोटी सी कुटिया मेरी॥

फिर थोड़ी देर तक उसके साथ बातचीत करने के पश्चात् क्या होता है? बाल्यकाल के सुख के दिनों की मधुर स्मृति सजीव हो उठती है और जीवन में एक बार फिर रस बह उठता है। यथा—

पाया बचपन मैंने फिर से बेटी बचपन बन आया।
उसकी मंजुल मूर्ति देख कर मुझमें नवजीवन आया।
मैं भी उसके साथ खेलती, खाती हूँ तुतलाती हूँ।
मिलकर उसके साथ स्वयं, मैं भी बच्ची बन जाती हूँ।

जीवन कितना ही कठोर, नीरस, अन्धकारमय एवं निराशापूर्ण हो, परन्तु सुख के दिनों की याद उसको एक बार मृदुल, सरस एवं आशापूर्ण बना ही देती है। थोड़ी देर के लिए हम अपने दुखों एवं कष्टों को भूलकर सुख स्वप्न के सागर में अवगाहन करने लगते हैं और हमें अपने दिन अच्छे दिखाई देने लगते हैं। वे दिन न रहे, तो ये दिन भी न रहेंगे, यह विचार हमारे हृदय में एक बार आशा-वीचि का संचार कर देते हैं।

इस बीचि के सहारे हम अपने दुखःसागर को पार कर जीवन की कल्पना करके एक बार पुलकायमान हो उठते हैं तथा नवीन स्फूर्ति प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं।

अपने जीवन की कठोरताओं को, स्थूल जीवन के कष्टों को, भौतिक जगत के दुःखों को कुछ समय के लिए भूल जाने के लिए मानव ने अनेक मार्गों का विधान किया है। कभी वह योगाभ्यास द्वारा समाधि की दशा में जीवन की एकरूपता का साक्षातकार करके नाम—रूपात्मक जगत के विभ्राट को विस्मृत करना चाहता है, कभी वह भगवान की भक्ति में लीन होकर अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शक्ति तथा अनन्त शील के सागर के किनारे खड़े होकर उसकी लहरें गिनने के आनंद में तल्लीन होना है, कभी वह सत-साहित्य के रस में मग्न होकर उस मधुमती भूमिका के सुख का साक्षात्कार करता है जहाँ प्राप्त होने वाली प्रत्येक अनुभूति केवल सुखमय ही होती है और कभी वह ब्रह्म-चिन्तन के कठिन मार्ग द्वारा "अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करके सांसारिक बन्धनों के दुख का बौद्धिक स्तर पर निराकरण करता है। इतना ही नहीं, अपने दुःखों को भूलने के लिए वह कभी-कभी इतर मनोरंजन के साधनों-नाटक, सिनेमा, खेल-कूद आदि का भी सहारा ग्रहण करता है। हमारे विचार से सुख के दिनों की मधुर-स्मृति भी दुःखमय जीवन को थोड़ी देर के लिए भुलाने के हेतु एक महत्वपूर्ण साधन प्रस्तुत करता है। सुख के दिनों की याद करते हुए हम अपने झुलसे हुए जीवन को थोड़ी देर के लिए सरस-सुहाया बना लेते हैं। यह हमको स्वस्थ्य रखने वाला एक टौनिक है, इसमें हल्दी लगै न फिटकिरी रंग चोखा आवै" वाली बात चरितार्थ होती है और जिसके द्वारा अपने जीवन को सुखी बनाने के हेतु हमें प्रेरणा प्राप्त होती है।

---

(३२) आधुनिक विज्ञान के चमत्कार

रूपरेखा—

(१) विज्ञान का अर्थ।
(२) विज्ञान का विकास।
(३) आधुनिक विज्ञान का आरम्भ।
(४) आधुनिक विज्ञान के लक्षण।
(५) चमत्कार।
(६) चमत्कारों से लाभ और हानि।
(७) उपसंहार।

विज्ञान दो शब्दों से मिलकर बना है वि + ज्ञान। इसका अर्थ है विशेष ज्ञान अथवा व्यवस्थित ज्ञान। अंग्रेजी में इसको Science कहते हैं और इसका अर्थ होता है Systematised knowledge। इस दृष्टि से किसी भी विषय का व्यवस्थित ज्ञान वस्तुतः विज्ञान Science कहा जा सकता है। वास्तव में ये बात भी ऐसी ही है। विज्ञान के अन्तर्गत विविध विषयों की गणना की जाती है। यथा शरीर-विज्ञान, जन्तु-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान सैन्य-विज्ञान....आदि।

सृष्टि के प्रारम्भ में ही मानव ने यह देखा कि संसार की प्रत्येक वस्तु क्षीण हो जाती है अथवा नष्ट हो जाती है। फलस्वरूप वह प्राप्त वस्तुओं को सदा के लिए सुरक्षित रखने को प्रयत्नशील हुआ और उसने इस प्रकार के प्रयत्न किए कि इष्ट का कभी वियोग ही न हो। इसके लिये उसने प्रकृति और मानव के अध्ययन किए तथा वास्तविकता की खोज में वह प्रवृत्त हुआ। प्रकृति के अध्ययन के फलस्वरूप उनको विज्ञान की प्राप्ति हुई, तथा मानव एवं वास्तविकता के अध्ययन ने उसको क्रमशः दर्शन और धर्म प्रदान किए। सारांश यह है कि विज्ञान के अन्तर्गत उन समस्त विषयों का अध्ययन हो जाता है, जो प्रकृति अथवा दृश्यमान जगत से सम्बद्ध हैं।

इस प्रकार विज्ञान की उत्पत्ति का इतिहास मानव समाज के इतिहास के समान ही प्राचीन है। अग्नि का आविष्कार मानव की प्रकृति पर सर्वप्रथम विजय थी और इसी के साथ विज्ञान की परम्परा आरम्भ होती है। वैज्ञानिक अध्ययन की विशेषताएं इस प्रकार हैं—प्रयोगात्मक अध्ययन, तर्क बुद्धि का प्राधान्य तथा कार्य-कारण की स्थापना अर्थात् प्रत्येक कार्य का कारण खोजना तथा केवल चर्म-चक्षु के द्वारा देखे गए तथ्यों पर विश्वास करना। प्रकृति एवं भौतिक जगत के इस प्रकार के अध्ययन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। रामायण काल, महाभारत-काल, पुराण काल आदि प्राचीन युगों में हमको बराबर वैज्ञानिक उन्नति के प्रमाण प्राप्त होते हैं। विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख, विमानों की चर्चा, नाना प्रकार की औषधियां, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि तथ्य इस बात के सुस्पष्ट प्रमाण हैं कि भारतवर्ष के आर्ष ऋषियों का वैज्ञानिक ज्ञान बहुत ही उच्च कोटि का था और उन्होंने बहुत ही महत्वपूर्ण वैज्ञानिक अनुसन्धान कर डाले थे।

आरम्भ में जब मानव कार्य-कारण सम्बन्धों से अपरिचित था, प्रकृति-विषयक उसका ज्ञान न्यून था, तब प्रकृति की सामान्य घटनाएँ उसको भयभीत कर डालती थीं, और वह उसके तत्वों की पूजा करके अपनी सुरक्षा का विधान किया करता था। जैसे-जैसे वह विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ता गया, वैसे-वैसे वह प्रकृति पर विजय प्राप्त करता गया और उसके भय में कमी होती गई। सारांश यह कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करना विज्ञान का चरम फल है। इस लक्षण के अनुसार भी प्राचीन भारत ने विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति कर ली थी। रावण मानो प्रकृति पर विजय प्राप्ति का सजीव प्रतीक था। पवन उसके यहाँ पंखा झलता था, समुद्र उसके घुटनों तक रह जाता था, आकाश मार्ग में वह उड़ सकता था, किम् बहुना स्वयं कालदेव उसके यहाँ कैद थे।

सुख और दुख के समान विज्ञान की उन्नति और अवनति का चक्र सदैव चलता रहता है। जब-जब विज्ञान अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है

तब-तब संसार में दुखों की वृद्धि होती है, क्योंकि उसका दुरुपयोग करने वाले रावण और कंस उत्पन्न हो जाते हैं। वर्तमान समय भी विज्ञान की उन्नति का युग है। परिणाम सामने है। संसार में दुखो एवं कष्टों का राज्य है, क्षितिज पर हर घड़ी युद्ध के बादल मँडराते रहते हैं। पिछले ५० वर्षों में विश्व-व्यापी दो महायुद्ध हो चुके। एक ही बम के द्वारा हरे भरे खेतों तथा भरे-पूरे नगरों का नाश कर देने का दम भरने वाले महानुभावों को हमारी भावी सन्तान निश्चय ही दस्युराज रावण और नर-पिशाच कंस के रूपों में देखेगी।

आधुनिक विज्ञान का प्रारम्भ गैलीलो से माना जा सकता है। अपने वैज्ञानिक अध्ययनों के फलस्वरूप उसको अन्धविश्वासी ईसाई पादरियों का कोप-भाजन बनना पड़ा था। जीवन के कार्य-व्यापारों में कार्य कारण की शोध करने के पुरस्कार स्वरूप उसको मौत के मुँह में जाना पड़ा था। उसके बाद इङ्गलैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइजक न्यूटन का नाम आता है जिसने अपने बगीचे में गिरते हुए सेब को देख कर गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त (Law of Gravitation) को खोज निकाला था और फिर उसके आधार पर बाद में गतिशीलता (Dynamics) संबंधी विभिन्न नियमों का हुआ तथा ज्योतिष ज्ञान एवं ज्योतिष-शास्त्र को दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति हुई।

हम जब विज्ञान का नाम लेते हैं, तो हमारा ध्यान स्वभावतः विज्ञान द्वारा उपलब्ध किए जाने वाले सुख-साधनों की ओर भी चला जाता है और हम उसके चमत्कारों को देख कर आश्चर्यचकित हो उठते हैं। इन चमत्कारों में आजकल की अनेक मशीनें आ जाती हैं—वाष्प, तैल तथा विद्युत से परिचालित विभिन्न मशीनें।

आधुनिक विज्ञान का युग १६ वीं शताब्दी के आरम्भ अथवा १८ वीं शताब्दी के अन्त से, जेम्स वाट के वाष्प-ऐंजिन के आविष्कार द्वारा होता है। जेम्स वाट ने एक दिन पानी से भरी हुई केतली आग पर रख दी थी। उसके ऊपर एक तश्तरी ढकी हुई थी जो यकायक बड़े जोर से

हिलने व आवाज करने लगी। जेम्स वाट की समझ में आया कि वाष्प के कारण ही तश्तरी में उक्त गति आ गई थी। बस, उसकी प्रतिभाशील बुद्धि के हाथों एक साधन आगया और उसने वाष्प के ऐंजिन का आविष्कार कर डाला। वाष्प के ऐंजिन के बनते ही तरह-तरह की मशीनें बनने लगीं, दिनों का का काम घण्टों में और घण्टों का काम मिनटों में होने लगा, तथा जीवन में एक क्रांति आगई। इस क्रांति के साथ ही मशीन का युग प्रारम्भ हो गया तथा मनुष्य के श्रम में बचत होने लगी। इसी को इंग्लैंण्ड की औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) कहते हैं।

वाष्प द्वारा परिचालित मशीनों के निर्माण के बाद तैल से चलने वाली तथा बिजली से चलने वाली मशीनें बनने लगीं और उसके बाद बिजली की खोज कर डाली गई। फिर क्या था ? नित्य नए आविष्कार होने लगे—तार टैलीफून, रेडियो हवाई जहाज, सिनेमा आदि।

अँग्रेजी शासन के साथ ही भारत में पाश्चात्य ज्ञान, साहित्य, सभ्यता संस्कृति, धर्म, दर्शन, विज्ञान, सभी कुछ आए। भारतवासियों ने वैज्ञानिक देन के लिए अंग्रेजों के प्रति सदैव आभार प्रदर्शित किया है। हमको यह भली प्रकार याद है कि राष्ट्रीय आन्दोलन, स्वातन्त्र्य संग्राम के दिनों में अनेक भारतवासी यह कहा करते थे कि अँग्रेजों ने हमें रेल तार आदि दिये हैं—हम नहीं चाहते हैं वे भारतवर्ष से जाएँ—वे अपने साथ अपने द्वारा लगाई पटरियाँ आदि उखाड़कर ले गये तो ? तात्पर्य यह है कि विज्ञान के चमत्कारों ने प्रारम्भ से ही हमारे जीवन के ऊपर बहुत ही व्यापक एवं गम्भीर प्रभाव डाला है। उनके कारण हमारे जीवन में एक साथ इतने सुख सुविधाओं का विधान हो गया कि हम फूले नहीं समाये। हमारा विवेक किसी सीमा तक चंचल हो उठा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे देश भक्त एवं राष्ट्र प्रेमी सज्जन भी इन सुख-सुविधाओं के कारण अंग्रेजी राज्य का विरोध करते समय थोड़ी बहुत दुविधा में पड़ गए थे, वह यह भली प्रकार जानते थे कि पराधीनता बहुत बड़ा पाप है, विदेशी-शासन देश के नाम पर बहुत बड़ा कलंक है, अंग्रेज देश का शोषण कर रहे थे,

देश को स्वतन्त्र होना ही चाहिए आदि। परन्तु साथ ही वह यह अनुभव भी करते थे, कि अंग्रेजी राज्य के कारण ही उसको विज्ञान की प्राप्ति हुई है—

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यही अति ख्वारी।

विज्ञान ने एकदम हमारी आँखें खोल दीं हमको अंधकार के बहुत बड़े गर्त से बाहर निकाल प्रकाश में खड़ा कर दिया। इसके विकास के साथ ही हमारे अज्ञान एवं अन्धविश्वासों का ह्रास आरम्भ हो गया।

जिन दिनों विज्ञान का आरम्भ हुआ, उन दिनों धर्म का स्वरूप बहुत कुछ विकृत हो चुका था, तथा धर्म के नाम पर हमारे समाज में अनेक अन्धविश्वास प्रचलित थे। विज्ञान के विकास ने उसके ऊपर कठोर आघात किया और हमारे जीवन में व्याप्त भय की मात्रा में बहुत कुछ कमी हो गई। परन्तु इसके साथ ही इसका एक बुरा परिणाम भी सामने आया। विज्ञान-वेत्ता ने धर्म के उसी विकृत एवं बाह्याचार सम्बन्धी अन्धविश्वासों को ही धर्म समझ लिया और वह धर्म का विरोधी बन गया—धर्म के नाम से उसको चिढ़ हो गई और उसके नाम-मात्र से वह बिदकने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म और विज्ञान प्रायः परस्पर विरोधी बन गए। धर्म अन्धविश्वास का द्योतक बन गया है और विज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान का। धर्म में बुद्धि का और विज्ञान में हृदय एवं विश्वास की कमी का भाव आ गया है। प्राचीन काल का वैज्ञानिक अनन्त शक्ति के प्रति विश्वासी था, आधुनिक वैज्ञानिक धर्म के नाम से बिदकने के कारण सर्वथा अविश्वासी बन गया है। हमारे भारतवर्ष में निरपेक्ष राज्य का ढिंढोरा उसका सबसे बड़ा अभिशाप है।

आधुनिक विज्ञान में विश्वास एवं श्रद्धा का अभाव होने के फलस्वरूप उसके दो प्रमुख व लक्षण स्पष्टतः दिखाई देते हैं—तर्क एवं विश्लेषण। स्थूल जगत को ही वह सर्वस्व मान चुका है, जो वस्तु अथवा प्रक्रिया उसको

अपनी ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं दिखाई देती है, उसके प्रति वह एक प्रकार से अविश्वासी बन गया है। अस्तु।

विज्ञान के चमत्कार और विज्ञान द्वारा प्राप्त लाभ प्रायः पर्यायवाची हैं। विज्ञान ने हमको रेल, जहाज, मोटर आदि परिवहन एवं आवागमन के साधन प्रदान किए हैं। जिन स्थानों की हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे, उन स्थानों तक हम कुछ ही दिनों में पहुँच जाते हैं जिन स्थानों पर हम वर्षों और महीनों की यात्रा के बाद पहुँच पाते थे, वहां अब हम कुछ ही घण्टों में पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार हमको तार, टैलीफून, केबिलग्राम आदि के रूप में संवाद-वहन के विपुल साधन प्राप्त हो गये हैं। दुनियाँ के किसी भाग के समाचारों को हम घर बैठे कुछ ही मिनटों में प्राप्त कर लेते हैं, संसार के किसी देश में रहने वाले व्यक्ति से टैलीफोन द्वारा बात कर लेते हैं, रेडियो के द्वारा उसका भाषण सुन सकते हैं और तो और, टैलीविजन के द्वारा हम उसका चित्र भी देखते रहते हैं। हजारों कोस मीलों पर बोलने वाला व्यक्ति हमको अपने सामने बोलता हुआ और बैठा हुआ दिखाई देता है। इङ्गलैंड में होने वाले क्रिकेट मैचों का आँखों देखा हाल रेडियो पर सुनते समय ऐसा लगता है कि मैच यहीं हमारे आस-पास हो रहा है। अपने घर बैठे हुए अथवा मोटर में सफर करते हुए हम रेडियो के द्वारा संसार के विविध भागों में गाये जाने वाले संगीत का रसास्वादन कर लेते हैं। सारांश यह है कि विज्ञान ने दुनियां को बहुत छोटा बना दिया है तथा मानव के उपयोग क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार कर दिया है। सारी दुनियां उसके लिए घर आंगन बन गई। मानव आज अपने आपको एक बहुत बड़े परिवार का अङ्ग समझने लगा है।

विविध प्रकार की मशीनों के बनजाने के फलस्वरूप मानव के विपुल श्रम की बचत होगई है। प्लेटें साफ करने से लेकर भारी से भारी बोझा उठाने का काम तथा दशमलव तक का हिसाब लगाने से लेकर सामान बेचने का काम मशीनें करने लगी हैं।

इतना ही नहीं विज्ञान ने मानव-समाज को मनोरंजन एवं शिक्षण का अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन सिनेमा दिया है। सिनेमा के माध्यम से अनेक

बहुमूल्य बातें सहज ही दिखाई जाती हैं सिनेमा और रेडियो के द्वारा मानव का बहुत सा समय बच जाता है तथा उसकी बहुत सी शक्ति का सदुपयोग होजाता है।

विज्ञान ने शल्य चिकित्सा तथा शरीर-विज्ञान के क्षेत्र में तो आश्चर्य-जनक कार्य कर दिखाया है। शरीर के किसी अङ्ग को काटकर उसकी जगह दूसरा लगा देना तो एक साधारण बन गया था। कृत्रिम गर्भाधान द्वारा शिशु-उत्पादन होने लगा है, मृत व्यक्तियों को जीवित करने के प्रयोग आंशिक रूप से सफल हो चुके हैं। अणु शक्ति का रचनात्मक कार्यों में प्रयोग विज्ञान का अन्तिम चमत्कार है। कौन कहता है कि अभी विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप मानव-समाज का कितना हित-साधन होगा?

परन्तु जैसा कि सामान्य नियम है। करतार ने जड़-चेतन को गुण-दोष मय बनाया है—संसार की प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, निरपेक्ष रूप में न कोई वस्तु अच्छी है और न बुरी ही। यही बात विज्ञान के विषय में भी समझ लेनी चाहिए। विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप मानव-समाज का काफी अहित भी हुआ है।

मशीनों के बढ़ने के साथ-साथ उत्पादन में वृद्धि हुई। इसके दो परिणाम हुए। कारखानों में काम करने वाले मजदूर खाली होगए और बेकारी की समस्या दिनों दिन भयंकर रूप धारण करती जारही है। उत्पादन की वृद्धि के साथ अपने माल को खपाने के लिए मण्डियों की खोज आरम्भ हुई। फलतः उपनिवेशवाद के रूप में संसार को एक अभिशाप भुगतना पड़ा। उपनिवेशों की सुरक्षा के लिए नाकेबन्दी की आवश्यकता पड़ती है। फलतः फौजें बढ़ीं और अस्त्र-शस्त्र पर होने वाले व्यय में वृद्धि हुई। विस्तारभय से अधिक न लिखकर केवल यही निवेदन कर सकते हैं कि पिछले दो भयंकर महायुद्ध विज्ञान की उन्नति के ही परिणाम थे और अब भी संसार के प्रायः समस्त देश युद्ध की तैयारियों में संलग्न हैं।

यातायात एवं संवाद-वहन के अनेक साधनों के आविष्कारों के कारण जहाँ एक ओर हमारे फासले कम होगए हैं, वहाँ दूसरी ओर हमारे दिलों के बीच का अन्तर दिनों दिन बढ़ता जाता है। एक साथ रहने,

उठने बैठने के बाद भी हम अजनबी बने रहते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ दिनों दिन बढ़ती जाती हैं और इस कारण वह सदैव स्वार्थ सिद्धि हेतु प्रयत्नशील बना रहता है। ये मशीनें इतना शोर करती हैं कि इनके बीच में बैठकर हम अपने पास बैठे हुए व्यक्ति की आवाज सुन ही नहीं पाते हैं।

ज्यों-ज्यों मशीनों की कार्य-क्षमता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों मानव से श्रम का मूल्य कम हो जाता है तथा उसकी कार्य क्षमता महत्वहीन होती जाती है। इसका परिणाम यह हुआ कि आज कल का मानव एक प्रकार की हीनत्व भावना से भर गया है।

विज्ञान के विकास के पूर्व वह भययुक्त था, वह भय से ग्रसित था। विज्ञान की उन्नति के पश्चात् उसके मन में प्रकृति की घटनाओं के प्रति भय में अवश्य कमी हो गई है, परन्तु मृत्यु का भय ज्यों का त्यों बना हुआ है। वैज्ञानिक नहीं बता सकता है कि इतने बड़े विश्व में, इस दृश्यमान जगत् की इस विस्तृत योजना में मानव का क्या महत्व है तथा मृत्यु के पश्चात् उसका क्या होगा। विज्ञान ने मानव को मानों एक चित्र का तो पूरा अध्ययन करा दिया है, सामने टंगे हुए चित्र का पूर्ण विश्लेषण कर डाला है, परन्तु यह बताने का प्रयास नहीं किया है कि उस चित्र को किसने बनाया है अथवा उसको बनाने वाला कैसा है। विज्ञान के इस अधूरे पन का यह परिणाम है कि मानव को अपने भविष्य के प्रति कोई आस्था नहीं रही है वह जब संसार के झंझटों से ऊब जाता है, तब अध्यात्म चर्चा के रस में निमग्न न होकर शराब आदि पीकर अपना गम गलत कर लेता है। सारांश यह कि विज्ञान के इस युग का मानव भयग्रस्त होने के अतिरिक्त हीनत्व भावना का शिकार होकर किसी सीमा तक पलायनवादी बन गया है।

हम कहते हैं कि रेल, मोटर, यातायात, वायुयान, रॉकेट आदि के फलस्वरूप हम बहुत तेजी के साथ यात्रा करने लगे हैं, हमारी गति, चाल speed बहुत बढ़ गई है। परन्तु हम इसके दूसरे पक्ष को कदाचित् देखने की कोशिश भी नहीं करते हैं। गति की तीव्रता के अनुपात में दुर्घटनाएँ

होनेलगी हैं और हमारा जीवन अधिकाधिक संकटमय होता जा रहा है। हमको पग-पग पर खतरा दिखाई देता है, हर घड़ी मौत का भय बना रहता है। यात्रा करने के समय दुर्घटना बीमा (Accident Policy) की चिंता होती है। पीठ देखकर मुँह देखना कठिन होगया है, वह संयोग की बात बन गई है। जब कोई हमारा प्रियजन कहीं को जाने लगता है, तो हमें यही खैर मनानी पड़ती है कि रेल या जहाज किसी प्रकार सही-सलामत पहुंच जाएँ। आजकल के परिवहन इतने तीव्रगामी बन गए हैं कि यात्री का जीवन सदैव खतरे में ही बना रहता है।

चिकित्सा शास्त्र ने एक ओर रोगों को अच्छा करने का शुभ कार्य किया है, वहां दूसरी ओर अनेक नवीन रोगों को जन्म दिया है—क्योंकि दवाओं के सेवन तथा विभिन्न रूपों में कृत्रिम भोजन के फलस्वरूप मानव की सहन शक्ति, रोगों से संघर्ष करने की शक्ति कम हो गई है। कृत्रिम गर्भाधान, संतति निरोध आदि के साधनों ने हमारी काफी सहायता की है। खेती बारी, जानवरों की नसल के सुधार, परिवार नियोजन आदि के क्षेत्रों में हमको बहुत सहायता मिली है। परन्तु इसका एक बुरा परिणाम भी हुआ है कि आचरण में व्यभिचार का समावेश हो गया है। जो काम छिपकर और आँख बचाकर एवं डर कर किए जाते थे, वे पूरे हुनर के साथ, खुलकर डंके की चोट किए जाने लगे हैं। अस्तु।

विज्ञान की उन्नति ने हमको अनेक ऐसे यन्त्र दिये हैं जिनके प्रयोग द्वारा हमारी कार्य क्षमता काफी बढ़ गई है। परन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप अपराधों में वृद्धि हुई है। आदमी को मिलावट करने, धोखा देने, ठगने, चोरी करने, जेब काटने आदि के अनेक नए-नए तरीके मालूम हो गए हैं। पहले आहट होते ही चोर भाग जाता था—चोर के पाँव कितने? परन्तु अब वह बात नहीं रही है। आजकल के चोर केवल चोरी करने ही नहीं, वे सीना जोरी करने निकलते हैं। एसीटलीन फ्लेम आदि साधनों से सुसज्जित होने से वे मजबूत से मजबूत दरवाजा या सन्दूक तोड़ सकते हैं और हाथ में पिस्तौल आदि होने से वे ललकारने वाले का काम तमाम कर सकते हैं।

सिनेमा से होने वाली हानियाँ सर्वविदित हैं। उनके कारण हमारे देश के नाटक रामलीला आदि को भारी धक्का लगा है। एक सिनेमा ही क्या, विज्ञान के चमत्कारों ने हमको मशीनों का आश्रित बना दिया है। हम एक दम आलसी हो गए हैं और साथ ही हमारे कुटीर उद्योग-धन्धे, हमारे देश के छोटे-बड़े अनेक धन्धे नष्ट हो गये हैं। इसी का यह परिणाम है कि हमारे देश में बेकारी और भुखमरी की समस्या दिनों दिन बढ़ती जा रही है। एक हमारा देश ही क्या, अपने निवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति की समस्या आज प्रातः प्रत्येक देश के वित्तमन्त्री के सम्मुख अट्टहास कर रही है।

अणुशक्ति का प्रयोग यद्यपि रचनात्मक कार्यों में होना आरम्भ होगया है, तथापि उसके द्वारा जन-संहार का ही विधान किया जा रहा है। प्रत्येक उन्नतिशील देश आए दिन अणुबम्ब Atom Bomb का विस्फोट एवं परीक्षण करके इस दिशा में प्रयत्नशील है कि ये बम्ब अधिकाधिक विनाशकारी बन जाएं। विज्ञान की उन्नति ने मानव को अविश्वासी एवं सशंक बना दिया है। वह शान्ति स्थापन की बातें तो करता रहता है, परन्तु युद्ध की तैयारियां करत रह कर। उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि विज्ञान के चमत्कार सर्वथा आश्चर्यजनक हैं; वे हमारे जीवन के विविध क्षेत्रों में काफी उपयोगी भी सिद्ध हुए हैं। परन्तु हमारा निश्चित मत यह है कि उन्होंने हमारी जीवन को सुखमय और सङ्कटमय दोनों ही बना दिया है। बिजली हमें प्रकाश देती है तथा हमारे अन्यान्य कार्य करती है, परन्तु हम यह क्यों भूल जाते हैं कि यह न मालूम कितने व्यक्तियों को आए दिन डसती रहती है?

हमारे कहने का प्रयोजन यह नहीं हैकि विज्ञान हमारे लिए अनुपयोगी एवं त्याज्य है। हमारा मत है कि विज्ञान सर्वथा उपयोगी एवं ग्राह्य है। परन्तु शर्त यह है कि उसका उपयोग ठीक प्रकार से किया जाय। हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, इसी कारण हम उसका गलत प्रयोग करते हैं। अग्नि प्रत्येक वस्तु को शुद्ध एवं पवित्र करने का कार्य करती है। उसके

द्वारा यदि कोई अपना हाथ जलावे, तो इसमें बेचारी अग्नि का क्या दोष है ? उस्तरे के ब्लेड से हजामत बनाई जाती है। कोई अनारी अपनी उंगली काट ले, इसमें बेचारे ब्लेड का क्या दोष है ?

इतना सब होने पर भी हम इतना अवश्य निवेदन करेंगे कि विज्ञान का अध्ययन सर्वथा स्थूल में सीमित है और आध्यात्मिक चर्चा का वह विरोधी है। इसी कारण औसत आदमी अर्थवादी, भौतिकवादी, एवं स्वार्थी बन गया है। विज्ञान में श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति प्रायः अविश्वासी एवं कटुवादी देखे जाते हैं। विज्ञान का कर्त्तव्य है कि वे अपने अध्ययन को श्रद्धा और विश्वास की चशक में पर्यवेष्ठित करने लगें। धर्म भावना के आते ही हम अपने स्वार्थों के लिए न तो अपने पड़ौसी का शोषण ही करेंगे और न विनाशकारी अस्त्रों का प्रभाव देखने के लिए अनेक पशुओं की हत्या ही करेंगे।

आधुनिक वैज्ञानिक हृदय के अभाव में पशुवत् हो गया है। उसको चाहिए कि अपनी बुद्धि के साथ अपने हृदय-श्रद्धा का समन्वय करे। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर हमारे मन में दया करुणा और मैत्री के भाव जाग्रत होंगे और संसार में उपस्थित संकटों का निराकरण सम्भव होगा। बुद्धि-वाद के अतिरेक के कारण वैज्ञानिक की दृष्टि में मानव फोस्फोरस कैल्शि-यम, आयरन आदि के द्वारा निर्मित केवल एक चलता—फिरता पुतला ही है। धर्म-भावना समन्वित होने के फलस्वरूप वह मानव का सम्यक् मूल्यां-कन कर सकेगा, उसको उसके उपयुक्त आसन पर प्रतिष्ठित कर सकेगा और तभी विज्ञान के ये विपुल चमत्कार हमारे जीवन को चमत्कार पूर्ण बना सकेंगे, समाज में अपना सक्रिय चमत्कार उत्पन्न कर सकेंगे।

(३३) पर्वत-यात्रा का वर्णन

मेरी मसूरी यात्रा

रूप-रेखा—

(१) जाने का कारण तथा समय।
(२) मार्ग का वर्णन एवं वहाँ के दृश्य।
(३) मसूरी का वर्णन।
(४) यात्रा से लाभ व हानि।
(५) उपसंहार।

गर्मी की छुट्टियाँ हुईं, कॉलेज, स्कूल बन्द होगए। विचार हुआ कहीं बाहर घूम आएं। बस, मसूरी जाने का निश्चय कर लिया और सैर-सपाटा एव घूमने-फिरने के विचार से हम सब लोग मसूरी के लिए रवाना होगए।

आगरा से देहरादून की यात्रा रेल द्वारा हुई। मई का आरम्भ था, बड़े कड़ाके की गर्मी थी। कभी-कभी जी घबड़ाने लगता था। रेल में बे हिसाब भीड़ थी। कभी कभी तो इतनी अधिक होजाती थी मानों डिब्बे में बोरियाँ ठूँस दी गई हों।

दूसरे दिन प्रातः काल हमारी रेल हरिद्वार पहुँची। वहाँ काफी भीड़ छट गई और मौसम भी अपेक्षाकृत कुछ सुहावना हो गया। वहाँ हमको ऐसा प्रतीत होने लगा कि हम किसी भिन्न वायुमण्डल अथवा प्रदेश में आ गए थे। हरिद्वार से रवाना होते ही मानो हमने सचमुच पर्वत-प्रदेश में पदार्पण किया। हमारी रेल को पर्वतों के बीच बनी हुई सुरंगों में होकर निकलना पड़ा। ये सुरंगें पर्वतों को काटकर बनाई गई थीं। इसमें घनघोर अंधकार था, सूर्य की किरणें कदाचित ही उसके भीतर प्रवेश कर पाती हों। उनके बीच में होकर जब रेल निकलती थी, तब डिब्बे में लगी हुई बिजली की बत्तियाँ जल जाती थीं और हमको अपने दोनों ओर पर्वत की बनी हुई दीवाल दिखाई देती थी। उनमें प्रतिध्वनित रेल की आवाज कभी-कभी भय उत्पन्न कर देती थी।

एक बात और, हरिद्वार से हमारी रेल में अतिरिक्त ऐञ्जिन जोड़ दिया गया था—यानी बजाए एक ऐञ्जिन के दो ऐञ्जिन रेल को खींच रहे थे। हम अनुभव कर रहे थे कि हम ऊंचे चढ़ते जा रहे हैं, हमारी रेल चढ़ाई की ओर चली जा रही थी। कह नहीं सकते कि उक्त अनुभव वास्तविक था या दो ऐंजिनों को देख लेने के कारण उत्पन्न हुआ केवल मनोवैज्ञानिक प्रभाव। जो भी हो, रेल की खिड़कियों में से अब खेतों के साथ-साथ पहाड़ भी दिखाई देने लगे थे। ये पहाड़ कभी पास आ जाते थे और कभी काफी दूर चले जाते थे। सुनिश्चित रूप से हम क्रमशः मैदान छोड़ते जा रहे थे और पर्वतीय प्रदेश की ओर प्रतिक्षण बढ़ते जा रहे थे।

प्रातः ८॥ बजे के लगभग, हम देहरादून रेल्वे स्टेशन पर उतरे। उतरते-उतरते हमको विदित हो गया कि हम सर्वथा भिन्न वातावरण में थे। कुली हमसे 'साहब' कह कर बात करते थे और 'हुजूर' कहते कहते उसका मुहँ सूखा जा रहा था। हमें भी अपने मन में गर्व हो चला कि हम भी कुछ हैं, हमारी गिनती भी साहब लोगों अथवा पैसे वालों में थी। और ऐसा क्यों न होता? पहाड़ की सैर को केवल वे ही जाते हैं जिनके पास खाली वक्त होता है और साथ ही ठगाने को पैसा। वर्षों से मजदूरी करते रहने वाले कुली इस स्थिति को समझते थे और वे मानव के 'अहं' को जाग्रत करने वाले कुशल कारीगर बन चुके थे। उनका व्यवहार फिजूल खर्ची की ओर हमको झुका देने के लिए काफी था। मजदूरी के अतिरिक्त इनाम अथवा बख्शीश उनका हक था और यात्री को कुछ ऊँचा चढ़ा देने के हुनर में वे बहुत ही कुशल थे।

देहरादून स्टेशन के वेटिङ्ग रूम में हम लोग अपने नित्य-कर्म से निवृत्त हुए और वहाँ का Forest School (वन सम्बन्धी शिक्षा देने के स्कूल) देखने के लिए चल दिए। वह स्कूल लगभग ३, ४ मील की दूरी पर है। वह स्कूल अपने ढङ्ग का निराला ही है। कहते हैं कि वह संसार के सर्व-श्रेष्ठ Forest Schools में से एक है। अध्यापक बहुत ही सुशिक्षित प्रतीत हुए। उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक हमारा स्वागत किया और हमको प्रत्येक बात और हर एक चीज समझा-समझा कर पूरा स्कूल दिखाया। हम स्कूल

देखते जाते थे और सोचते जाते थे कि मानव की विलक्षण बुद्धि ने मानव की शक्ति को अपरिमेय बना दिया है वन के जन्तु के, वन के पेड़ पौधों तथा यहाँ उगने वाली वनस्पति के विषय में विपुल ज्ञान प्राप्त करना वास्तव में आश्चर्यजनक कार्य था। उन्होंने हमको वन के पेड़-पौधों की किस्मों, नस्लों, उनकी बीमारियों आदि के विषय में इतनी बातें बताईं कि हम देखने रह गए।

वहाँ के अध्यापकों एवं वहाँ शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों—अथवा वन-विभाग के भावी अफसरों—का जीवन बहुत ही व्यवस्थित है। उनका जीवन—आहार—विहार सब कुछ—सर्वथा नियमित एवं संयमित है। प्रकृति की गोद में रहने वाले उन व्यक्तियों में अधिकांश स्वस्थ एवं प्रसन्नचित्त दिखाई देते थे। उनके मुख-मण्डलों में प्रकृति अपनी आभा बिखेरती-सी जान पड़ती थी। सब कुछ देख कर, थोड़ा-बहुत समझ कर तथा आदर सत्कार एवं सद्भावनापूर्ण व्यवहार के लिए उनको धन्य-वाद देकर हम लोग वहाँ से वापिस लौटे। रास्ते में मैं बराबर यही सोचता रहा कि प्रकृति की गोद में इतने दिनों तक रहने वाले ये शिक्षार्थी अपने नागरिक जीवन में प्रवेश करते ही एक साथ क्योंकर बदल जाते हैं। प्रकृति की भाँति ये निश्छल क्यों नहीं बने रहते हैं? रेंजर अथवा डी० अफ० ओ० बनते ही इन्हें ऊपर की आमदनी के प्रति क्यों आकर्षण होजाता है? जिस वन का विज्ञान इनके मस्तिष्क का इतना विकास करता है, उसी वन में चाकरी का जीवन इनको कर्त्तव्य-परायण क्यों नहीं बना पाता है? इन्हीं सब विचारों के झूले में झूलता हुआ मैं परिवार सहित स्टेशन पर आगया। एक टैक्सी द्वारा हम लोग मसूरी के लिए रवाना हुए।

देहरादून शहर को पार करते ही हम लोग पर्वत प्रदेश में प्रविष्ट हो गए। सड़क सामने की ओर क्रमशः ऊँची दिखाई देने लगी थी, खेतों का क्षेत्रफल छोटा होने लगा था और चौरस मैदान की जगह पहाड़ों का प्रभुत्व क्रमशः बढ़ता जाता था। लगभग आधा घण्टे की यात्रा के पश्चात् हम लोग राजपुर पहुँच गए। राजपुर मसूरी से लगभग ७ मील की दूरी पर है।

राजपुर के आगे मैदान बिल्कुल समाप्त हो जाता है। इसके आगे विशुद्ध पर्वत-प्रदेश है और पर्वतमाला अपने प्रकृत रूप में प्रकट होती है।

यहाँ से मसूरी के लिए एक पगडंडी जाती है। इस पगडंडी के द्वारा मसूरी लगभग ५-६ मील है, जबकि सड़क के द्वारा लगभग १७-१८ मील चलना पड़ता है। जो लोग पैदल जाना चाहते हैं अथवा जिनके पास मोटर के सफर के लिए पैसे नहीं होते हैं, वे लोग यहीं उतर जाते हैं और यहाँ से अपने पैरों के भरोसे मसूरी की ओर चढ़ने लगते हैं।

ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जाते थे, त्यों-त्यों पहाड़ों की ऊँचाई बढ़ती जाती थी, सड़क के दोनों ओर खड़े हुए वृक्षों की संख्या और उनकी ऊंचाई में वृद्धि होती जाती थी और साथ ही सड़क की वक्रता भी बढ़ती जाती थी। सड़क की बनावट बिल्कुल जीने की सीढ़ियों की भाँति थी। ऊपर ले जाने वाली सड़क विभिन्न भागों में हमें अपने सिर के ऊपर दिखाई देती थी। ऊपर के हिस्सों में किसी मोटरकार आदि को देख कर हम एक दूसरे की ओर इशारा करते थे। सड़क में न मालूम कितने मोड़ थे? ज्यादा से ज्यादा १५ गज तक की लम्बाई तक सड़क सीधी थी। वरना, यह नागिन की तरह बल खाती हुई ऊपर की ओर चढ़ती चली जा रही थी।

लगभग ३ मील आगे की ओर बढ़ने अथवा सड़क पर चढ़ने के बाद हमारे चारों ओर का दृश्य यह था कि हमारे एक ओर तो ऊँचा पहाड़ था और दूसरी ओर गहरी खाई अथवा खूब गहरे गड्ढे, जिनमें नीचे से ऊपर तक बराबर घना जंगल था। इन पेड़ों के तने बहुत ही सुदृढ़ थे तथा वे सीधे ऊपर की ओर जाते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि वे पूरी सतर्कता के साथ खड़े हुए संतरी की भाँति इस रमणीक प्रदेश की चौकसी कर रहे थे। सड़क पर चलते हुए कभी-कभी डर लगने लगता था। एक ओर खाई थी और दूसरी ओर यद्यपि कुँआ नहीं था, तथापि ऊँचा पहाड़ था। ड्रायवर यदि असावधानी करे तो मोटर गड्ढे में जायगी और यदि प्रकृति कोप करे तो पहाड़ सिर पर टूट पड़े। इसके अतिरिक्त सामने से आती हुई सवारियों से टक्कर होने का बहुत डर लगता था। सड़क के मोड़ इतने घुमावदार थे कि सामने से आती हुई मोटर अपने ऊपर ही आती हुई लगती थी। परन्तु वाह रे मानव! तू पर्वत को काट कर सड़क

बनाने में जिस साहस और कला का परिचय देता है, उसी सफाई के साथ नू उन सड़कों का स्तैमाल भी कर लेता है। क्या मजाल कि कोई भी ड्रायवर अपने बाएँ हाथ को छोड़ दे। दोनों ओर से जाने वाले ड्रायवर बराबर हॉर्न बजाते थे और अपने दाएँ बाएँ देखते हुए अपनी सवारियों को बाईं ओर चलाते हुए आकाश की ओर चढ़ते चले जा रहे थे।

अब हम पहाड़ों के बीच में थे। यहाँ का दृश्य सर्वथा अनुपम था। ऊपर की ओर तथा सामने दूरी पर बादल दिखाई देने लगे थे। सामने ऐसा लगता था कि समुद्र भरा हुआ था और दूर पर्वतों की चोटियों पर दृष्टि पड़ते ही यह प्रतीत होता था मानों पर्वत से धुँआ प्रकट हो रहा था। उसमें से धुँए की अविच्छिन्न धारा सी प्रकट हो रही थी और मुझको नैयायिकों को पर्वतोवह्निमान् वाली बात याद आ रही थी। बादल की भाप पर्वत का स्पर्श प्राप्त कर जमने अथवा जलरूप में परिणित होने वाली होती थी और वही दूर से धुएँ की धारावत् प्रतीत होरही थी।

इन दृश्यों को देखते हुए प्रकृति की रमणीयता का आनन्द लेते हुए हम लोग आगे बढ़ते चले जा रहे थे। रास्ते में मोटर के एक-दो स्टेशन भी पड़े। ये स्टेशन क्या थे मानों १५-२० मकानों वाले छोटे छोटे गाँव थे। इन स्टेशनों को पहाड़ी लोग चट्टियाँ कहते हैं। इन चट्टियों के दर्शन के साथ ही पहाड़ी लोगों अथवा उस प्रदेश के निवासियों के दर्शन हो गए। ये लोग बहुत ही निर्धन एवं फटे-हाल थे। फटा टाट, गूदर आदि को सीकर किसी प्रकार अपना तन ढके हुए थे। इनकी आँखों से गरीबी टपकती दिखाई देती थी, वे करुणा की प्रतिमूर्ति थे। मोटर में बैठे हुए तथा साफ और साबित कपड़े पहने हुए हम लोगों को वे बड़े ही ध्यान से देखने लगते थे। बेचारे हमसे ईर्ष्या तो क्या करते होंगे। परन्तु अपने भाग्य को अवश्य ही कोसते होंगे। जो भी हो, वे हमारी ओर भौंचक एवं अवाक् देखते रहते रहते थे। उनमें कोई कोई हमारी ओर हाथ उठाकर 'साहब सलाम' भी कर लेता था। वे लोग अपनी पीठों पर बोझा ढोने का काम कर रहे थे—गरीबी का बोझा अथवा समर्थों द्वारा किए गए शोषण का बोझा।

उनका महिला वर्ग काफी सुन्दर था। उनके सौन्दर्य में प्रकृति के सौन्दर्य एवं मानव के अभिशाप का विचित्र सम्मिश्रण दिखाई देता था; उनका जीवन निर्धनता एवं सन्तोष का सुन्दर सामंजस्य प्रतीत होता था। उनको देखकर मुझे ऐसा लगा था कि किसी निर्दयी ने मानो पाटल-प्रसूनों को मसल डाला हो।

थोड़ी देर बाद, राजपुर से रवाना होने के लगभग आधा घन्टा बाद हमारी मोटर चुंगी की चौकी पर रुक गई। यहाँ से मसूरी की हद आरम्भ होती है। हमने ड्राइवर से कहा कि कहदो हमारे पास चुंगी का अथवा महसूली सामान नहीं है। हमारी बात सुनकर ड्राइवर ने अपनी आँखों द्वारा प्रकट किया कि हम पहली बार ही मसूरी आए हैं। वह बोला यहाँ फी आदमी २) के हिसाब से टौल टैक्स (Tolltax) देना होगा। हमको उसकी बात सुनकर बहुत ही आश्चर्य हुआ। हमने माल-असबाब पर चुंगी लगते देखा था, आदमी पर चुंगी लगते आज ही सुन रहे थे। इतने में ही चुंगी वसूल करने वाला कर्मचारी हमारे सामने आ खड़ा हुआ। हमने उससे पूछा कितने रुपये? "साहब सात रुपये" उसका सहज उत्तर था। क्यों, हम ढाई सवारियों के पाँच रुपये ही तो हुए? जी साहब! परन्तु यहाँ ड्राइवर का भी टैक्स लगता है।

मसूरी की हद में घुसने का टैक्स देकर हम मसूरी की सीमा में दाखिल हुए। हमारे दिमाग में यकायक यह बात आई कि यह तो महसूली है। यहाँ तो अभी से महसूल लगना शुरू हो गया। कदाचित महसूली से ही बिगड़ कर मसूरी बन गया होगा। इसके साथ ही हमारे दिमाग में भुवाली यात्रा के दृश्य घूम गए। भुवाली में खाने पीने की चीजों का कष्ट देखकर हमने यही कहा था कि इसका नाम तो भुवाली की जगह अगर हवाली रखा जाय तो अति उत्तम हो। अस्तु।

हम लगभग १ मील ही आगे बढ़े होंगे कि ड्राइवर ने मोटर रोक दी और बोला कि यह 'ठण्डा पानी' है। यहाँ पानी पीजिए। इस झरने का पानी बहुत ही स्वादिष्ट एवं ठण्डा है। हमने नीचे उतर कर उस झरने का पानी पिया। झरना जिस गर्व के साथ बह रहा था, उसी गर्व के साथ

वह कल-कल की मधुर ध्वनि भी कर रहा था। उसके रूप के अनुरूप ही उसके गुण थे। उसके पानी की मधुर शीतलता के सम्मुख बर्फ का ठण्डा पानी पानी भरता था। उसको पीकर हम तृप्त हो गए। झरने से मोटर की ओर आते समय हमको ठण्ड मालूम होने लगी। हवा में शीतलता का अनुभव होने लगा—कार्तिक अथवा फाल्गुन की शीतल वायु का आनन्द आ गया। आवश्यकता हुई कि कोई भारी कपड़ा अथवा ऊनी कपड़ा पहिन लिया जाय। प्रथम बार हमने यह अनुभव किया कि एक भिन्न लोक में पहुँच गए थे। कहाँ जेठ मास की आग बरसाने वाली धूप और शरीर को झुलसाने वाली गर्मी, और कहाँ शरद-सुषमा का यह आनंद! कल इस समय, आगरा में हम तप रहे थे, अभी १ घण्टा पहिले देहरादून में हम लस्सी पीते हुए पसीना-पसीना हो रहे थे और कहाँ हम ऊनी कपड़ों का प्रबन्ध कर रहे हैं? यह सर्वथा उपयुक्त ही है जो हमारे अधिकांश देवता पर्वतीय स्थानों में ही निवास करते हैं। यहाँ न शहरों की धूल-धक्कड़ है, न वहाँ का शोरगुल और न चित्त को व्याकुल कर देने वाली गर्मी ही है।

अब हमको इधर-उधर बने हुए मकान दिखाई देने लगे। कोई दो मकान बराबर, एक स्थान पर बने हुए न थे। ऊपर, नीचे, जहाँ भी जरासी चौरस जमीन मिल जाती है, पहाड़ों पर वहीं मकान बना लिए जाते हैं। हर मकान का रास्ता अलग रहता है। इन मकानों को देखकर हमारा ध्यान आदमी के पुरुषार्थ की ओर चला ही जाता है। इतनी दूर इतनी ऊंचाई तक मकान बनाने का सामान पहुँचाने में कितनी असुविधा न हुई होगी? इस एकान्त में स्थित मकानों के निवासी अपनी आवश्यक वस्तुएँ किस प्रकार लाते होंगे? यहाँ तो एक बार के आने जाने में ही शरीर चकनाचूर हो जाता होगा? फिर जानवरों का भय, चोरी-चकारी का डर। लोग कहते हैं पहाड़ों पर चोरी नहीं होती। पहाड़ी लोग चोर नहीं होते। परन्तु पहाड़ के निवासियों के अतिरिक्त व्यक्ति भी तो यहाँ आते-जाते रहते ही हैं। इन्हीं सब विचारों के झूले में झूलता हुआ मैं आगे की ओर, ऊपर की ओर बढ़ता चला जा रहा था। इतने में ही मसूरी का बस स्टैण्ड किंग्क्रे आ गया।

किंग्के की छटा ही निराली थी। चारों ओर मोटरों, रिक्शों तथा मजदूरों का जमघट था। साहब! कुली? साहब! रिक्शा? साहब! होटल? आदि की आवाजें गूँज उठीं। सब के सब हम से इस तरह बातें करते थे मानों हम कामधेनु हों। हमें एक बार तो यह भ्रम होने लगा कि ये इतने आदमी मानों हमारे ही इन्तजार में खड़े थे।

हम दो महीने तक मसूरी में कहाँ रहे और किस तरह रहे इन बातों के उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। हमें तो केवल इतना ही कहना है कि मसूरी की दुनियाँ दूसरी ही थी। लोग वहाँ जाकर इस प्रकार रहते हैं मानो भारतवर्ष में न कोई निर्धन है और न कोई कुरूप ही। इतना होने पर भी लोगों की नैतिकता का स्तर पूर्ववत् ही बना रहता है। वही बिना देखे भाले थूकना, वही रास्ता चलते हुए मूंगफली के छिल्के फैंक कर सड़क को गन्दा करना, वही बेईमानी और वही गंदगी। वहाँ तो अंग्रेजियत अथवा साहबियत की एक बात दिखाई देती है। वह है अल्सेशियन कुत्ते पालना और उनसे अंग्रेजी में बातें करना।

मसूरी प्रकृति की गोद में है। वहाँ न अधिक सर्दी रहती है और न अधिक वर्षा ही होती है। अतः वहाँ का मौसम बहुत ही सुहावना रहता है। प्रातः और सायं वहाँ के कुछ स्थानों से हिमालय पर्वत की हिमाच्छादित चोटियाँ दिखाई देती हैं। उन पर जमे हुए हिम-खण्ड रजत-निर्मित भवन से प्रतीत होते हैं।

मसूरी की ऊंचाई प्रायः बादलों की ऊंचाई के बराबर है। बादलों का हवा के साथ इधर-उधर जाना, ऊपर-नीचे घूमना, कभी-कभी मकानों में घुस आना चित्त को बहुत ही पुलकायमान बनाता रहता है। कभी-कभी बादल मसूरी की ऊंचाई की अपेक्षा कुछ ऊंचाई पर छा जाते हैं। उस समय हम बादलों के ऊपर होते हैं और उनको ऊपर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो हम किसी सागर के तट पर खड़े हों। यह दृश्य प्रायः उस दिशा में होता है जिधर देहरादून है। अथवा यों कहिये कि बादल जब देहरादून के आसपास वर्षा करने के लिए कुछ नीचे उतर जाते हैं, तभी उक्त दृश्य उपस्थित हो जाता है। इस दृश्य की शोभा का वर्णन करने के लिए कवि का हृदय अपेक्षित है।

पर्वत माला के बीच पूर्व से पश्चिम तक लगभग १०—१२ मील की लम्बाई में मसूरी बसी हुई है—बड़ी ही साफ-सुथरी और चमकदार। वह सचमुच पर्वतीय स्थानों की रानी है।

लगभग दो महीने बाद, मसूरी को छोड़ कर और उसकी मधुर-स्मृति को अपने साथ लेकर हम लोग मोटर द्वारा नीचे उतरे। जैसे-जैसे नीचे उतरते जाते थे, वैसे-वैसे गर्मी और परेशानी बढ़ती जाती थी। देहरादून के स्टेशन पर ऐसा प्रतीत हुआ था कि मानों हम किसी दहकती हुई भट्टी के सामने आकर खड़े हो गए थे। जब हम मसूरी में थे तब सन्ध्या समय प्रातः मालरोड पर खड़े होकर देहरादून को देखा करते। थे देहरादून में जलने वाली बत्तियों को देख कर किसी दूरवर्ती नगर में होने वाली दीप-मालिका का विस्मयजनक आनन्द-लाभ किया करते थे। देहरादून में रहने वाले हमारे कतिपय मित्रों ने हमसे आग्रह किया कि हम एक रात रुक कर देहरादून से मसूरी की शोभा को देखकर अपने आँखों का लाभ प्राप्त करें। मसूरी केवल लम्बाई में ही बसी हुई है तथा उसके मकान ऊपर नीचे, एक चक्करदार मार्ग के सहारे बसे हुए हैं। रात के समय जलने वाली बत्तियों को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों पर्वतमाला ने दीपकों की एक लम्बी माला धारण कर रखी हो।

हमको उसी दिन चल देना था—रुकने के लिए हमारे पास समय न था। अतः हम उस रात को वहाँ ठहर कर मसूरी की रात्रिकालीन छटा को न निहार सके। यह अभाव हमें आज तक खटकता रहता है। क्या ही अच्छा हो यदि शुभ-ज्योत्सना में दीप माला धारण करने वाली मसूरी की मुस्कराहट की छटा का आस्वादन हम कभी कर सकें?

जो भी हो, गर्मी की छुट्टियाँ आते ही हमको अपनी इस यात्रा का स्मरण हो आता है। ज्ञान-वर्द्धन; शिक्षा, मनोरंजन, स्वास्थ्य लाभ, सभी दृष्टियों से उक्त यात्रा सफल एवं उपयोगी थी।

(३४) हमारे लोक-गीत

रूप-रेखा—

(१) लोक गीतों का अभिप्राय।
(२) लोक-गीतों का इतिहास।
(३) जीवन में स्थान एवं प्रभाव।
(४) संदेश एवं उपयोग।
(५) इनके अध्ययन की आवश्यकता।
(६) उपसंहार।

लोक-गीत काव्य के अलिखित स्वरूप का एक महत्वपूर्ण अङ्ग हैं। इनके द्वारा जन-साधारण ने अपने भावों तथा अपनी मान्यताओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है। ये परम्परागत सम्पत्ति के रूप में हमको प्राप्त हैं तथा किसी ने कभी एक साथ बैठकर इन गीतों को नहीं लिखा। वस्तुतः लोक-गीत किसी एक कवि की रचना न होकर सामूहिक रूप से रची गई रचनाएँ हैं। इनकी रचना स्वतः होती है। इनका संबंध श्रुति से है।

लोक-गीतों के रचयिता अज्ञात हैं। किसी लोक गीत के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह किस अथवा किन महानुभावों द्वारा विरचित है। इसके दो कारण हो सकते हैं। या तो एक ही गीत की रचना में विभिन्न व्यक्तियों का योग रहा हो अथवा जन-सामान्य की औसत बात कहने के कारण रचयिता अथवा रचयिताओं ने अपने नाम प्रकट करने की आवश्यकता न समझी हो।

लोक-गीतों की परिभाषा निर्दिष्ट करना एक दुस्तर कार्य है। किस रचना को लोक-गीत कहा जाए और किसको नहीं—यह निर्णय अत्यधिक कठिन है। हमारे मतानुसार जिन गीतों को हम परम्परा से सुनते चले आए हैं तथा जिनमें हमको समय-समय के जीवन की झाँकी एवं सजीवता के दर्शन होते हैं, उन्हीं गीतों को लोक-गीत कहा जाना चाहिए।

लोग गीतों के स्वरूप को स्पष्ट करने का विभिन्न विद्वानों ने प्रयास किया है। उनमें कतिपय महानुभावों के विचार यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

डा० यदुनाथ सरकार लिखते हैं—

Rapidity of movement, simplicity of diction, primary emotion of universal appeal, action rather than subtle analysis, broad, striking characterisation, thumb nail sketches of back-ground and the sparest use (or rather complete avoidance) of literary artifices, these are the essential requisites of the true ballad.

श्री आर० वी० विलिम्ज ने लिखा है—

A folk song is neither new nor old, it is like a forest tree with its roots deeply buried in the past, but which continually puts forth new branches, new leaves, new fruits."

अर्थात् 'लोक-गीत न पुराना होता है न नया; वह तो जंगल के एक वृक्ष के समान होता है जिसकी जड़ें तो धरती में दूर तक (भूतकाल) में धँसी हुई होती हैं, किन्तु जिसमें नित्य नई-नई डालियाँ, पल्लव, और फूल लगते रहते हैं। श्री ग्रिम ने ठीक ही कहा था कि लोक गीत अपने आप बनते हैं।'

लोक गीत वस्तुतः मानव का उल्लास-मय संगीत है। आदि-मानव के मन में जब उल्लास का संचार हुआ होगा, तब उसने अपने आह्लाद को लोक-गीत के माध्यम से ही व्यक्त किया होगा। विशेष अवसरों पर, घटनाओं के घटित होने पर हम और हमारे परिवार की स्त्रियाँ प्रायः कुछ गाने अथवा छन्द जोड़कर गाने लगते हैं। इन गानों में यथा समय संशोधन एवं परिवर्द्धन होते रहते हैं। बस लोक-गीत की रचनाओं का संक्षेप में यही क्रम ठहरता है। चूर्ण वालों के लटके, कौन कह

सकता है कब और किसने बनाए। परन्तु 'चना जोर गरम बाबू मैं लाया मजेदार' अथवा इसको 'खाएँ बङ्गाली। जिनकी धोती ढीली ढाली' आदि वाक्य हम प्रायः सुनते रहते हैं। इस प्रकार के लटके ही लोक-गीत नहीं हैं, लोक-गीतों का स्वरूप बहुत ही श्रेष्ठ एवं उन्नायक है। परन्तु इस प्रकार के लटके भी इन्हीं का एक अङ्ग विशेष हैं। अस्तु।

"गुफाओं में पनपते हुए मानव में जब थोड़ी बहुत बुद्धि आई और उसके आधार पर उसमें भावनाओं के अंकुर फूटे तो उन भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उसने विकृत-अलाप लेना आरम्भ किया। यही आदि संगीत पेरी के शब्दों में, लोक-गीत है। समस्त जन-समाज में चेतन-अचेतन रूप में जो भावनाएँ गीतबद्ध होकर व्यक्त हुईं उन्हीं को लोक-गीत का नाम दिया गया।"

सारांश—रूप में लोक-गीत का स्वरूप यह है कि इन गीतों में हमें समय समय की नव-परम्परा, नव-संस्कृति और नव-भावनाओं की झाँकी मिलती रहती है। ये गीत किसी भी समाज और राष्ट्र का सच्चा और जीता-जागता इतिहास है। × × ×

सरसता, सरलता, माधुर्य, स्वाभाविकता, रस और लय, यही लोक-गीतों के विशिष्ट गुण हैं।"[१]

लोक-गीतों के विषय में स्वर्गीय लाला लाजपत राय ने अपने एक पत्र में लिखा था कि देश का सच्चा इतिहास और उसका नैतिक और सामाजिक आदर्श इन गीतों में ऐसा सुरक्षित है कि इनका नाश हमारे लिए दुर्भाग्य की बात होगी।"[१]।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी भावुकतापूर्ण शैली में लिखा है कि ग्राम-गीतों का—ग्राम-गीतों का समस्त महत्त्व उनके काव्य-सौंदर्य तक ही सीमित नहीं है। इनका एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है एक विशाल सभ्यता का उद्घाटन, जो अब तक या तो विस्मृति के गर्भ में डूबी हुई है या गलत समझ ली गई है। × × × × × ईंट-पत्थर के

१ पृष्ठ संख्या घ, भूमिका, धूलधूसरित मणियाँ।

प्रेमी विद्वान यदि धृष्टता न समझें, तो जोर देकर कहा जा सकता है कि लोक गीत का महत्व मोहन-जोदड़ों से कहीं अधिक है। मोहन-जोदड़ों सरीखे भग्न-स्तूप ग्राम-गीतों के भाष्य का काम दे सकते हैं।

× × × लोक-गीत की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएँ और धीराएँ न्यौछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं, और वे अलंकारों से लदी होकर भी निष्प्राण हैं। अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र विशेष की मुखापेक्षी नहीं है और अपने आप में परिपूर्ण हैं।

लोकगीतों का प्रयोग हमारे जीवन में बहुत ही व्यापक रूप में पाया जाता है। मेले, उत्सव, तीज, त्यौहार विवाह, जनेऊ, मुण्डन आदि प्रत्येक अवसर पर इनका प्रयोग किया जाता है। इनका इतिहास इतना ही पुराना है, जितनी पुरानी हमारी सभ्यता। हम इन्हें अपनी सभ्यता का वेद कह सकते हैं। वैसे वेद भी आरम्भ में श्रुति कहे जाते थे। वे आर्यों की महानता के गीत हैं और सुन सुन कर ही याद किए जाते थे।

लोक-गीतों के ऊपर पिछले बीस वर्षों में काफी काम हुआ है और कई विद्वानों ने काफी खोज-बीन भी की है। इनके कई संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। यहाँ एक तथ्य-किसी हद तक लज्जाजनक तथ्य-की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। हमारे यहाँ के लोक साहित्य के अध्ययन का आरम्भ विदेशियों द्वारा किया गया था। ईसाई पादरियों ने हमारे देश के रीति-रिवाज, इतिहास आदि की जानकारी प्राप्त करने के लिए और जन-जीवन से परिचित होने के लिए, लोक साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया था। कर्नल जेम्स टाड ने कुछ लोक वार्ताओं का संकलन किया था, परन्तु गोवर (Gover) की पुस्तक Folk-songs of Southern India सम्भवतः भारतीय-लोक-गीतों का सर्व-प्रथम प्रकाशित संग्रह है। यह पुस्तक सन् १८६२ में प्रकाशित हुई थी।

१ कविता कौमुदी भाग ५, पृष्ठ सं० ७७

हिन्दी के विद्वानों में इस दिशा में प्रवृत्त होने वालों में प्रमुख विद्वानों के नाम ये हैं—

रामनरेश त्रिपाठी, डा० सत्येन्द्र, राहुल सांकृत्यायन, देवेन्द्र सत्यार्थी, छबीले लालस्वामी, बनारसी दास चतुर्वेदी, मन्नन द्विवेदी, सन्तराम बी० ए० आदि।

हिन्दी प्रेमियों में सर्वप्रथम पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। कविता कौमुदी भाग ५ में उन्होंने अनेक सुन्दर लोक-गीतों का संग्रह किया। उसके प्रकाशित होने ही हिन्दी-संसार में एक प्रकार की हलचल-सी मच गई और लोगों का ध्यान उस ओर गया। उसके बाद लोक-गीतों के संकलन की एक हवा अथवा फैशन ही चल पड़ी। अब तो कई राज्य-सरकारें भी इस ओर ध्यान देने लगी हैं। सन् १९५६ में उत्तर प्रदेश सरकार ने लोक-गीतों में उन्नायक तत्व विषय पर एक साहित्य-गोष्ठी का आयोजन किया था और उसमें कई अधिकारी विद्वान आमान्त्रित किए गए थे।

लोक-गीत वस्तुतः वेदमूलक हैं। ऋग्वेद में गाथित शब्द का प्रयोग गाने-वाले के लिए प्रयुक्त हुआ है। गाये जाने वाले गीत रैमी अथवा नाराशंसी कहलाते थे।

बाल्मीकि रामायण, श्रीमद्भागवत् प्रभृति ग्रन्थों में भी गीतों की परम्परा सूत्र मिल जाता है। एक स्थान पर भागवत्कार ने लिखा है—

कदाचिदौत्थानि कौतुका पल्वे।
जन्मर्क्ष योगे समवेतयोषिताम्॥
वादित्र गीतद्विज मंत्रवाचकै—
रचकार सूनोरभिषेचनं सती।

इसमें जन्म-दिवस के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों का स्पष्ट उल्लेख है। गोस्वामी तुलसीदास ने तो रामचरितमानस में स्त्रियों के द्वारा गाए जाने वाले गीतों की कई स्थलों पर चर्चा की है—

चलीं संग लइ सखी सयानी। गावत गीत मनोहर बानी।

इतना ही नहीं, उन्होंने विवाह के अवसर पर स्त्रियों द्वारा गाई जाने वाली गालियों की चर्चा की है। यथा—

जेंवत देहि मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी।

इन लोक-गीतों का प्रयोग पुरुष और स्त्री दोनों के द्वारा ही किया जाता है। परन्तु स्त्रियों के द्वारा इनका प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि लोक-गीत वस्तुतः स्त्रियों के गीतों में ही सुरक्षित हैं। पुरुष भी होली आदिक अवसरों पर भी ढोला, मारू, फाग, कजरी आदि गाते हैं—परन्तु स्त्रियों के जीवन में इन गीतों के अवसर अधिक है।

स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले गीतों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) अश्लील तथा (२) सुसंस्कृत।

अश्लील गीतों की चर्चा व्यर्थ है। इन गीतों को सुनकर हमारे ऊपर केवल एक ही प्रतिक्रिया होती है। हमको आश्चर्य होता है कि इन गीतों के गाने के लिए स्त्रियों में साहस कहाँ से आ जाता है। महिलाएँ तो एक ओर, अपने आपको सभ्य कहने वाला कोई पुरुष भी उनको नहीं गा सकता है। लम्बे-लम्बे घूँघट खींचकर अपने आपको लज्जाशीला घोषित करने वाली स्त्रियाँ जब पुरुष और स्त्री की जानेन्द्रियों की चर्चा से परिपूर्ण गीतों को उत्साहपूर्वक गाती हुई दिखाई देती हैं, तब हमारा मस्तक लज्जा से नीचे झुक जाता है। हम सोचने लगते हैं कि जिस देश की माताएँ अपने बच्चों के सम्मुख ऐसी अश्लील वचनावली का गायन कर सकती है, वहाँ के गुन्डों का रूप क्या होगा ? कुछ विचारकों का कहना है कि इन गीतों के मूल में अतृप्त काम-वासना (Sexual Starvation) काम करती हैं। हमारी समझ में नहीं आता है कि ८, ८ और १०, १० बच्चों की माताओं की काम-भावना क्योंकर अतृप्त बनी रह सकती है। हमारे विचार से तो यह केवल एक दूषित परम्परा ही है, जो कार्य और कारण दोनों ही बन गई है। इन गीतों को सुनकर बालक-बालिकाओं के चित्त दूषित होते हैं और फिर उनको इन गीतों को गाते

हुए एक प्रकार का आनन्द आने लगता है। शील एवं मर्यादा का अति-क्रमण करना वे अपनी माताओं से बहुत पहले ही सीख चुके होते हैं। हमारे विचार से छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं में काम-भावना के अंकुर उत्पन्न करने का दायित्व इन्हीं अश्लील गीतों पर है। इन गीतों का अर्थ समझने के लिए वे प्रयत्नशील होते हैं और फिर अवसर पाकर व्यभिचार में प्रवृत्त होते हैं। इन गीतों को प्रायः 'खोइया', अथवा 'खोरिया' के अवसर पर गाया जाता है। 'खोइया' 'खोहया' का बिगड़ा रूप है। हमारे बालक-बालिका इन गीतों को सुनकर 'हया' खोने लगते हैं और समय आने पर बिल्कुल 'बेहया' बन जाते हैं। अस्तु।

दूसरे प्रकार के अथवा सुसंस्कृत गीत सचमुच हमारी अक्षय निधि हैं। इनमें हमारी कोमल भावनाएँ एवं श्रेष्ठ मान्यताएँ सन्निहित एवं सुरक्षित हैं। ये गीत बड़े ही कोमल, मधुर, सरस, काव्यमय एवं उन्नायक तत्त्वों से परिपूर्ण हैं। यथा—

धीरे बहो नदिया धीरे बहो, हमहूँ उतरें पार।
काहे की तोरी नैयारे, को धनि उतरें पार।
कहाँ तोरा नैया खिवैया रे, काहे की पतवार।

इसका उत्तर देती हुई नारी कहती है—

सत की मेरी नैया रे—
सैंयां मोरा नैया खिवैया रे, हम धनि उतरें पार—

इत्यादि।

कन्या की बिदा के समय का यह गीत देखिए। यह करुण-रस से परिपूर्ण है—

काहे को ब्याही बिदेश रे लक्खी बाबुल मोरे। काहे०।

× × ×

हमतो बाबुल तेरे खूँटे की गैयाँ,
जिधर हाँको हँक जाएँ, रे लक्खी बाबुल मोरे। काहे०

× × ×

छज्जे खड़ी ताई चाची जो छोड़ी बुआ जीजी जो छोड़ी।

तो छोड़ा बाबुल तोरा देश रे, लक्खी बाबुल रे।

× × ×

महल तले से डोला जो निकला,
तो भैया ने खाई पछाड़ रे, रे लक्खी बाबुल रे।

इन गीतों में काव्य का कोमल भावपक्ष सर्वथा दिखाई देता है। इतना ही काव्य के कलापक्ष-अलंकार आदि के भी दर्शन होते हैं—

प्रियतम हमारे फूल गुलाबी,
हम कलियाँ सुखदर्शन की।

इन गीतों में हमको बहुत सी शिक्षाएँ भी मिलती हैं। यथा—

पंच जिमीकंद कौं सभा को बनाय देउ।

× × ×

ये बातें सुन करके आए भटा।
इन बातन में काऊ दिना न चल जाएं लठा।
जाके तनकी तौ खुजरी मिटाय देउ।

जिस व्यक्ति में दोष हों, उसको अध्यक्ष बनाने से लाभ? निर्दोष व्यक्ति ही अध्यक्ष के पद पर प्रतिष्ठित होना चाहिए।

छन्दशास्त्र की दृष्टि से ये गीत प्रायः सदोष होते हैं। इनमें मात्राओं, वर्णों, गणों आदि की ओर बहुत कम ध्यान रखा जाता है। परन्तु ग्राम-बालाएँ कुछ स्वरों को खींचकर इनकी लय ठीक कर लेती हैं और इनके गति भंग एवं यति-भंग दोष परिलक्षित नहीं हो पाते हैं।

ये गीत तुकान्त और अतुकान्त दोनों ही प्रकार के होते हैं। परन्तु होते हैं सर्वथा सरस और मधुर। करुण-रस के गीत सर्वाधिक हृदयस्पर्शी होते हैं। झूले के गीतों को सुनते समय तो ऐसा प्रतीत होने लगता है मानों सचमुच रिमझिम रिमझिम पानी बरस रहा हो।

आजकल के लोक-गीतों की रचना वर्तमान समस्याओं पर आधारित है। इनमें नव-विचार धारा तथा नवीन राजनीतिक एवं सामाजिक गति-विधियों का समावेश हो गया है। आजकल के हिन्दी-कवियों में अधिकांश लोक गीतों की ओर प्रवृत्त हैं क्योंकि इनके संकलन की हवा चल रही

है। आधुनिक लोक गीतों में अधिकांश नीरस एवं भाव रहित हैं। हाँ, मँहगाई, गरीबी तथा क्रान्ति से सम्बद्ध कुछ गीत अवश्य सरसता लिए हुए हैं। देखिए, जमींदारी के विरुद्ध क्रान्ति की लहर बहाने वाला यह गीत—

कोयल डाल पै बोल रही।
जो रे जोतिवे सोई रे बोयिवे,
अब काहू को नाय चलै।
आपुनी जमीन अरु नाज न देइ हैं,
चाहे प्रान पै आन बनै॥
कोयल०॥

स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनों में रचे गए गीत पर्याप्त रूप से प्रभाव-शाली थे—

महीना कातिक का आया,
जवाहर जेलों में छाया।
सब सब सखियाँ दिवाली मनावें,
हम तो दिवाली जभी मनावें,
जो मिल जाए स्वराज।

अथवा— कर दै कौल-कराल फिरंगी जावैगो कि नाहिं।
किंवा— हम चरखे से ले लेव सुराज, हमार कोई का करिबो।

लोक-गीत का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि वह लोक-सामान्य-भाव-भूति पर निर्मित होता है। वह व्यक्ति हृदय से नहीं, बल्कि लोक-हृदय से निःसृत होता है। आजकल के लोकगीतकार अपने नाम को सुरक्षित रखने के लिए आतुर दिखाई देते हैं। ये लोक-गीत लोक-हृदय की नहीं, बल्कि व्यक्ति विशेष की वस्तु होती हैं। इसी प्रकार विशेष प्रभाव-शाली नहीं हो पाते हैं। वे लोक में व्याप्त न होकर व्यक्ति तक ही सीमित रह जाते हैं। लोक गीतों का निर्माण बन्द कमरों में नहीं, बल्कि प्रकृति की उन्मुक्त गोदी के बीच होता है। लोक-गीतों ने हमारे जीवन को बहुत ही गम्भीर एवं व्यापक रूप से प्रवाहित किया है। "काम जो आवै कामरी कहा लै कर्मांच" वाली बात है। कदाचित ही कोई ऐसा व्यक्ति अथवा

कलाकार हो, जो लोक गीतों से प्रभावित न हुआ हो। इन लोक-गीतों का निर्माण प्रकृति की गोद में खेलने वाले निरभिमानी एवं निस्वार्थ व्यक्तियों के द्वारा हुआ है। अतः प्रकृति के साथ सम्पर्क स्थापित कराने के लिए वे अनुपम माध्यम हैं। कला की प्रेरणाएँ लोक जीवन से ही प्राप्त होती हैं।

लोक-गीतों में हमारी भावनाएँ अपने शुद्धतम रूप में व्याप्त रहती हैं ऊपर सभ्यता का मुलम्मा नहीं चढ़ पाता है।

आजकल इन गीतों के संकलन की ओर काफी ध्यान दिया जा रहा है व्यक्तिगत रूप से भी तथा सरकारी तौर पर भी। हमारा निवेदन है कि इन गीतों का संकलन करते समय निम्नलिखित बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए—

(१) अश्लील गीतों का संकलन नहीं किया जाना चाहिए। केवल वे ही गीत एकत्र किए जाएँ जिसमें किसी परम्परा का चित्रण हो, किसी सामाजिक स्थिति का निरूपण हो, कोई प्रेरणा हो या उन्नायक तत्व का समावेश हो।

(२) इन गीतों को एकत्र करके भारतीय समाज की सभ्यता एवं क्रमिक विकास के स्वरूप को निर्धारित किया जाना चाहिये।

(३) इन गीतों को सुनकर जहां का तहां ही लिखा जाना चाहिए। इनकी काट-छांट करके पण्डिताई दिखानी अहितकर है। हो सके तो सरकार इनके तत्कालीन रिकार्डिंग की व्यवस्था करे।

(४) विभिन्न प्रादेशिक भावनाओं में पाए जाने वाले गीतों में व्याप्त सामान्य विचारधाराओं की शोध करके भारतीय एकता के सूत्र खोजे जाएँ। हमको विश्वास है कि इन गीतों के आधार पर हम यह कह सकेंगे कि राष्ट्रीयता की भावना भारतीय सम्पत्ति है, अंग्रेजों की देन मात्र नहीं।

लोक-गीतों का भण्डार अक्षय है; वह अनादिकाल से भरता आया है और निरन्तर भरता रहेगा। प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति के अपने

गीत होते हैं। उनमें जातीय गौरव-गरिमा सदा-सर्वदा के लिए सुरक्षित हो जाती है।

---

(३५) सूरदास के दार्शनिक विचार

ब्रजभाषा (हिन्दी) में कृष्ण-काव्य के सृजन का समस्त श्रेय वस्तुतः श्री बल्लभाचार्य को प्राप्त होना चाहिए। इन्हीं के द्वारा प्रवर्तित एवं प्रचारित 'पुष्टि मार्ग' में दीक्षित होकर अनेक भक्त कवियों ने कृष्ण काव्य की रचना की थी।

भक्त कवि सूरदास बल्लभाचार्य के प्रमुख शिष्यों में थे। सूरदास की काव्य-रचना के पीछे बल्लभाचार्य की प्रेरणा थी। अतः सूरदास के दार्शनिक विचारों को समझने के लिए बल्लभाचार्य के दार्शनिक विचारों का विवेचन परम-आवश्यक है।

विक्रम की १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का जो आन्दोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैला, बल्लभाचार्य उसके प्रवर्तकों में से एक थे। 'बल्लभ सम्प्रदाय' 'रुद्र सम्प्रदाय' के अन्तर्गत आता है।

रामानुजाचार्य से लेकर बल्लभाचार्य तक जितने भी भक्त दार्शनिक अथवा आचार्य हुए, सबका लक्ष्य शंकराचार्य के मायावाद तथा विवर्त्त-वाद से पीछा छुड़ाना था। शंकराचार्य के मतानुसार 'भक्ति' अविद्या अथवा भ्रान्ति ठहरती है। शंकराचार्य ने केवल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की है।

दार्शनिक अथवा तात्विक दृष्टि से बल्लभाचार्य का सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत सिद्धान्त-वादी, ब्रह्मवादी तथा अविकृत परिणामवादी है। संक्षेप में इनका सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद' है। शंकराचार्य का अद्वैत जैसे शुद्ध बना दिया गया हो, शंकराचार्य की माया के लिए इनके यहाँ कोई स्थान नहीं है, इस प्रकार माया से रहित अद्वैत ही 'शुद्धाद्वैत' है। इस शुद्धाद्वैत में एक ओर माया का बहिष्कार है तथा दूसरी ओर भक्ति का विशेष विधान है,

यह भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है, ज्ञान से ब्रह्म को केवल जाना जा सकता है, भक्ति से ब्रह्म की अनुभूति होती है, शुद्धाद्वैत वाले इस दार्शनिक सिद्धान्त के लिए वल्लभाचार्य जी विष्णु स्वामी के ऋणी हैं। साधन मार्ग की व्यवस्था इनकी अपनी वस्तु है।

वल्लभाचार्य ने ब्रह्म में समस्त धर्मों का समावेश माना है, समस्त सृष्टि को वल्लभाचार्य ने लीला के लिए ब्रह्म की आत्मकृति कहा है, अपने अंश को जीव रूपों में बिखेरना ही ब्रह्म की लीला है। प्रकृति और जीव ब्रह्म से उसी भाँति प्रकट हुए हैं जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं। यह रचनात्मक कार्य ब्रह्म केवल अपनी शक्ति एवं गुणों से करता है, वह माया का उपयोग नहीं करता है।

जिस प्रकार अग्नि से छोटी-बड़ी चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से हीन-तेजस्वी जीवों की उत्पत्ति होती रहती है, जिस प्रकार अग्नि और चिनगारियां स्वरूप से एक हैं, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव का भी स्वरूपगत अभेदत्व है, अर्थात् जीव भी उतना ही सत्य है जितना स्वयं ब्रह्म किन्तु फिर भी जीव नहीं है, उसका अंश है, जीव और ब्रह्म आत्मा और परमात्मा में केवल यह अन्तर है कि जीव की शक्तियां अपनी सत्ता के कारण सीमित हैं और ब्रह्म की अपरिमित।

रामानुज और निम्बार्क की तरह वल्लभाचार्य ने यद्यपि जीव के अणुत्व का समर्थन किया है, तथापि उनके विरुद्ध ब्रह्म से अद्वैत पक्ष का समर्थन किया है, परन्तु चूँकि इन्होंने माया के सम्बन्ध से रहित अर्थात् शुद्ध, ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, इसलिए वल्लभाचार्य का सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद' कहलाता है।

वल्लभाचार्य के मतानुसार अक्षर ब्रह्म अपनी आविर्भाव-तिरोभाव की अचिन्त्य शक्ति से जगत के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी बना रहता है। वह अपने तीनों—सत्, चित्त और आनन्द-रूपों का आवि-र्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव में 'सत्' और 'चित्' का आवि-र्भाव रहता है और 'आनन्द' का तिरोभाव। जड़ में केवल सत् का आवि-

र्भाव रहता है, तथा चित् और आनन्द दोनों का तिरोभाव। माया कोई वस्तु नहीं है।

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म प्रकृतिजन्य धर्मों के अभाव में जिस प्रकार निर्गुण है, उसी प्रकार आनन्दात्मक दिव्य धर्मों के कारण यह सगुण भी है, इसी परब्रह्म को शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार श्रीकृष्ण कहा गया है। यह श्रीकृष्ण ही सर्व धर्मों के आश्रयरूप होने के कारण धर्मी कहलाते हैं। इनमें परस्पर विरुद्ध धर्मों का समावेश है यही इनकी सबसे बड़ी विशेषता है।' हमारे विचार से परब्रह्म का वही स्वरूप मानने पर वेदों की निर्गुण-सगुण स्वरूप प्रतिपादक श्रुतियों का मतैक्य हो सकता है। इस प्रकार बल्लभाचार्य के सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके द्वारा वेदों और समस्त शास्त्रों के मतों की एक वाक्यता प्रमाणित हो जाती है।

शंकराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म का पारमार्थिक एवं वास्तविक स्वरूप कहा था। उनके मतानुसार सगुण स्वरूप केवल व्यावहारिक अथवा मायिक है। बल्लभाचार्य ने बात एकदम उलट दी। इन्होंने सगुण रूप को ही ब्रह्म का पारमार्थिक एवं वास्तविक रूप बताया तथा निर्गुण ब्रह्म इनके मतानुसार उसका अंशतः तिरोहित रूप है। परब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप का नाम 'अक्षर ब्रह्म' है और उसके भौतिक स्वरूप का नाम 'जगत' है। अतः 'शुद्धाद्वैत' के सिद्धान्तानुसार ब्रह्मरूप होने के कारण 'जगत' भी सत्य ठहरता है। बल्लभाचार्य ने शंकराचार्य के समान जगत को असत् अथवा मिथ्या नहीं माना है, उनके मतानुसार 'जगत्' की भी स्थिति है। ब्रह्म रूप होने के कारण 'जगत्' भी सत्य है, किन्तु संसार असत्य है। क्योंकि वह जीव की अविद्या के कारण सृजित मैं और मेरे पन की कल्पना मात्र है। बल्लभाचार्य के मतानुसार ब्रह्म सत्यम्, जगत सत्यतम् मिथ्या संसार केवलम् है। ज्ञान द्वारा जीव की मुक्ति होने पर संसार की निवृत्ति होती है, किन्तु 'जगत' ज्यों का त्यों बना रहता है। प्रलयकाल में भी 'जगत' का तिरोभाव होता है, नाश नहीं।

विशेष—वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त को भली प्रकार समझने के लिए 'शुद्धाद्वैत', 'ब्रह्मवाद' तथा 'अविकृत परिणामवाद', इन तीनों शब्दों की निम्नलिखित व्याख्या विशेष उपयोगी होंगी। यथा—

शुद्धाद्वैतवाद—'शुद्ध' का अर्थ है 'माया के सम्बन्ध से रहित'। ब्रह्म ही जगत का कारण और वही कार्य है। माया-शवलित ब्रह्म कारण और कार्य नहीं है।

> माया सम्बन्धरहित शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
> कार्यकारणरूपं हि शुद्धब्रह्म न मायिकम॥
>
> (२८, शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, श्री गिरधर जी)

(२) ब्रह्मवाद—सब कुछ ब्रह्म ही है। जीव ब्रह्मरूप है, यह जगत भी ब्रह्मरूप है और इसी से ये दोनों सत्य हैं। (सर्वं ब्रह्म इतिवादः ब्रह्मवादः तेन)।

> आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा।
> इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथा मतिः।
> अयमेव ब्रह्मवादः शिष्ट मोहाय कल्पिम्।
>
> (१७६, १८०, शास्त्रार्थप्रकरण, सर्वनिर्णयकरण)

यह सब आत्मा ही है, उसी तरह यह सब ब्रह्म ही है, सम्पूर्ण श्रुतियों का यही अर्थ है। इसी को ब्रह्मवाद कहते हैं और यही वास्तव में ब्रह्मवाद है। अन्य जो कुछ कहा गया है वह मोहवश कल्पित है।

(३) अविकृतपरिणामवाद—'जगत' ब्रह्म का विकार रहित परिणाम है। दूध का परिणाम दही सविकारी है। वह फिर दूध नहीं हो सकता।

वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त के मुख्य तत्वों के स्वरूप स्थापन के पश्चात् अब हम सूरदास के दार्शनिक विचारधारा का विवेचन करते हैं।

(क) ब्रह्म सम्बन्धी विचार—सूरदास के इष्ट देव श्रीकृष्ण हैं, जो पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। उनके सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं। परब्रह्म श्रीकृष्ण इस सम्पूर्ण प्रपंच के आदि हैं। जीवरूप में, जगत रूप में तथा सम्पूर्ण देवता रूप में, जो कुछ भी इस जगत में है, सब इन्हीं का अंश है। श्रीकृष्ण

अखण्ड रस-रूप से अपनी आदि रस-शक्ति राधा के साथ युगल रूप में विहार करते हैं। वे ही अक्षर ब्रह्मरूप हैं, और वे ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। ये सम्पूर्णरूप उन्हीं के अंशरूप बनकर प्रसूत हैं। उसके निर्गुण रूप तक हमारा मन और हमारी वाणी नहीं पहुँच सकती, इसलिए उनके सगुणरूप की लीला का गुणगान ही सूर ने आध्यात्मिक सिद्धि का साधन माना है। उक्त विचारों को प्रकट करने वाले अनेक पद 'सूरसागर' में विद्यमान हैं। यथा—

सोभा अमित अपार अखंडित आप आतमाराम
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार
ऊंकार आदि वेद असुरहन निर्गुन सगुन अपार
+ + + +
सहस रूप बहु रूप पुनि एक रूप मुनि दोय
कुमुद कली विकसित अम्बुज मिलि मधुकर भागी सोय।[१]

यहां वल्लभ-सिद्धान्तों के अनुसार श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म रस-रूप हैं। सूरदास ने ब्रह्म को सगुण और निर्गुण, दोनों बताकर ब्रह्म के विरुद्ध धर्मत्व को स्वीकार किया है।

निम्नलिखित पद में सूरदास ब्रह्म, प्रकृति पुरुष आदि की सद्वैतता स्वीकार करते हैं, तथा परब्रह्म और श्रीकृष्ण का एकीकरण कर देते हैं। सृष्टि के सम्पूर्ण तत्व,[२] ब्रह्मांड सम्पूर्ण देवता, माया, प्रकृति तथा आदि पुरुष श्रीपति लक्ष्मीनारायण ये सब श्रीकृष्ण के ही अंश माने हैं। वह स्पष्ट कहते हैं कि ब्रह्म अंशी है और सम्पूर्ण जगत, जीव और देवता अंश हैं। यथा—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कलप बीतत नहिं जानत विहरत युगल-स्वरूप।

१—सूरसारावली पृष्ठ ३४, वेंकटेश्वर प्रेस।
२—वल्लभ-सम्प्रदाय तथा सूरदास ने इनकी संख्या २८ मानी है।

सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब हैं अंश गुपाल ।[3]

सूरदास ने 'सूरसागर' के दशम स्कन्ध में अनेक स्थलों पर परब्रह्म कृष्ण के अन्तर्यामी स्वरूप और उनके विराट रूप का सविस्तार वर्णन किया है। उन्होंने श्री कृष्ण की जो अनेक स्तुतियां की हैं, उनसे विदित होता है कि वे परमानन्द-राशि रस-रूप श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म मानते हैं, और उन्हीं को अपनी उपासना का इष्ट मानते हैं। यह इष्ट बल्लभ सम्प्रदाय के शत प्रतिशत अनुकूल है। एक उदाहरण देखिए—

परमहंस तुम सबके ईस, बचन तुम्हार स्रुति जगदीस।
तुम अच्युत अविगत अविनासी, परमानन्द सदा सुखरासी।
तुम तनुधारि हर्यो भुव-भार, नमो नमो तुम्हें बारबार।[4]

(ख) जीव सम्बन्धी विचार—श्री बल्लभाचार्य जी ने अपने ग्रन्थ 'तत्वदीपनिबन्ध' में लिखा है कि, 'परमतत्व परब्रह्म को' मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ' ऐसी इच्छा हुई। उसी इच्छा मात्र से अक्षर ब्रह्मभूत अंश-रूप असंख्य जीवों की उत्पत्ति हुई। जैसे अग्नि से चिनगारी निकलती है उसी प्रकार सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म के चिद् अंश से असंख्य निराकार जीव निकले। इस प्रकार बल्लभ-मत के अनुसार जीव अंश है और परमात्मा अंशी।[2]

श्री बल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'अणुभाष्य' में लिखा है कि भगवान की इच्छा से जीव के ऐश्वर्यादि छः गुण तिरोहित हो जाते हैं और तभी बन्ध और विपर्यय होता है। ऐश्वर्य के छिपने से दीनत्व और पराधीनता, वीर्य के तिरोभाव से अनेक दुःख, यश के तिरोभाव से हीनत्व श्री के तिरोभाव से जन्म-मरण के अनेक दोष, ज्ञान के तिरोभाव से अहं बुद्धि और सब पदार्थों में विपरीत ज्ञान होता है तथा वैराग्य के तिरोभाव से विषयों में आसक्ति पैदा होती है। इस प्रकार जीव भ्रम में बंध कर संसार चक्र में

३—सूरसारावली पृष्ठ ३८, बेङ्कटेश्वर प्रेस।
४—सूरसागर १० स्कन्ध, उत्तरार्द्ध।

घूमता है। भगवान के भजन से विमुख जीव अनेक कष्ट उठाता है। अविद्या रूपी दोष से छुटने के लिए भगवान के भजन की आवश्यकता है।[3]

वल्लभाचार्य जी ने लिखा है—(१) योग-सिद्धि का मार्ग (२) दिव्य ज्ञान का मार्ग तथा (३) उस भगवद्-कृपा-दृष्टि के लाभ का मार्ग जिससे प्रसन्न हो भगवान आनन्दांश का लाभ देते हैं। सबसे उपयोगी और सरल मार्ग तृतीय मार्ग है। इसे उन्होंने भगवद्-अनुग्रह पुष्टि कहा है और इसी के आधार पर असने भक्ति मार्ग का नाम उन्होंने पुष्टि मार्ग रखा है।

वल्लभ सम्प्रदाय के मतानुसार जीव सृष्टि का विभाजन निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है।[4]

- जीव-सृष्टि
  - दैवी जीव सृष्टि
    - दैवी पुष्टि जीव
      - शुद्ध पुष्टि जीव
      - पुष्टि पुष्ट जीव
      - मर्यादा पुष्ट जीव
      - प्रवाही पुष्ट जीव
    - दैवी मर्यादा जीव (कर्म ज्ञान द्वारा इन जीवों की स्वार्गादि तथा अक्षरसायुज्य मुक्ति होती है)
  - आसुरी जीव सृष्टि प्रवाही
    - दुर्ज्ञ इनका उद्धार नहीं होता
    - अज्ञ ईश्वर द्वारा संहार से इनका उद्धार होता है।

इन जीवों को पूर्ण पुरुषोत्तमरूप मुक्ति मिल सकती है।

सूरदास ने जीव और ईश्वर की अद्वैतता का भाव कई स्थलों पर व्यक्त किया है। निम्नलिखित पद में सूरदास के केवल एक ब्रह्म की

१—एकोहं बहुस्यामं, तैतिरीय उपनिषद २:३

२—शास्त्रार्थ प्रकरण पृष्ठ सं० ६२, ज्ञान सागर बम्बई।

३—अणुभाष्य, अध्याय ३, पाद २, सूत्र सं० ५

४—अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय पृष्ठ संख्या ४२६

सत्ता को स्वीकार करते हुए अनेक रूप बताए हैं और कहा है कि अन्त में ये अनेक रूप उस एक में ही समाकर एक हो जाएँगे। वल्लभाचार्य मत के अनुसार सूरदास ने भी जीव को भगवान की चेतन शक्ति का ही स्वरूप माना है। यथा—

सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब है अंश गुपाल।[1]

\+ + + +

अभय अछेद रूप मन जान, सो सब घट है एक समान
करत इन्द्रियनि चेतन जोई, मन स्वरूप जानो तुम सोई[2]

'सूरदास' ने शंकराचार्य के जगन्मिथ्या वाद के प्रति अपनी उदासीनता स्पष्ट रूप से प्रकट कर दी है—

मन बच क्रम मन गोविन्द सुधि करि।

\+ + + +

मिथ्याबाद विवाद छोड़ि दे, काम क्रोध मद लोभै परिहसि

\+ + + +

वेदन कह्यो स्मृति हू भाख्यो, पावन पतित नाम निज नरहरि,[3]

(ग) जगत सम्बन्धी विचार—श्री वल्लभाचार्य के मतानुसार यह जगत ब्रह्मरूपी ही है। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार के मतों का उल्लेख करके यही प्रमाणित किया है कि बस अक्षर ब्रह्म ही एतत् प्रकारेण इस प्रकार जगत हो जाता है।

जगत और संसार का भेद स्पष्ट करते हुए आचार्य जी ने लिखा है कि यह प्रपंच (जगत) भगवत् कार्य है और यह भगवान की माया नाम की शक्ति से बना है। इस माया की अविद्या नामक शक्ति के सहारे जीव संसार को बनाता है[4]। सारांश यह है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने

१—सूरसारावली

२—सूरसागर तृतीय स्कंध

३—वही प्रथम स्कंध पृष्ठ ३०,

४—तत्व-दीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण श्लोक सं० २६

जगत को ईश्वर-कृत तथा संसार को जीव-कृत बताया है श्रीमद्‌भागवत में भी कहा है कि—गुण और कर्म से बंधा हुआ है यह संसार (ममतात्मक संसार) अज्ञान-मूलक और स्वप्नवत् झूठा है, सुख-दुख संसार के साथ लगे हैं जगत के साथ नहीं।[५]

सूरदास ने सूरसागर के द्वितीय स्कन्ध में नारद ब्रह्मा संवाद के अन्तर्गत जगत उत्पत्ति का जो विवरण दिया है वह बल्लभाचार्य के सिद्धान्त के सर्वथानुकूल है। यथा—

जो हरि करै सो होई कर्ता नाम हरी।
ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब त्यों सब सृष्टि करी।

दशम स्कन्ध में उद्धव गोपियों से कहते हैं कि :—

गोपी सुनहु हरि सदेश
कह्यो पूर्ण ब्रह्म ध्यावो त्रिगुण मिथ्या भेस।
मैं कहों सो सत्य मानहु त्रिगुन डारो नाध।
पंच त्रिय गुण सकल देही जगत ऐसा भाष।

दशम् स्कन्ध में कृष्ण राधा से कहते हैं :—

प्रकृति पुरुष एकै करि जानो बातनि भेद करायो।
जल थल जहां रहो तुम बिनु नहिं भेद उपनिषद् गायो।
द्वै तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारन उपजायो।
ब्रह्म रूप द्वितीया नहिं कोई तब मन त्रिया जनायो।

प्रकृति और पुरुष की यह अद्वैतता भी बल्लभ-मतानुसार ही है।

सूरदास ने संसार के मिथ्यात्व का तो अनेक स्थानों पर प्रतिपादन किया है। यथा—

रे मन मूरख जनम गँवायो।
\+　　+　　+　　+
यह संसार सुवा सेंबर ज्यों सुन्दर देखि लुभायो।

५—सप्तम स्कन्ध, अ० ७, श्लोक २७

चाखन लागो रुई गई उड़ि हाथ कछू नहिं आयो।[1]
\+ + + +
मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।
मिथ्या है ये देह कहो क्यों हरि बिसराया।[2]

तथा।—

ज्वाला प्रीति प्रकट सन्मुख हरि ज्यों पतंग तन जारयो।
\+ + + +
ज्यों कपि शीत हुताशन गुंजा सिमटि होत लवलीन।
त्यों शठ वृथा तजत नहिं कबहूँ रहत विषय आधीन।
सेंबर फूल सुरंग शुक निरखत मुदित होत खग भूप।
परसत चोंच तूल उघरत सुख परत दुख के कूप।[3]

(घ) माया-सम्बन्धी विचार—तत्व-दीप-निबन्ध के 'शास्त्रार्थ प्रकरण' में श्री वल्लभाचार्य ने 'माया' के सम्बन्ध में जो लिखा है, उसका सारांश इस प्रकार है :—

भगवान की शक्ति-स्वरूपा माया के दो रूप हैं—विद्या माया तथा अविद्या माया।

अविद्या माया से जीव संसार में बंधता है और विद्या माया के द्वारा जीव इस ससार से छुटता है। जीव माया के अधीन है, भगवान नहीं।

अविद्या रूपिणी माया दो प्रकार से अन्यथा प्रतीति कराती है :—

(१) सत्य ज्ञान का आच्छादन करती है तथा (२) सत्य में असत्य का भान कराती है। सारांश यह है कि अविद्या माया ही जीव को लौकिक विषयों में फँसा कर उसको अज्ञान में डालती है।

शंकराचार्य के मतानुसार विद्या अथवा ज्ञान से जीव की अविद्या अथवा उसके भ्रम का नाश हो जाता है, तब न जीव रह जाता है और

१—सूरसागर प्रथम स्कन्ध
२—वही दशम् स्कन्ध
३—वही प्रथम स्कन्ध

न जगत, क्योंकि उसके मतानुसार 'जीव' और 'जगत' दोनों ही भ्रम-जन्य हैं। बल्लभाचार्य के मतानुसार अविद्या का नाश होने पर जीवत्व तथा जगत का नाश नहीं होता है, जीव फिर भी ब्रह्म से पृथक् सत्य रूप में स्थिर रहता है। केवल उसका भ्रम-जन्य संसृति-जाल नष्ट हो जाता है।

सूरदास ने इस अविद्या-रूपिणी माया का खूब चित्रण किया है। यह अविद्यारूपिणी माया ही उन्हें अनेक नाच नचाती है, और भ्रमपूर्ण संसार की सृष्टि कराके उसीने उन्हें (जीव को) दुःख-जाल में बांध रखा है। तथा—

विनती सुनों दीन चित दै कैसे तब गुण गावै।
माया नटिनी लकुट कर लीनै कोटिक नाच नचावै।
दर दर लोभ लागि लै डोलति नाना स्वांग करावै।
तुम सो कपट करावति प्रभुजू मेरी बुद्धि भ्रमावै।
मन अभिलाष तरंगनि करि करि मिथ्या निशा जगावै।
सोवत स्वप्ने में ज्यों सम्पति त्यों दिखाय बौरावै।
महा मोहिनी मोह आत्मा, मन कर अघहि लगावै।
ज्यों दूती पर वधू मोरि कै लै पर पुरुष दिखावै।
\+ + + +
सूरदास प्रभु तुमरी कृपा बिनु को मो दुख बिसरावै।
(सूरसार प्रथम स्कंध)

तथा—

हरि बिनु कोऊ काम न आयो।
यह माया झूँठी प्रपंच लगि रतन सौ जन्म गवायो।
कंचन कलप विचित्र चित्र करि रचि पचि भवन बनायो।
तामें तिहि छिन काढ़यो पल भर रहन न पायो।
(सूरसागर द्वितीय स्कंध)

सूरदास ने कई पदों में स्पष्ट लिखा है कि संसारी जीव को झूठी माया सच्ची प्रतीत होती है, यदि मनुष्य अहं की व्यष्टि-दृष्टि को छोड़कर समष्टि-दृष्टि से जगत को देखे तो माया का सत्यरूप उसे दीखने लगेगा। + + + + हे करुणा-निधान प्रभु, आपकी कृपा-कटाक्ष से मेरा अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो गया है। विवेक का प्रकाश होने पर माया नष्ट हो गई है। ज्ञान-सूर्य के प्रकाश में मेरी समष्टि दृष्टि खुल गई है और मुझे आत्मरूप सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगा है, मेरी अहंता ममता छूट गई है, अब मुझे अपने इस शरीर से तनिक भी मोह नहीं रह गया है। अब केवल एक मात्र यही लालसा है कि मैं दिन-रात प्रभु की लीला का ही श्रवण करता रहूं।

'मोक्ष', गोलोक, गोकुल अथवा वृन्दावन (निजधाम), रास, तथा गोपी आदि सम्बन्धी पदों में भी सूरदास पर वल्लभ-सम्प्रदाय की छाया स्पष्टतया परिलक्षित होती है। वल्लभाचार्य के समान सूरदास ने भी भक्त और भगवान का एकीकरण जल-तरङ्गवत बताया है। यथा :—

आंखिन में बसै जियरे में बसै हियरे में बसत निसि दिन प्यारो।
मन में बसै तन में बसै रसना में बसै अंग अंग में बसत नंदवारो।
सुधि में बसै बुधि में तू बसै उर-अंक में बसत पिय प्रेम दुलारो।
(सूरसागर दशम् स्कन्ध)

गोपी कृष्ण के साथ ऐसे मिलती है जैसे नदी अपना अस्तित्व और नाम मिटाकर समुद्र में मिल जाती है तथा संसार को वह इस प्रकार छोड़ देती है जैसे सर्प केंचुली को छोड़ देती है। यथा :—

जैसे सरिता सिन्धु में मिलो जु कूल बिदारि
नाम मिट्यो सलिल भई तब कौन निबेरै बारि।
+ + +
प्रेम मगन ग्वालिन भई सूर सु प्रभु के संग
नैन बैन मुख नासिका ज्यों केंचुलि तजै भुजंग।
(सूरसागर दशम् स्कन्ध)

(३६) सूरदास की राधा

देवताओं के साथ उनकी शक्तिरूपा पत्नियों की कल्पना भारतीय उपासना पद्धति की प्राचीन परम्परा है। इसमें त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश मुख्य थे। त्रिदेवों में विष्णु और महेश (शिव) को विशेष महत्व प्रदान किया गया।

विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में शिव और पार्वती में मानवीय इच्छाओं की कल्पना की गई। धर्म के साथ शृङ्गार का सम्मिश्रण हुआ। साहित्य में शिव और पार्वती नायक नायिका के रूप में ग्रहण कर लिए गए। कालिदास ने कुमार सम्भव में शिव और पार्वती के शृङ्गार का वर्णन निःसंकोच भाव से खुल कर किया है। इसके बाद धर्म और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में शिव और पार्वती का व्यापक प्रभुत्व हो गया।

विक्रम की ११ वीं शताब्दी के आसपास दक्षिण में विष्णु भक्ति का पुनरुत्थान हुआ। वह धारा उत्तर की ओर भी आई। इस बार राम और कृष्ण के अवतार स्वरूप विष्णु उपस्थित किए गए।

विष्णु भक्ति के इस पुनरुत्थान में कृष्णोपासना को विशेष प्रधानता प्रदान की गई। चूंकि देवता शिव के साथ शक्ति की परम्परा चल निकलनी थी, अतएव कृष्ण की शक्ति की भी आवश्यकता हुई। प्रथम तो यह स्थान रुक्मिणी सत्यभामा को दिया गया। परन्तु सरसता लाने के विचार से राधा का समावेश कर दिया गया।

कृष्ण जीवन का सांगोपांग चित्रण सर्व प्रथम महाभारत में मिलता है। महाभारत में श्रीकृष्ण का जीवन अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु वहां उनके गोप-जीवन की छाया और उनके अलौकिक कृत्यों की कथा नहीं है। गोप-जीवन के अभाव में राधा और गोपियों का अभाव होना स्वाभाविक ही है।

महाभारत के पश्चात् हरिवंश, विष्णु पुराण, ब्रह्मपुराण आदि पुराणों की रचना हुई, किन्तु उनमें कहीं भी राधा का उल्लेख नहीं है। पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत श्रीकृष्ण की लीलाओं का सबसे अधिक वर्णन भागवत

पुराण में हुआ। इसके आधार पर 'नारद-भक्ति-सूत्र'[1] का निर्माण हुआ। इनमें भक्ति का पूर्ण विकास होने पर भी भक्ति की मूर्ति-रूपी राधा का निर्देश नहीं है।

भागवत में श्रीकृष्ण के गोपियाँ अवश्य दिखाई देती हैं, परन्तु राधा का नाम कहीं नहीं है। श्रीकृष्ण के साथ रास विलास करने वाली अनेक गोपियों में राधा का भी होना सम्भव है, किन्तु उनकी सहचरी और एकमात्र प्रेमिका के रूप में राधा का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है कि श्रीकृष्ण के साथ एकान्त में विचरण करने वाली एक गोपी का वर्णन अवश्य है। अन्य गोपियाँ उस गोपी की यह कह प्रशंसा करती हैं कि उसने पूर्व जन्म में श्रीकृष्ण की अवश्य ही आराधना की है, तभी तो उन्हें इतनी प्रिय है। इसी आराधना शब्द से सम्भवतः 'राधा' की उत्पत्ति हुई है। राधा शब्द संस्कृत धातु 'राध्' से बना है जिसका अर्थ 'सेवा करना' अथवा प्रसन्न करना है। अनुमानतः श्रीकृष्ण की आराधना करने वाली अथवा उनको विशेष रूप से प्रसन्न करने वाली, इस विशिष्ट गोपी को ही आगे चलकर 'राधा' मान लिया गया है।

यद्यपि राधा के रूप का, जो हमने आजकल मान रखा है, उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है, तथापि राधा के नाम का नितांत अभाव न था। अमरकोष में 'विशाखा' नक्षत्र का दूसरा नाम 'राधा' दिया गया है। हाल की सप्तशती[2] में भी एक श्लोक में राधा की चर्चा मिलती है। ध्वन्यालोक[3]—में भी एक स्थान पर भी राधा का उल्लेख मिलता है।

धार्मिक ग्रन्थों में ब्रह्मवैवर्त पुराण में सर्व प्रथम राधा की चर्चा मिलती है।[4] इसके पश्चात् गोपालतापनी उपनिषद् में राधा का वर्णन स्पष्टतया

१—रचना-काल ईसा की १० वीं शताब्दी।

२—मुखमारुतेन त्वं कृष्णगोरजे राधि कायां अपनयन।
एतानां बल्लवीनां मन्यासामपि गौरवं हरसि॥

३—तेषां गोपवधू विलाससुहृदां राधारहः साक्षिणं
क्षेमः भद्रकलिन्द शैलतनया तीरेलतावेश्मनाम्॥

४—रचना काल ईसा की १० वीं शताब्दी।

कृष्ण की प्रेयसी के रूप में मिलता है। गोपालतापनी उपनिषद् की रचना मध्वाचार्य के 'भाष्य' और अनुव्यान[1] के पश्चात् हुई होगी, क्योंकि मध्वाचार्य ने राधा का उल्लेख नहीं किया है।

वैष्णव आचार्यों में सबसे पहिले निम्बकाचार्य ने राधा की उपासना को महत्व प्रदान किया। उससे प्रभावित होकर बङ्गाल के कवि जयदेव ने राधा कृष्ण के विहार से सम्बन्धित 'गीतगोविन्द'[2] की रचना की। जयदेव से विद्यापति प्रभावित हुए। बाद वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि आचार्यों ने राधा को और भी अधिक व्यापक बना दिया। सारांश यह है कि धार्मिक क्षेत्र में निम्बकाचार्य को और काव्य-जगत में जयदेव को राधा की प्रतिष्ठा का श्रेय प्राप्त है।

राधाकृष्ण की भक्ति के प्रसार एवं प्रचार करने वालों में सबसे पहले मध्वाचार्य[3] का नाम आता है, इसके बाद निम्बकाचार्य और विष्णु स्वामी[4] के सिद्धांतों ने इस ओर विशेष महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया। कृष्ण के साथ राधा की उपासना का समावेश निम्बार्क संप्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता है। इनके मतानुसार कृष्ण परब्रह्म है। उन्हीं से राधा और गोपियों की उत्पत्ति हुई है। सब लोकों से परे गोलोक में कृष्ण के साथ राधा का निवास है। राधा-कृष्ण के अतिरिक्त निम्बकाचार्य अन्य किसी देवी देवता को नहीं मानते।

विष्णु स्वामी ने १४ वीं शताब्दी के मध्य में शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा की थी। श्रीवल्लभाचार्य ने आगे चलकर १६ वीं शताब्दी में इसकी पूर्णतया स्थापना की, तथा राधाकृष्ण की उपासना को विशेष बल प्रदान कर दिया।

जयदेव के 'गीतगोविन्द' से मैथिल कोकिल विद्यापति प्रभावित हुए, और उन्हीं के द्वारा हिन्दी साहित्य में राधा कृष्ण-विषयक साहित्य की परम्परा

१—यह ग्रन्थ राधा सम्प्रदाय वालों को बहुत मान्य है।
२—यह ग्रन्थ संस्कृत में है।
३—समय १३ वीं शताब्दी।
४—समय १४ वीं शताब्दी।

आई। जयदेव तथा विद्यापति दोनों के द्वारा सूरदास भी प्रभावित हुए, तथा कालान्तर में इस साहित्य की परम्परा का पूर्ण विकास हुआ। कहना न होगा कि इन भक्त कवियों ने जहां कृष्ण के संभोग शृङ्गार सम्बन्धी वर्णन लिखे हैं, वहां परोक्ष रूप से कामुकता की गन्ध आगई। आगे चलकर रीतिकाल में कृष्ण और राधा को सामान्य नायक-नायिका के रूप में ग्रहण किया जाने लगा और इनसे सम्बन्धित वर्णनों में लौकिक शृङ्गार का प्राधान्य होगया तथा राधा कृष्ण विषयक साहित्य किसी हद तक विकृत हो गया। आधुनिक काल में नई-नई मान्यताएँ गृहीत हुईं, देश में राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर के साथ देश-प्रेम, देश सेवा, आत्मोत्सर्ग आदि की भावनाओं का जन्म हुआ। 'हरिऔध' के 'प्रिय-प्रवास' में राधा को विश्व-प्रेमिका और लोकसेविका महिला (कृष्ण की प्रेमिका) के रूप में चित्रित किया गया है।

राधा के विकास की इस पृष्ठभूमि में अब हमें यह देखना है कि सूरदास ने राधा को किस रूप में ग्रहण किया है।

जयदेव से प्रभावित होकर हिन्दी में गीतकाव्य शैली पर पद साहित्य में भक्तिपूर्ण शृङ्गारिक रचना प्रारम्भ करने का श्रेय विद्यापति को है। विद्यापति ने राधा को कृष्ण की परकीया के रूप में चित्रित किया है। उनके वर्णनों में वासना का संयोग स्पष्ट है। यथा—

थर थर कांपल लहु लहु भास
लाजे न वचन करये परकास।

आज धनि पेखल बड़ विपरीत, छन अनुमति छन मानइ भीत।
सुरतक नामे मुदइ दुहु आंखी, या ओल सहल महोदधि साखी।
चुंबन बेरि करइ मुख बंका, मिललह चांद सरासह अंका।
निविबंध परस चमकि उठि गोरी, जानल मदन भंडारक चोरी।

सूरदास ने राधा को स्वकीया नायिका के रूप में ग्रहण किया है। वे भी जयदेव तथा विद्यापति से प्रभावित थे, अतः उनके द्वारा किये शृङ्गार वर्णन में भी वासना की गंध आगई है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत रस-रूप ईश्वर की आदि रस-शक्ति, और भक्ति में सिद्ध भक्ता, ये दो रूप राधा नाम की गोपी के हैं। सूरदास ने राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष कहा है —

ब्रजहि बसे आपहु बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानों बातनि भेद करायो।
जल थल जहाँ रहो तुम बिन नहि भेद उपनिषद गायो।
\+ \+ \+ \+
ब्रह्मरूप द्वितीया नहि काई तब मन त्रिया जनायो।
(दशम् स्कन्ध)

एक अन्य पद में उन्होंने राधा को भगवान की जगत-उत्पादिका शक्ति कहा है और इस शक्ति-स्वरूपा राधा की कृष्ण-भक्ति पाने के लिए कई स्थलों पर बन्दना की है। यथा—

नीलाम्बर पहिरे वनु भामिनि जनु घन में दमकत है दामिनि,
\+ \+ \+ \+
जग नायक जगदीश पियारी जगत जननि नगरानी।
नित बिहार गोपाल लाल संग बृन्दावन रजधानी।
\+ \+ \+ \+
अशरण शरनी, भव भय हरनी वेद पुरान बखानी।
\+ \+ \+ \+
कृष्ण भक्ति दीजै श्रीराधे सूरदास बलिहारी।
(दशम् स्कन्ध)

सूरदास ने राधा को अनन्य पूर्वा स्वकीया नायिका के रूप में चित्रित किया है, उन्होंने रास के आरम्भ ही में राधा और कृष्ण का विवाह करा दिया है। यथा—

जाको व्यास वर्णित रास,
है गन्धर्व विवाह चित दै सुनों विविध विलास।
कियो प्रथम कुमारि यह व्रत धरयो हृदय निवास,
नन्द सुत पति देव देवी पूजै मन की आस,
(दशम स्कन्ध)

जैसा कि हम अन्यत्र निवेदन कर चुके हैं कि विभिन्न प्रभावों के कारण सूरदास द्वारा किए गए राधा-कृष्ण के श्रृङ्गार वर्णन भी यथास्थान वासनामय होगए हैं। उन्होंने कृष्ण के साथ राधा का नाम जोड़ा तो इसलिए था कि उनके वर्णन सरस एवं मार्मिक बन जाएँ, परन्तु समय के प्रभाव के कारण उनके श्रृङ्गार-वर्णन भी बाल-क्रीड़ा कौतुक की परिधि का उल्लंघन कर गए। यथा—

नीवी ललित गही हरि राई।
जबहिं सरोज धरो श्रीफल पर तब जसुमति गइ आई।
ततछन रुदन करत मन मोहन, मन में बुधि उपजाई।
देखो डीठ देत नहिं माता, राखी गेंद चुराई।
काहे को चकधोरत नोखे, चलहु न देउ बताई।
देखि विनोद बालसुत को, तब महरि चली मुसकाई।
'सूरदास' के प्रभु की लीला को जाने इहि भाई॥

तथा—

त्रिविलोचन सुविसाल दोउन के,
चितवन चित्त हरे।
भामिनि मिले परम सुख पायो,
मंगल प्रथम करे।
करसों करज कर्यो कंचन ज्यों,
अंबुज उरज धरे।
आलिंगन दे अधर पान कर
खंजन खंज लरे।
हठ करि मान कियो नव भामिनि,
तब गहि पांइ परे।
लेगये पुलिन मध्य कालिंदी,
रस बस अनंग अरे।
पुहुप मंजरी मुकुनि माला,
अङ्ग अनुराग भरे।

मुरलि नाद मुख बेनु सुधा सुनि
ताप अनतप जो हरे ।

कहीं तो सूरदास ने जयदेव के छन्दों का रूपान्तर मात्र ही कर डाला है । वस्तुतः ऐसे ही छन्दों में वासना की विशेष गंध आगई है ।

देखिए—

गगन गरजि घहराइ, जुरी घटा कारी ।
\+ + + +
कहो वृषभानु को कुवरि सों बोलिके,
राधिका कान्ह घर लिए जारी,
दौड़ घर जाहु संग, नभ भयो स्याम रंग
कुंवर गह्यो वृषभान वारी,
गए अमवन और, नवल नन्द किशोर
नवल राधा नये कुंज भारी,
अंग पुलकित भये, मदन तिन तन जये ।
सूर प्रभु स्याम बिहारी ।

सूरदास का यह छन्द 'गीतगोविन्द' के निम्नलिखित मंगलाचरण का छायानुवाद सा प्रतीत होता है—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै ।
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय ॥
इत्थं नन्दनिदेशश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमं ।
राधा माधव योर्जयन्ति यमुना कूले रहः केलयः ॥

सूरदास के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से समझ लेनी चाहिए । वह अश्लीलता के वर्णन के अभिप्राय से काव्य-प्रणयन में प्रवृत्त नहीं हुए । उनकी काव्य-रचना का उद्देश्य भगवान के लीला-माधुर्य का आस्वादन करना और कराना था । उनके वर्णनों में यदि कहीं मर्यादा का अतिक्रमण हो गया है, तो हम इसे केवल काल, उनकी परिस्थितियों, का प्रभाव ही कहेंगे ।

---

(३७) राष्ट्रीयकरण

रूप रेखा—

(१) राष्ट्रीयकरण का स्वरूप।
(२) राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता।
(३) राष्ट्रीयकरण का इतिहास।
(४) राष्ट्रीयकरण से लाभ और हानियाँ।
(५) उपसंहार।

देश के उद्योग धन्धों का सरकारी नियन्त्रण में काम करना ही राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) कहा जाता है। राष्ट्र की सम्पत्ति का उत्पादन, उससे सम्बद्ध समस्त कार्य व्यक्ति के हाथ में न होकर राष्ट्र के हाथ में होने का ही नाम वस्तुतः राष्ट्रीयकरण है। आजकल के युग में बड़े बड़े उद्योग धन्धों से लेकर बालकों की शिक्षा दीक्षा तक इसके क्षेत्र के अन्तर्गत आगए हैं।

राष्ट्र अथवा राष्ट्र की सरकार के साथ देश की आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध क्या और कैसे हों—इसके सम्बन्ध में मुख्यतया दो विचार-धारायें प्रचलित हैं। दार्शनिक तथा लौकिक अथवा व्यावहारिक। दार्शनिक विचार-धारा वाले महानुभाव एक प्रकार से कल्पना लोक की बात करते हैं, वे मानव को पूर्ण मानव बनाकर उसके समस्त दोषों के निराकरण की आशा करके समाज की आर्थिक व्यवस्था को सर्वदोष रहित होने का सुख-स्वप्न देखते हैं। सम्भव है कि एक समय आए, जब उनका यह स्वप्न साकार हो और इस महीतल पर राम राज्य की प्रतिष्ठा हो जाए, परन्तु प्रस्तुत परिस्थितियों की सापेक्षता में आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्ध इस दार्शनिक विचार धारा का विशेष महत्व नहीं माना जा सकता है। इस विचार धारा के अन्तर्गत राष्ट्र का कोई स्थान नहीं है।

लौकिक अथवा व्यावहारिक विचार धारा वालों में दो सम्प्रदाय हैं—(१) व्यक्तिवादी तथा (२) समाजवादी। व्यक्तिवादी विचार धारा के

अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने साधनों एवं शक्ति के अनुरूप सम्पत्ति का उत्पादन एवं उपयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राष्ट्र का न कोई उत्तरदायित्व हो और न उसकी व्यवस्था में राष्ट्र द्वारा किसी प्रकार का हस्तक्षेप ही अपेक्षित किंवा वांछनीय ही है। यही व्यवस्था आगे चल कर पूँजीवादी व्यवस्था कहलाती है। इसके अन्तर्गत पूँजी एवं उत्पादन शक्ति का केन्द्रीयकरण हो जाता है—सम्पत्ति एक व्यक्ति के हाथों के नीचे दब जाती है।

समाजवादी विचार धारा के लोगों का कहना है कि राष्ट्र की सम्पत्ति से सम्बद्ध प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था में राष्ट्र का दायित्व होना चाहिए। उनका कहना है कि व्यक्तिवादी अथवा पूँजीवादी व्यवस्था में एक व्यक्ति के द्वारा सम्पत्ति का दुरुपयोग एवं श्रम का शोषण होता है, अतः राष्ट्र का जितना ही दायित्व होगा, जनता के हित उतने ही अधिक सुरक्षित रह सकेंगे। इस सम्प्रदाय के लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि उत्पादन के समस्त साधनों का स्वामित्व ही सरकार के हाथ में सौंप देने चाहिए। उनका कहना है कि व्यक्तिवादी आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध चारों ओर से आवाजें उठाई जा रही हैं। यथा—

"In the modern world there has been a swing in favour of collectivism and it is being increasingly realised that private ownership and capitalist industrialisation are associated with waste and reckless exploitation of the national resources, and disregard of public welfare. Demands are being made for the nationalisation of industries including such industries as mining, banking, communications, heavy chemicals and iron and steel etc."

उपर्युक्त कथन से यह ध्वनि निकलती है कि बड़े उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण हो और छोटे उद्योग धन्धों को यों ही, व्यक्ति के हाथों सौंप दिया जाए। इसका अभिप्राय यह है कि बड़े उद्योग-धन्धों तथा कुटीर उद्योग धन्धे समानान्तर चलें।

इसी के साथ एक और प्रश्न उठता है। राष्ट्रीयकरण केवल सरकार

के अंकुश तक ही सीमित हो अथवा व्यापक बनकर स्वामित्व का रूप धारण कर लें ? इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के मुख्यतया निम्नलिखित चार रूप हमारे सामने आते हैं। यथा —

(१) बड़े-बड़े उद्योग धन्धे सरकार के हाथ में रहें और कुटीर उद्योग धन्धे व्यक्ति के हाथ में रहें। राष्ट्रीयकरण और व्यक्तिवादी व्यवस्था दोनों ही प्रणालियाँ समानान्तर चलती रहें। हम चाहें तो इसको अर्द्ध-राष्ट्रीयकरण कह सकते हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत दोनों एक दूसरे की पूरक बनकर राष्ट्र का विपुल हित कर सकती हैं, परन्तु समस्या यह है कि दोनों के बीच विभाजन-रेखा कहाँ और किस प्रकार खींची जाए—उनकी सीमाओं का निर्धारण किस प्रकार किया जा सकेगा ? किस उद्योग को बड़ा और किस उद्योग को 'छोटा' कहा जा सकेगा ?

(२) सरकार समस्त उद्योग धन्धों का पूर्ण स्वामित्व अपने अधिकार में कर ले। कुटीर उद्योग धन्धे जैसी स्वतन्त्र आर्थिक प्रणाली की कोई चर्चा ही न रहे। आवश्यक पूँजी का प्रबन्ध, उद्योग धन्धों का संचालन, उत्पादित सम्पत्ति का वितरण आदिक समस्त कार्यों का दायित्व सरकार के ऊपर ही हो।

(३) सरकार के हाथ में पूँजी की व्यवस्था और संचालन का काम रहे। वितरण का प्रबन्ध व्यक्ति के हाथ में हो। अर्थात्, सरकार सामान तैयार करे और थोक व्यौपारियों के हाथों उसे बेच दे।

(४) उत्पादन, संचालन, वितरण आदि की व्यवस्था व्यक्ति के हाथ में हो, वही लाभ का भी अधिकारी हो, परन्तु सबके ऊपर सरकार का नियन्त्रण अथवा अंकुश रहे।

"आजकल प्रायः समस्त प्रगतिशील देशों की सरकारें लाभांश का वितरण, मूल्य निर्धारण तथा कर नीति के द्वारा देश के उद्योग धन्धों पर नियन्त्रण रखती हैं।

सारांश यह है कि राष्ट्रीयकरण के मुख्यतया दो स्वरूप हैं (१) सरकार द्वारा स्वामित्व और (२) सरकार द्वारा नियन्त्रण। हमारे देश की सरकार की नीति अभी सुनिश्चित रूप से निर्धारित नहीं हो पाई है।

वह कभी स्वामित्व की ओर झुकती है, कभी कुटीर उद्योग धन्धों को प्रोत्साहित करने की बात करती है और कभी केवल अंकुश लगाकर व्यक्तिवादी व्यवस्था को जीवित बनाए रखने की बातें करने लगती है। अस्तु !

इतिहास—उन्नीसवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) पश्चिमी यूरोप की आर्थिक व्यवस्था की एक अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना है। वाष्प इंजिन (Steam Engine) के आविष्कार के साथ ही श्रम का महत्व कम हो गया और मशीनों का राज्य स्थापित हो गया। मशीनों के आगमन के साथ ही उत्पादन की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हो गई और उनके फलस्वरूप पश्चिमी यूरोप की आर्थिक व्यवस्था पर गहरा किन्तु लाभकारी प्रभाव पड़ा। इङ्गलैण्ड में प्रजातन्त्र था। अतः आर्थिक उन्नति अथवा आर्थिक क्रांति का सूत्र व्यक्ति अथवा पूँजीवादी व्यवस्था ही के हाथ में रहा।

जिन दिनों औद्योगिक क्रांति हुई, उन दिनों मध्य एवं पूर्वी यूरोप में सामन्तशाही थी। अतः इन देशों की आर्थिक उन्नति राजकीय व्यवस्था के द्वारा ही सम्भव थी। और यही हुआ भी। पश्चिमी यूरोप में जो कार्य व्यक्तिगत पूँजी और साहस से किया, वही काम मध्य एवं पूर्वी यूरोप में राज्य द्वारा सम्पन्न किया गया। बस, राष्ट्रीयकरण की समस्या का उदय भी यहीं से हुआ। इस प्रकार राष्ट्रीयकरण औद्योगिक क्रांति का सौतेला भाई है। औद्योगिक क्रांति की भाँति राष्ट्रीयकरण भी उन्नीसवीं शताब्दी की एक अत्यधिक महत्वपूर्ण आर्थिक घटना है।

पूर्वी यूरोप में राष्ट्रीयकरण कब और किस प्रकार कार्यान्वित हुआ इसका ज्वलन्त उदाहरण जर्मनी में सर्व प्रथम देखने को मिलता है। बिस्मार्क जर्मनी को पूर्ण शक्तिशाली—पश्चिमी देशों—विशेष कर इङ्गलैंड के समकक्ष शक्तिशाली बनाना चाहता था। इसके लिए उसने राष्ट्रीयकरण का सहारा टटोला और यातायात व्यवस्था के विकास एवं पुनर्गठन की ओर ध्यान दिया। उसके विचार से इनके विकास की सर्वप्रथम आवश्यकता थी। उसने यातायात को अपने हाथ में लिया और सर्वप्रथम

रेल व्यवस्था का राष्ट्रीयकरण कर डाला। इसी कारण आस्ट्रिया और हंगरी के राज्यों ने भी रेलों को सरकारी सहायता एवं संरक्षण प्रदान किए। उन दिनों रूस की गणना भी पिछड़े हुए देशों में थी। उसने भी राष्ट्रीयकरण अपनाया। वहाँ की सरकार ने खानों, रेलों, लोहा, व इस्पात के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर डाला। उनसे सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवस्था सरकार के हाथों में चली गई।

राष्ट्रीयकरण के द्वारा रूस को सर्वाधिक लाभ हुआ। राष्ट्रीयकरण करके अथवा समस्त उद्योग धन्धों पर सरकारी स्वामित्व में करके, उसने श्रम का अत्यधिक उपयोग किया और औद्योगीकरण में आशातीत—आशातीत ही क्या, आश्चर्यजनक उन्नति कर डाला। विकसित रूस का वर्त्तमान स्वरूप इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्रीयकरण के द्वारा किसी देश की काया-पलट किस प्रकार किया जा सकता है। अस्तु!

बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीयकरण की विचारधारा काफी प्रबल है। इसके आरम्भ में पोलैण्ड तथा तुर्की ने भी राष्ट्रीयकरण की योजनाएँ बनाई थीं। इङ्गलैण्ड जैसे पूँजीवादी एवं पूँजीपति देश में भी राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था को उपयोगी समझा जाने लगा है। इतना ही नहीं इस नीति को अपना कर कुछ प्रयोग भी किए जा चुके हैं। वहाँ की पिछली सरकार मजदूर सरकार (Labour Government) ने बीमा-व्यवसाय, शिक्षा तथा स्वास्थ्य का राष्ट्रीयकरण कर ही डाला था। सुखकर राज्य (Welfare State) की कल्पना का मूलाधार वस्तुतः राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) ही है।

[illegible] में भी राष्ट्रीयकरण के प्रयोग आरम्भ हो गए हैं। [illegible] पाँव जमाती जाती है, वैसे वैसे उद्योग धन्धों को अपने हाथ में लेती जा रही। बीमा-व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण अभी तक के प्रयोगों में उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयोग है। आगे क्या हो कुछ नहीं कहा जा सकता है। वैसे हमारी सरकार की इस ओर नीति अभी अनिश्चित ही है। वैसे पंचवर्षीय योजनाएँ राष्ट्रीयकरण के ही छद्म प्रयोग हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि देश की आर्थिक व्यवस्था में हस्तक्षेप

करना एवं उस पर अधिक से अधिक नियन्त्रण रखना आज दिन प्रत्येक देश की सरकार का एक महत्वपूर्ण दायित्व बन गया है। आधुनिक युग के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कीन्स के मतानुसार "व्यक्तिवादी व्यवस्था स्वभावतया अस्थिर है। राज्य की सहायता के बिना वह अस्थिरता दूर नहीं हो सकती है। सारांश यह है कि चूँकि व्यक्तिवादी व्यवस्था में अनेक त्रुटियाँ पाई जाती हैं, इसीलिए राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता का प्रभाव हुआ और उसको प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वैसे राष्ट्रीयकरण न कोई नवीन वस्तु है और न समाज को उसकी मौलिक आवश्यकता ही है।

राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था के लाभ और उससे होने वाली हानियों पर विचार करने के पूर्व हम दो बातें विशेष रूप से निवेदन कर देना चाहते हैं—

(१) वर्तमान परिस्थितियों में समाज के आर्थिक जीवन से राष्ट्र को अलग रखना एवं उसको राज्य-व्यवस्था का निरपेक्ष बनाना प्रायः असम्भव है। यह हो ही नहीं सकता है कि सरकार देश की आर्थिक व्यवस्था के प्रति उदासीन बनी रहे, वह न तो किसी प्रकार का दायित्व ही स्वीकार करे और न किसी प्रकार से हस्तक्षेप ही करे।

(२) सरकार के हाथ में आर्थिक व्यवस्था सौंप देना हमारे विचार से समाजवाद नहीं है। यदि ऐसा ही है, तब तो हमारे विचार से समाजवाद की प्रतिष्ठा एक बहुत ही सुगम एवं सरल कार्य है। क्योंकि (क) समाजवाद की स्थापना के लिए एक सामाजिक दृष्टिकोण विशेष की आवश्यकता होती है तथा (ख) सरकार को चलाने वाले व्यक्ति एक विशेष राजनीतिक दल से सम्बन्धित होते हैं। इसके साथ ही, यह सत्य है कि राजनीतिक दलों के कर्णधार प्रायः पूंजीपति ही होते हैं। इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था का संचालन, घूम-फिर कर, कुछ इने-गिने व्यक्तियों में सीमित हो जाता है, जो समाजवादी व्यवस्था के नियोजित स्वरूप के विरोध में पड़ता है।

कार्ल मार्क्स के सिद्धांत में वस्तुतः राष्ट्रीयकरण के बीज विद्यमान थे। और उसी के आधार पर राष्ट्रीयकरण का महत्व दिनों दिन बढ़ता गया। वह पूँजीवाद तथा पूँजीपतियों को मिटाने के पक्ष में था। फलतः वह

सामंतों के हाथ से शासन-व्यवस्था लेकर सर्वहारा वर्ग के शासन का हामी था। लेनिन तथा स्टैलिन ने उसके सिद्धांतों को कार्यरूप में परिणित किया। आर्थिक क्षेत्र में जिस विचार धारा ने राष्ट्रीयकरण को जन्म दिया, राजनीतिक क्षेत्र में वही साम्यवाद की प्रतिष्ठा का हेतु बनी। रूसी साम्यवाद की आधारशिला राष्ट्रीयकरण है। बालकों के लालन-पालन से लेकर खेती बारी तक सब काम राष्ट्रीयकृत है। रूस की तो सर्वतोमुखी उन्नति के कारण तथा साम्यवाद की व्यवस्थाओं के प्रति आस्था उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। समाज की सुख-शांति में रुचि रखने वाले विचारक गण आज राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था के पक्षपाती बन गए हैं। यह बात दूसरी है कि वे शतप्रतिशत राष्ट्रीयकरण चाहते हैं अथवा आंशिक राष्ट्रीयकरण।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में सबसे अधिक महत्वपूर्ण तर्क यह है कि इसके कारण श्रमिक वर्ग का शोषण समाप्त हो जाता है, साथ ही पूँजीपतियों और मजदूरों के बीच आए दिन होने वाले झगड़े समाप्त हो जाते हैं। इसके पक्षपातियों का यह भी कहना है कि उद्योग धन्धों के सङ्गठन के खर्चों में कमी हो जाती है; लाभांश को राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में लगाकर सरकार की आर्थिक दशा में सुधार किया जा सकता है। जनता पर लगने वाले करों में कमी की जा सकती है। सारांश यह है कि राष्ट्र की सम्पति को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है, आदि। अपने तर्क की पुष्टि में रूस और चीन के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

सिद्धांत रूप से राष्ट्रीयकरण के उक्त लाभ बहुत ही हितकर एवं आकर्षक प्रतीत होते हैं। परन्तु प्रश्न इस बात का है कि जहाँ राष्ट्रीयकरण किया गया है, क्या वहाँ ये संकट—मजदूरों के झगड़े, हड़तालें, अपव्यय, टैक्स आदि में कमी आगई है? हमारा विचार है कि राष्ट्रीयकरण होने के साथ ही व्यक्ति की जगह सरकार पूँजीपति का स्थान ले लेती है और मजदूरों की समस्यायें ज्यों की त्यों बनी रहती हैं ब्रिटेन का कोयला उद्योग, जहाजों का व्यापार तथा भारतवर्ष के रेल्वे एवं डाक तार विभागों की समस्याएँ इसके ज्वलन्त हैं। श्रमिक वर्ग पहले मिल मालिकों पर दाँत लगाए रहता था, अब मिनिस्टरों पर दाँत लगाए रखता है।

सरकार द्वारा परिचालित उद्योग में प्रतिस्पर्द्धा का तत्व रहता ही नहीं है। अतः वहाँ हानि लाभ की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। वहाँ कर्मचारियों का कार्य कुशलता (Efficiency) गौण पड़ जाता है और उन्हें केवल अपने वेतन से सरोकार रह जाता है। इस कारण एक ओर सरकारी कर्मचारियों की कार्यक्षमता बहुत ही कम हो जाती है और दूसरी ओर उनकी देख-भाल करने का व्यय बढ़ जाता है। सरकारी कर्मचारी कर्मचारी न रह कर अफसर बन जाते हैं। अफ्रीका के मूंगफली के उद्योग के राष्ट्रीयकरण के असफल होने का यही कारण था। भारतवर्ष के बीमा-व्यवसाय का अभी हाल में ही राष्ट्रीयकरण हुआ है। उसके रंग ढंग भी विशेष आशाजनक नहीं हैं। चारों ओर से शिकायतें सुनाई पड़ती हैं। रुपया पहुँच गया है, तो रसीद नहीं आई है किस्त पहुंच गई है तो एजेण्ट का कमीशन नहीं आया है, किसी की मृत्यु हो गई है, तो भुगतान की कार्यवाही नहीं हो रही है—आदि। सारांश यह है कि कर्मचारियों की उदासीनता के कारण सरकारी उद्योग-धन्धों में साहस तथा कार्यकुशलता का सदैव अभाव बना रहता है।

अब केवल एक और बात पर विचार करना रह जाता है। राष्ट्रीयकरण के द्वारा क्या सचमुच सरकार की आर्थिक दशा में सुधार हो जाता है और जनता पर लगने वाले करों में कमी हो जाती है? इस प्रश्न का तर्क के आधार पर उत्तर देना एक विवाद खड़ा कर देता है। केवल सजीव उदाहरणों के आधार पर ही मत निर्धारित करना अधिक सुगम एवं व्यावहारिक हो सकता है। भारतवर्ष की सरकार जैसे जैसे अपने हाथ में अधिक काम लेती जा रही है वैसे वैसे हमारी विदेशी मुद्रा की स्थिति डाँवाडोल होती जा रही है और करों में वृद्धि होती जा रही है। इसका एक कारण है। व्यक्तिवादी व्यवस्था में तो व्यक्ति अपनी पूँजी के लाभ हानि, उसके द्वारा प्राप्त लाभ आदि की ओर सजग बना रहता है। परन्तु सरकारी व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रकार के प्रश्न नहीं उठते हैं—क्योंकि धन एकत्र करने के लिए उसके पास विपुल स्रोत उपलब्ध रहते हैं। जभी धन की आवश्यकता हुई, तभी नए टैक्स लगा दिए। बीमा

व्यवसाय में व्यय का अनुपात वाली बीमा-कानून की धारा, बहुत सी फिजूल खर्ची को रोके रहती थी। अब राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इस प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं रहे हैं और अफसरों एवं कर्मचारियों के वेतन तथा अन्य व्यय निर्धारित करते समय उनकी आवश्यकतायें, देश की इज्जत आदि बातों को आधार बनाया जाता है। हमारे विचार से राष्ट्रीयकरण के द्वारा हमारे देश की एक बहुत बड़ी हानि यह हुई है कि व्यक्तिगत साहस एवं कार्यकुशलता एक दम कम हो गई है। हम प्रत्येक काम के लिए सरकार की ओर देखने लगे हैं। हम लोग अब कोई काम करना ही नहीं चाहते हैं। कोई भी काम हो, हम उसको पूरा करने के लिए सरकार को जिम्मेदार मान लेते हैं। राष्ट्रीयकरण ने जनता को किसी हद तक अकर्मण्य और कर्णधारों को राष्ट्रीय सम्पत्ति की ओर से उदासीन बनाने में पर्याप्त सहायता पहुँचाई है।

तब समस्या यह है कि क्या किया जाए? पूँजीवादी व्यवस्था से मुक्ति पाने के लिए राष्ट्रीयकरण अथवा समाजवादी व्यवस्था की शरण ली गई, परन्तु आसमान से गिरे और खजूर पर अटके वाली बात हुई। पाठक सहमत होंगे कि आर्थिक व्यवस्था पर सरकार का स्वामित्व हो जाना ही समाजवाद समाज का हित करने वाली व्यवस्था नहीं है। पूज्य बापू इस समस्या को तथा इसकी भावी कठिनाइयों को जानते थे। वह यह भी जानते थे कि समाजवाद का वास्तविक स्वरूप क्या है। वह समाजवाद का अर्थ मानववाद करते थे। उनके मतानुसार समाजवाद की स्थापना के लिए शक्ति और पूँजी दोनों का विकेन्द्रीकरण आवश्यक था—क्योंकि दोनों अन्योन्याश्रित हैं। कौन नहीं जानता है कि राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता प्राप्त महानुभाव पूँजीपतियों के एक नए वर्ग का निर्माण कर रहे हैं? उनके मतानुसार राजनीतिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण का रूप था पंचायत राज्य अथवा ग्राम-पंचायत राज्य, और आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण का प्रतिनिधि था 'चर्खा' अथवा कुटीर उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन।

राष्ट्रीयकरण सिद्धान्ततः बुरा नहीं है। बीमा-व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के पश्चात ज्यों-ज्यों चट्टानें हटती जाती हैं, त्यों-त्यों उनके नीचे दबे हुए

कीड़े-मकोड़े सामने आते जा रहे हैं। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि अन्यान्य दोष उत्पन्न होते जा रहे हैं। तात्पर्य यह है कि व्यवस्था कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, परन्तु जब तक उसको कार्यान्वित करने के लिए कमठ एवं कुशल कर्मचारी न होंगे, तब तक उसकी सफलता संदिग्ध ही बनी रहेगी। तब कुशल, ईमानदार, समाज के हित को ध्यान में रख कर कार्य करने वाले व्यक्तियों का निर्माण किस प्रकार किया जाए? यह एक पृथक विवेचन का विषय है।

हमारा विचार है कि भारतवर्ष इतना बड़ा देश है तथा उसमें इतने अधिक उद्योग-धन्धे चालू हैं कि उनके लिए कोई एक सार्वदेशिक एवं सर्वमान्य नीति निर्धारित करना एक दुस्तर कार्य है। परन्तु साथ ही, सरकार को चाहिए कि अपना आर्थिक आदर्श, अपने देश के भावी आर्थिक स्वरूप को गंभीरतापूर्वक निश्चित करले और फिर उसी के अनुरूप आर्थिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करे। अभी तो उसकी नीति एक प्रकार से अस्थिर ही कही जाएगी। कभी राष्ट्रीयकरण की बात चल पड़ती है, कभी व्यक्तिवादी व्यवस्था को जीवित रखने की चर्चा कर दी जाती है, कभी दाम लेने के लिए पूँजीपतियों के मन की बात कह दी जाती है, कभी ऐसी बातें कह दी जाती हैं जिनको सुनकर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि देश में साम्यवाद का बोलबाला होने में थोड़ी ही देर है—आदि।

हमारी योजनाओं एवं हमारी आवश्यकताओं को देखते हुए सचमुच हमारे देश में धन की कमी है, और साथ ही हमारी वितरण-प्रणाली अव्यवस्थित है। अर्थ शास्त्री कालालवानी के मतानुसार, हमारी आर्थिक नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे उत्पादन में वृद्धि हो, प्रति व्यक्ति की आय (Income per capita) बढ़े, कृषि में सुधार हो, गृह-उद्योग धन्धों की उन्नति हो, औद्योगीकरण द्वारा उत्पादन बढ़े एवं देश के निवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा उठे।"

भारतवर्ष की आर्थिक दशा में उन्नति करने के लिए अर्थ-व्यवस्था-सम्बन्धी कायदे-कानूनों की गिनती नहीं बढ़ाई जाने चाहिए। इससे व्यौपार की स्वतन्त्र गति-विधि को तरह-तरह की बाधाओं का सामना करना पड़ता

है। हमको सांस्कृतिक शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए तथा अपने आच-रण द्वारा त्यागशीलता के आदर्श उपस्थित करने चाहिए ताकि देशवासियों में स्वार्थपरता के स्थान पर समाज-हित के भाव पल्लवित हों। उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए राष्ट्रीयकरण के निम्नलिखित तीनों रूपों को यथा स्थान आवश्यकतानुसार काम में लाया जाना चाहिए। यथा—

(१) पूर्ण राष्ट्रीयकरण—बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों को सरकार अपने हाथ में लेले। यातायात, रेलें, रासायनिक पदार्थ, खानें, कल-पुर्जे बनाने के कारखाने डाक आदि सरकार के हाथ में हैं ही। टेलीफोन, रेल के ऐंजिन व डिब्बे बनाने के कारखाने, खाद, सीमेन्ट के कारखाने आदि सरकार खोलती ही जा रही है। यह सर्वथा देश-हिताय है।

(२) अर्द्ध-राष्ट्रीयकरण—कुछ उद्योग-धन्धे व्यक्तिगत साहस एवं व्यवस्था पर छोड़ देने चाहिए। सरकार उनके ऊपर थोड़ा-बहुत अंकुश भले ही रखे, परन्तु उनके स्वामित्व की चर्चा भी न करे। लाभांश का वितरण, कर्मचारियों के वेतन एवं उनकी सुरक्षा, विनियोग आदि से सम्बन्धित नियम सरकार द्वारा बना दिए जाने चाहिए। बैंकिंग एवं कपड़ा व्यवसाय इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं।

पंचवर्षीय योजना के कारण आजकल कुछ आर्थिक कठिनाइयाँ अवश्य उत्पन्न हो गई हैं। महँगाई, मुद्रास्फीति, चोर बाजार आदि को रोकने के लिए सरकार को बैंकों की गतिविधियों पर विशेष नियन्त्रण रखने की आव-श्यकता पड़ गई है। परन्तु ये संक्रान्ति कालीन आवश्यकताएँ एवं कठि-नाइयाँ हैं। इनके कारण हमको ऐसी कोई नीति नहीं अपनानी चाहिए जिसके फलस्वरूप देश की आर्थिक व्यवस्था को कोई स्थायी हानि पहुँच जाए और बाद में हमको पश्चाताप करना पड़े।

तथा—

(३) कुटीर उद्योग-धन्धों अथवा गृह उद्योग-धन्धों को एकदम व्यक्ति-वादी व्यवस्था पर छोड़ देना चाहिए। सरकार को इनसे किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं रखना चाहिए। चटाई बनाना, खिलौने बनाना, बर्तन

बनाना, सूत कातना, पंखे बनाना आदि व्यवसाय इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

सारांश यह है कि सरकार और आर्थिक व्यवस्था का पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा हो कि व्यक्ति और समाज परस्पर विरोधी न बन सकें। बड़े और छोटे उद्योग-धन्धे एक दूसरे के विरोधी और रोड़े न होकर एक दूसरे के साधक और पूरक बन जाएँ।

(३८) श्रम का महत्व

रूप-रेखा

(१) श्रम की व्याख्या।
(२) जीवन में श्रम का स्थान।
(३) श्रम की उपेक्षा।
(४) श्रम की आवश्यकता।
(५) भारत की पंच वर्षीय योजना और श्रम।
(६) उपसंहार।

हाथ-पैर हिलाने का नाम श्रम है। वैसे तो किसी भी प्रकार का काम करना श्रम या परिश्रम कहा जा सकता है—परन्तु शारीरिक परिश्रम के लिए ही 'श्रम' शब्द योगरूढ़ हो गया है।

श्रम ही जीवन है। हम परिश्रम करके ही जीवित रह सकते हैं। बिना श्रम किए हम न तो अपना पेट ही भर सकते हैं और न पेट में पड़े हुए भोजन को पचा ही सकते हैं। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा काम, हाथ-पैर हिलाकर ही किया जा सकता है। बालक जब छोटा होता है, तो वह चारपाई पर अथवा पालने में लेटा-लेटा अपने हाथ-पैर चलाता रहता है। इस प्रकार श्रम द्वारा वह अपनी पाचन-शक्ति को ठीक रखता है। फिर वह घुटनों के बल चलने लगता है और कालान्तर में अपने पैरों पर खड़ा होना सीख लेता है और पैरों चलने लगता है। इसके बाद वह

प्रौढ़ व्यक्तियों की भांति हाथ-पाँव चलाकर अपने सब काम करने लगता है। जीवन में यदि श्रम की व्यवस्था न हो, तो हम हाथ पर हाथ रखे जड़ पदार्थों की भांति किसी एक स्थान पर बैठे रहें अथवा रखे रहें तथा हम सर्वथा निर्जीव एवम् गतिहीन प्रतीत होने लगें।

हम जीवन का कोई कार्य ले लें, वह शारीरिक परिश्रम के द्वारा ही पूरा होता है। अन्न-उत्पादन से लेकर विज्ञान के आविष्कार तक, हर काम में श्रम की अपेक्षा रहती है। श्रम प्रकृति का अखण्ड एवम् अबाध नियम है। आकाश-मण्डल के सूर्य-चन्द्र एवम् नक्षत्रादि, पृथ्वी पर कल-कल करके बहने वाले झरने, विपुल लहरियों से सुशोभित जलाशय एवम् जल-राशि, चहचहाने वाले पक्षी सबके सब निरन्तर श्रम करते हुए दिखाई देते हैं। बिना श्रम किए कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा करने वाले को समाज कभी आलसी कहता है, कभी हरामखोर कहता है और कभी अजगर आदि संज्ञाओं से विभूषित करता है।

परिश्रम करने से शरीर के अङ्गों में हलचल होती है और उनमें गर्मी आ जाती है। श्रम करते समय हमारे शरीर से पसीना निकलता है—जो हमारे शरीर के भीतर भरा हुआ एक प्रकार का मैल अथवा विष है। जिसके शरीर के रन्ध्रों में होकर पसीना नहीं निकलता है, वे लोग प्रायः रोगी बने रहते हैं। परिश्रम करने वाले व्यक्ति को शायद ही कभी कोई रोग होता हो। इतना ही नहीं, वह आत्म विश्वासी एवम् स्वावलम्बी बना रहता है और अधिक सुखी रह सकता है। वह सब काम अपने आप करता है और अपने काम के लिए उसको किसी अन्य व्यक्ति की ओर नहीं देखना पड़ता है। जो लोग अपने हाथ-पाँवों को नहीं हिलाते हैं, उन्हें बात पीछे नौकर या मजदूर का आश्रित रहना पड़ता है तथा उनकी कमाई का बहुत बड़ा हिस्सा मजदूरों को मजदूरी देते-देते खर्च हो जाता है। ऊपर से वे डाक्टरों के द्वारों के चक्कर लगाते हैं, वह अलग। यह तो प्रतिदिन का अनुभव है कि बाहर से देखने में सब आदमी समान प्रतीत होते हैं, परन्तु कुछ लोग अधिक दुःखी दिखाई देते हैं और कुछ अपेक्षाकृत अधिक दुःखी दिखाई देते हैं। ध्यान से देखने पर विदित होता है कि शरीर

से श्रम करने वाला व्यक्ति अधिक सुखी रहता है। वह अपने समय का सदुपयोग करता है और पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ जीवन में प्रवृत्त रहता है। वह कभी यह सोच ही नहीं सकता है कि 'भूखों मरना' भी जीवन का एक अंग है। वह तो एक ही बात याद रखता है कि जिसके हाथ-पाँव चलेंगे, वह ठोकर मारकर पाताल तोड़ देगा, और जहाँ मेहनत करेगा वहीं कमा खाएगा। परन्तु आलसी व्यक्ति हमेशा जमाने की शिकायत करता रहता है और अपने भाग्य को कोसता रहता है।

हम किसी भी महापुरुष का जीवन-चरित्र देख लें—हमको एक तथ्य सर्वत्र व्याप्त दिखाई देगा—वह दिन-रात परिश्रम करता रहता था। वास्तविक बात तो यह है कि श्रम के अभाव में हाथ-पाँव एवम् दिमाग में जङ्ग लग जाता है, मनुष्य के अवयव बेकार हो जाते हैं। जिस तरह प्रयोग में आने वाली चाबी हमेशा चमकदार बनी रहती है, उसी प्रकार श्रम करने वाला व्यक्ति हमेशा तरोताजा और प्रसन्न दिखाई देता रहता है। आज रोग और रोगियों की संख्या में दिनोंदिन वृद्धि होने का एकमात्र कारण ही यह है कि हम लोगों ने शरीर से काम लेना बहुत कम कर दिया है। आज से २५ वर्ष पूर्व घर की स्त्रियाँ चक्की चलाना, मकान लीपना आदि कार्य किया करती थीं तथा पुरुष वर्ग कुएँ से पानी खींचना, जानवरों के लिये कुटी काटना आदि काम करता था। सब लोग निरोग रहते थे तथा कम पैसे में जीवन-निर्वाह करते हुये सुखी थे। आज के जमाने में भी अपने आपको सभ्य कहने वाला वर्ग—जो अपना तथा अपने घर का बहुत काम करता है, शरीर द्वारा श्रम करने के लिये अन्य अनेक उपाय काम में लाता है। कभी वह घूमने जाता है, कभी वह टैनिस, हॉकी आदि खेल खेलता है। अस्तु।

प्रश्न उठता है कि जब श्रम ही जीवन है, वह जीवन का साधन भी है और साध्य भी है, तब फिर उसके विवेचन की, उसके महत्व की चर्चा की, आवश्यकता ही क्यों कर उत्पन्न हुई। हमारा निवेदन है कि मशीन युग के साथ-साथ, औद्योगिक क्रांति के बाद, हमारे जीवन में शारीरिक श्रम के लिये बहुत कम स्थान रह गया। भांति-भांति की मशीनों के उपलब्ध हो

जाने पर परिणाम यह हुआ कि हमारे अनेक काम मशीनों द्वारा किए जाने लगे और शारीरिक श्रम की बचत होगई अथवा वह बेकार होगया। श्रम की बचत का एक परोक्ष परिणाम यह भी हुआ कि मशीन का प्रयोग सभ्यता एवम् उन्नति का लक्षण बन गया। बस फिर क्या था। अपने आप को सभ्य एवम् उन्नतिशील कहलाने की धुन में समाज ने शारीरिक श्रम की उपेक्षा एवम् मशीनों की अधिकाधिक अपेक्षा को अपनी सफलता का रहस्य समझ लिया और हमारा शरीर वस्तुतः मशीनों का दास बन गया। श्रम की उपेक्षा के जितने भी भयङ्कर परिणाम हो सकते थे, सब हमारे जीवन में परिव्याप्त दिखाई देते हैं।

मशीनों ने मानव के श्रम के प्रति अनादर एवं उपेक्षा के भाव उत्पन्न किए। फलतः मानव अपने को एक तुच्छ प्राणी समझ बैठा और वह एक प्रकार की हीनत्व भावना से ग्रसित होगया। मशीनों की उन्नति का एक दुःखद परिणाम यह भी हुआ कि मानव का शारीरिक विकास अवरुद्ध होगया और वह भाँति-भाँति के रोगों का शिकार बन गया। कौन नहीं जानता है कि हम लोग धीरे-धीरे बौना बनते जा रहे हैं। हमारे शारीरिक आकार ह्रासोन्मुख हैं। इसको चाहे सभ्यता के विकास का लक्षण मान लीजिए अथवा अपना दुर्भाग्य! इतना ही नहीं, जीवन में श्रम के लिए कम स्थान रह जाने का एक और भयंकर परिणाम हुआ। यह परिणाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। और वह है बेकारी की समस्या। जब एक हजार व्यक्तियों की जगह केवल एक मशीन ही काम करने में समर्थ है, तो नौ सौ निन्यानवे व्यक्तियों का बेकार अथवा बेरोजगार होजाना स्वभाविक ही है। बेकारी की समस्या आज संसार के प्रायः प्रत्येक देश में व्याप्त है। उसका एक मात्र कारण है जीवन में श्रम की आवश्यकता में कमी आजाना।

भारतवर्ष में श्रम की उपेक्षा की ओर ध्यान आकर्षित किए बिना यह प्रसंग अपूर्ण ही रह जायगा। मशीनों की उपलब्धि के साथ जीवन में श्रम का स्थान कम होगया और साथ ही गुलामी के कारण बाबूगीरी का महत्त्व बढ़ गया। परिणाम वही हुआ जो गिलोय के नीम पर चढ़ जाने

का नतीजा होता है। इस देश में शारीरिक श्रम के प्रति अनादर का भाव आ गया और प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक श्रम से जी चुराने लगा है। एक हजार रुपए मासिक पाने वाले अँग्रेज साहब भले ही अपना काम हाथों करलें, परन्तु बी०ए० पास हिन्दुस्तानी बाबू की पत्नी अपने हाथ से भरकर पानी भी पीना पसन्द नहीं करती हैं। इस प्रकार जीवन में श्रम का महत्त्व कम हो जाने के कारण हमारे जीवन में अनेक कठिनाइयाँ एवं परेशानियां पैदा होगई हैं। हम भारतीयों की गरीबी, बेकारी, भुखमरी आदि अभिशापों के मूल में एक ही कारण समान रूप से व्याप्त है - जीवन में श्रम का महत्त्व कम होजाना।

स्वर्गीय पूज्य बापू ने जमाने की इस हवा और इसके द्वारा होने वाली हानियों को समय रहते पहिचान लिया था और उन्होंने भारतवासियों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित किया था, ताकि हम लोग समय से चेत जाएँ। उन्होंने चरखे को सफलता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन बताया, कुटीर उद्योग-धन्धों के विकास पर बल दिया, अपना सब काम अपने हाथों करने की शिक्षा दी। केवल एक कारण वश। भारतवासी श्रम की श्रेष्ठता और जीवन में उसके महत्त्व को समझ लें और अपने जीवन को स्वाभाविक रूप में व्यतीत करके अधिक सुखी रह सकें। श्रम रहित जीवन कृत्रिम प्रतीत होता है। वह विडम्बना बन जाता है।

परन्तु अन्य बातों के साथ यह बात भी मानो चिकने घड़े पर पड़ी और रपट कर नीचे गिर पड़ी। देश को स्वतन्त्रता भी प्राप्त हुई और अपने आप देश का निर्माण करने का अवसर भी आया। परन्तु बापू की बात न मानी गई। प्रत्येक व्यक्ति को राम की भाँति स्वावलम्बी बनाकर 'राम-राज्य' स्थापित करने का उनका स्वप्न केवल स्वप्न-लोक की चर्चा बन कर रह गया। देश की उन्नति के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ भी बनाई गईं, विकास-योजनाएँ भी बनाई गईं, अनेक आयोगों की नियुक्ति भी हुई, कई सम्मेलन भी हुए, सब कुछ हुआ, परन्तु वास्तविक हित की बात किसी को न दिखाई दी। देश के हितार्थ बनाई जाने वाली प्रत्येक योजना

में श्रम के स्थान पर धन को महत्त्व प्रदान किया गया। प्रत्येक योजना का आधार द्रव्य है, देश वासियों का खून पसीना नहीं।

श्रम की इस उपेक्षा के कई दुःखद परिणाम दिखाई दे रहे हैं। ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं जो इन योजनाओं को अपनी वस्तु समझते हैं। वेतन पाकर काम करने वाले व्यक्ति भी पूरी सच्चाई के साथ काम नहीं करना चाहते हैं, वे अपने आपको केवल किराए का टट्टू ही समझते हैं। उनमें न शरीर के श्रम के प्रति ही आस्था है और न इन योजनाओं के प्रति ही कोई विश्वास है। इतना ही नही, कोई आदमी काम करना ही नहीं चाहता है। वह समझ बैठा है कि सब काम सरकारी धन द्वारा पूरे हो जाते हैं अथवा हो रहे हैं, मुझको क्या पड़ी है जो अपने शरीर को कष्ट दूं और खून का पसीना करूँ। कुछ लोगों को सम्भवतः मेरे उक्त कथन पर आपत्ति हो। वे कहने लगे कि 'श्रम-दान-आन्दोलन' इस बात का प्रमाण है कि हम लोगों को, हमारी सरकार को, हमारे नेताओं को, हमारे कर्णधारों को श्रम का महत्त्व विदित है और वे इस ओर प्रयत्नशील हैं। हमारा निवेदन है कि श्रम दान आन्दोलन केवल एक औपचारिक वस्तु है। फोटो खिचाने, व्याख्यान देने, विज्ञापन करने आदि तक ही वह सीमित है। कोई 'शरमदान' कह कर उसका मजाक उड़ाता है और कोई उसको नेतागीरी का हथियार कहता है। इतना हम भी कह सकते हैं कि हमारी राष्ट्रीय सरकार को यदि यह विश्वास होता कि देश वासियों के श्रम द्वारा पंच वर्षीय योजनाएँ पूरी की जा सकती हैं, तो उसने करोड़ों रुपयों की आवश्यकता की जगह करोड़ों व्यक्तियों के श्रम की चाह की होती। श्रम की उपेक्षा के कारण ही हमारी सरकार अधिकाधिक टैक्स लगाती जारही है और विदेशों की कर्जदार बनती जारही है। हमारे वित्त मन्त्री अथवा अन्य कर्णधार विदेशों के आगे जब हाथ फैलाते हैं, तब हमारा मस्तक लज्जा के कारण नीचे की ओर झुक जाता है। हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि देश के विकास को श्रम-साध्य एवं श्रम-सापेक्ष समझा जाने लगे, तो हमारे स्वाभिमान की बहुत कुछ रक्षा हो जाय और हमको व्यर्थ की अनेक चोटें न सहनी पड़ें।

श्रम की उपेक्षा के फलस्वरूप हमारे सब काम अधूरे रह जाते हैं। जैसी लोकोक्ति है--कभी बरकत ही नहीं हो पाती है। "यद्यपि हमारी विदेश-मुद्रा की स्थिति डाँवाडोल है, तथापि हमारी आर्थिक-व्यवस्था सुदृढ़ है"—आदि वचनावलियाँ सुनकर हमको अपने परिचित एक अकर्मण्य व्यापारी के ये शब्द याद आ जाते हैं कि, मुझे मुनाफा तो काफी हो रहा है, परन्तु मेरे पास नकदी जमा नहीं हो पाती है" नकदी जमा हो कैसे? हाथ पैर हिलाने का काम पैसों से न होकर हाथ-पैरों से ही हो सकता है। श्रम की उपेक्षा करते रहने का यह आवश्यक परिणाम होता है कि आदमी का शरीर अकर्मण्य होता जाए और उसकी पूँजी खाली होती जाए। मोमबत्ती को दोनों सिरों पर जलाने का परिणाम शीघ्र विनाश ही होता है। जो व्यक्ति या समाज श्रम की उपेक्षा करता है, उसका भविष्य सर्वथा अन्धकारमय होता है।

मशीनें कितनी ही क्षमतावान् हो जाएँ, परन्तु उनको परिचालित करने के लिए मानव श्रम सदैव अपेक्षित रहता है। अतः श्रम का महत्व स्वयम् सिद्ध है। मानव को चाहिए कि अपने आपको मशीनों का दास न समझ कर उनका स्वामी समझे। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि वे हमारी उन्नति में साधक न होकर बाधक हैं। श्रम-दान के द्वारा कहीं-कहीं उपयोगी कार्य भी हुए हैं। हमारी विकास-योजनाएँ यदि केवल श्रम-सापेक्ष ही हों, तो हमारे देश का विकास बहुत ही द्रुत-गति से सम्भव हो तथा अर्थ-सम्बन्धी अनेक समस्याएँ स्वतः हल हो जाएँ। मशीनों की कीमत के रूप में बहाई जाने वाली धनराशि तथा तनख्वाह के रूप में अफसरों को लुटाई जाने वाली रकम को अगर केवल मजदूरी के रूप में ही प्रयुक्त किया जाए, तो देश में न बेकारी रहे, न भुखमरी रहे और न यह मँहगाई हो। आलसी एवम् अकर्मण्य लोगों की संख्या को कम करके देश की उन्नति करने का एकमात्र यही उपाय है कि हम अपने जीवन में श्रम के महत्त्व को भली प्रकार समझने लगें।

---

(३६) भारतवर्ष में बेकारी की समस्या

रूप-रेखा—

(१) बेकारी किसे कहते हैं ?
(२) देश में बेकारी के रूप।
(३) बेकारी का प्रभाव।
(४) बेकारी दूर करने के उपाय।
(५) विकास योजनाओं का मुख्य दोष।
(६) उपसंहार (दूर करने के उपाय)।

काम करने योग्य व्यक्ति को काम न मिलना अथवा आवश्यकता से कम काम मिलने का नाम बेकारी है।

हमारे देश में बेकारी की समस्या ने बड़ा ही भयङ्कर एवम् भयावह रूप धारण कर लिया है। देश का हर जिम्मेदार आदमी इसके बारे में चर्चा करता है और इसके कारण परेशान है। सरकार की प्रत्येक योजना इसी समस्या को सुलझाने के विचार से बनाई जाती है। परन्तु परिणाम उल्टा ही होता है। ज्यों-ज्यों दवा की जाती है, त्यों त्यों मर्ज बढ़ता जाता है।

बेकारी के फलस्वरूप देश में भुखमरी फैल रही है। आये दिन हमको रोमाञ्चकारी घटनाएँ अथवा समाचार सुनने को तथा पढ़ने को मिलते रहते हैं। कहीं कोई माता अपने बालकों को कुएँ अथवा नदी में फेंक कर स्वयम् आत्म-हत्या करना चाहती है अथवा कर बैठती है, कहीं कोई पिता अपने लाड़िलों को एवम् अपनी गृह-लक्ष्मी को कत्ल करके अपने प्राणों का अन्त कर डालता है अथवा पुलिस कटहरे में दिखाई देता है, कहीं कोई होनहार नवयुवक जीवन की ठोकरों को असह्य देखकर रेल की पटरी पर सदा-सर्वदा के लिये सो जाता है। अस्तु।

उपर्युक्त वातावरण का प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप में हमें अपने साहित्य के ऊपर दिखाई देता है। हम कोई भी रचना उठाकर पढ़ने लगें। वह चाहे उपन्यास हो अथवा नाटक, कहानी हो अथवा कविता, लेख हो अथवा शब्द चित्र, सर्वत्र एक ही चर्चा दिखाई देती है। जीवन के प्रति

निराशा और भविष्य के प्रति अनास्था ! आखिर क्यों ? केवल जीवन में अभाव के कारण ! बेकारी के अट्टहास ने जन-जीवन को भयभीत कर रखा है। उसके कारण विचार-शक्ति पराभूत हो चुकी है। विचार-शक्ति एवं भावनाएँ कुण्ठित हो गई हैं। लिखने वालों के सम्मुख केवल दो विकल्प शेष रह गए हैं—वे या तो धन वालों को गालियाँ देकर अपनी हीनत्व भावना को प्रगट करें अथवा कलेजे पर पत्थर रखकर गरीबी को प्यार करने का नाटक करने की तालीम लेने लगें। ऐसे अस्वास्थ्यकर वातावरण में जन-जीवन के स्वास्थ्य—शारीरिक और मानसिक—की कामना करना हमारे विचार से विडम्बना है अथवा मानव के मन-मानस के प्रति अपमान प्रदर्शित करना है।

कुछ लोगों का कहना है कि बढ़ती हुई जनसंख्या ही इस बेकारी के लिए उत्तरदायी है। हमारे विचार से इस प्रकार के कारण प्रस्तुत करना समस्या को टालना है अथवा जले पर नमक लगाना है। संसार के प्रत्येक देश की जनसंख्या प्रायः एक ही अनुपात में बढ़ रही है; परन्तु बेकारी के क्षेत्र में भारतवर्ष का अनुपात सर्वोपरि ठहरता है। यदि जनसंख्या की वृद्धि ही बेकारी को जन्म देती है, तो फिर चीन में बेकारों की संख्या सबसे अधिक होनी चाहिए थी। परन्तु ऐसा नहीं है।

हमारे देश में दो प्रकार की बेकारी है—शिक्षित वर्ग की बेकारी तथा अशिक्षित वर्ग की बेकारी। कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रथम वर्ग वालों की बेकारी अधिक दुःखदायी एवं कारुणिक है। कारण स्पष्ट है। अशिक्षित वर्ग के पुरुषों के अतिरिक्त उस वर्ग की स्त्रियां भी मेहनत मजदूरी कर लेती हैं तथा उनका जीवन-स्तर भी बहुत ही सामान्य होता है। परन्तु मुसीबत है शिक्षित वर्ग अथवा बाबू-क्लास के लोगों को। स्त्रियाँ मजदूरी कर नहीं सकतीं, बच्चे फटे कपड़े पहिन कर स्कूल जा नहीं सकते, एम० ए० पास करके बाबू जी न बुरा खा सकते हैं और न बुरा पहिन सकते हैं—रिक्शा चलाकर पेट भरने की बात एक ओर रही।

हमारे कर्णधार कभी-कभी इस प्रकार के व्याख्यान दे बैठते हैं कि युवकों को चाहिए कि वे गाँवों में जाएँ, शारीरिक श्रम करें, किसी काम को करने

में संकोच एवं लज्जा का अनुभव न करें—आदि। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि काम है कहाँ? जो मजदूरी को ही अपना सर्वस्व मानते हैं और मजदूरी पर ही अवलम्बित हैं, उन्हीं को काम नहीं मिलता है, तब फिर इस शिक्षित वर्ग के लोगों को कौन काम देगा? हमारा निश्चित मत है कि देश में काम का अभाव है, काम करने वालों का नहीं। अन्यथा रिक्शा चलाना बहुत पहले बन्द कर दिया गया होता। सब कहते हैं कि रिक्शा चलाना मानवता का अपमान है, क्योंकि आदमी को जानवर की तरह बोझा ढोना पड़ता है, सरकार भी यदाकदा घोषणा कर देती है कि मनुष्यों द्वारा खींचे जाने वाले रिक्शों पर रोक लगा देनी चाहिए, परन्तु रिक्शे बदस्तूर जारी हैं क्योंकि समाज के पास उन्हें देने के लिए काम नहीं है। आप कल्पना तो कीजिए उस स्थिति की, जब रिक्शे बन्द हो जाने के कारण लाखों आदमी इधर-उधर बेकार घूमेगा और समाज को सोचना पड़ेगा कि अराजकता में अब क्या दिन-देरी है।

बेकारी की समस्या का इतिहास वस्तुतः औद्योगिक क्रांति से आरम्भ होता है अर्थात् वह लगभग १०० वर्ष पुराना है। जितनी मशीनें बढ़ेंगी, उतनी बेकारी बढ़ेगी। पूज्य गाँधी जी ने बेकारी के इस भेद को समझा था। फलतः उन्होंने चर्खा तथा कुटीर-उद्योग-धन्धों का जोरदार समर्थन किया था। मैं यह नहीं कहता हूँ कि सब लोग चर्खा चलाने लगजाएँ तथा २० वीं शताब्दी में बनने वाली मशीनों से कोई लाभ नहीं उठाया जाना चाहिए। परन्तु इतना निवेदन अवश्य है कि मशीनों की संख्या निश्चित करते समय कुछ शर्तें तो होनी ही चाहिएँ।

हमारी राष्ट्रीय सरकार ने दो पंच वर्षीय योजनाएँ बनाईं। दोनों में करोड़ों रुपयों के व्यय करने की व्यवस्था हुई। परन्तु बेकारी की समस्या हल न हो सकी। केवल एक कारण वश। योजना को पूरा करने के लिए मशीनों की ओर देखा गया, आदमियों की ओर नहीं। ये करोड़ों रुपए यदि मजदूरी के रूप में लग जाते, देश में कितना काम हो गया होता, लोगों में पंचवर्षीय-योजनाओं के प्रति कितनी आस्था होती—आदि बातों

की ओर क्या कभी किन्हीं महानुभाव ने गम्भीरता पूर्वक विचार करने की कोशिश की है।

हमारी पञ्चवर्षीय योजनाएँ केवल उन्हीं लोगों को लाभ पहुँचा रही हैं जो धन्धे से लगे हुए हैं अर्थात् वे "हके में हका और धक्के में धक्का" वाली लोकोक्ति को चरितार्थ कर रही हैं। हिसाब इस प्रकार लगाया जाना चाहिए कि इतना रुपया खर्च हुआ तथा उसका वितरण इतने आदमियों के बीच हुआ और प्रत्येक व्यक्ति को औसतन इतने रुपए प्राप्त हुए। हमारे विचार से सम्पत्ति को उत्पन्न करना उतना उपयोगी नहीं है जितना आवश्यक है लोगों को इस योग्य बनाना कि वे उत्पादित सम्पत्ति का उपभोग कर सकें।

एक बात और! श्रम-दान पंचवर्षीय योजना का एक बहुत ही महत्व-पूर्ण अंग है। स्पष्ट है कि हमारे कर्णधार मानव और उसके श्रम के मूल्य को समझते हैं। तब क्या यह सम्भव नहीं है कि योजनाएँ इस प्रकार बनाई जाएँ कि मुख्यतया काम किया जाए आदमियों द्वारा तथा मशीनें केवल सहारा भर दें। मशीनों के द्वारा योजना पूरी हो जाने पर कुछ लोगों को काम मिल जाने की सम्भावना है, जब कि इस प्रकार अनेक लोगों को तुरन्त काम मिलता है। "योजना पूरी हो जाने पर इतने व्यक्तियों को काम मिल सकेगा" आदि वाक्य सुनकर हमको "सौर मण्डल होकर चन्द्रमा तक पहुँचने" (Going to moon via Sun) वाली बात याद आ जाती है। जो आदमी आज तीन दिन से भूखा है वह काम पाने की आशा में आखिरकार कितने समय तक इन्तजार कर सकता है?

अभी भी समय शेष है। सरकार को चाहिए कि अपनी पंच वर्षीय योजना को नए सिरे से बनाए। उससे दो बातों का ध्यान रखा जाए—विदेशी मशीनों का आसरा कम से कम हो तथा व्यय होने वाली धनराशि तथा काम से लगने वालों का अनुपात अधिक से अधिक हो। कुटीर उद्योग-धन्धे तथा बड़े-बड़े उद्योगों के बीच समन्वय स्थापित करके ही यह कार्य किया जा सकता है और यह तभी सम्भव है जब सरकारी अफसरों और बड़े-बड़े उद्योगपतियों के अतिरिक्त जनता के बीच रहने वाले

व्यक्तियों तथा जन-जीवन की समस्याओं को समझने वाले महानुभावों से भी परामर्श किया जाए। देश की गरीबी गरीबों के ही द्वारा दूर हो सकती है, उन लोगों के द्वारा नहीं, जो गरीबी को अपराध समझते हैं। विदेशी लोग हमारी योजनाओं की निस्संदेह प्रशंसा करते हैं, परन्तु वे साथ-साथ यह भी देखते हैं कि इस देश में आदमी जानवरों से भी बुरा जीवन व्यतीत करते हैं, इस देश के निवासियों का जीवन मक्खी और मच्छड़ की भांति कोई मूल्य नहीं रखता है तथा भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों से एम० ए० पास करके निकलने वाले नव-युवक को चपरासी होने के लिए जमीन और आसमान के कुलाबे मिलाने पड़ते हैं।

देश में व्याप्त बेकारी को दूर करने के लिए योजनाएँ बनाते समय केवल एक बात का ध्यान रखा जाना चाहिए—जीवन में श्रम का महत्व। सरकार को चाहिए कि प्रत्येक काम करने योग्य व्यक्ति को काम देने का प्रबन्ध करे तथा प्रत्येक नवयुवक को विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाध्य न करे। सरकार के पास यदि काम हो और वह उद्योग-सम्बन्धी संस्थाएँ एवं विद्यालय खोल दे, तो बहुत से नवयुवक विश्वविद्यालयों की शिक्षा प्राप्त करने में अपना समय नष्ट न करें। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं—सरकार की विकास-योजनाएँ इस प्रकार बनाई जानी चाहिए कि उनमें मशीनों का प्रयोग कम से कम हो और वे मानव-श्रम के द्वारा ही पूरी की जा सकें। दूसरा उपाय यह है कि सरकार बड़े-बड़े कारखानों की जगह छोटे छोटे उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन प्रदान करे ऐसा करने में हमारे सामने अनेक उद्योग-धन्धों का द्वार खुल जायगा और मशीनें कम हो जाने से प्रतिस्पर्द्धा कम हो जयगी। दूसरे शब्दों में हम यह निवेदन करना चाहते हैं कि हमारी सरकार को चाहिए कि एक ओर वह शिक्षा-संस्थाओं में श्रम का महत्त्व प्रतिपादित करने वाले विषयों का विधान करे और दूसरी ओर श्रम पर आधारित उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहित करे। आजकल कुछ कारागारों में कैदियों के लिए पारिश्रमिक की व्यवस्था करके एक नवीन प्रयोग किया जा रहा है। हमारा निवेदन है कि जेल में जाने वालों को सुधारने की अपेक्षा जेल

से बाहर रहने वालों के सुधार की अधिक आवश्यकता है। यह कैसी विडम्बना है कि जेल के बाहर तो आदमी को काम के लाले पड़े रहें और जेल के भीतर पहुँच जाने पर उसको भरपेट रोजगार और रोजी मिल जाय ? कौन समझदार व्यक्ति न चाहेगा कि वह जेल में जाकर धनोपार्जन करे ! सरकार विचार करे कि वह इस प्रकार अपराध और अपराधियों को प्रोत्साहन कर रही है अथवा उनको काम करने के साधन उपलब्ध कर रही है।

राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण का रूप 'पंचायत राज' है। आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीयकरण का नाम "कुटीर उद्योग धन्धों" को प्रोत्साहन प्रदान करता है। पूज्य बापू इसी के पक्षपाती थे। सरकार को चाहिए कि देश की आर्थिक व्यवस्था को 'चरखे' पर आधारित करे। इसी के द्वारा हमारे जीवन के मान बदल सकेंगे और तभी देश में फैली हुई बेकारी दूर हो सकेगी।

---

(४०) ग्राम-वासिनी भारतमाता

रूप-रेखा

(१) भारतवर्ष कृषि-प्रधान एवं ग्राम-प्रधान देश है।
(२) गाँवों की दशा।
(३) ग्राम-सुधार का इतिहास।
(४) ग्राम-सुधार-सम्बन्धी विभिन्न योजनाएँ।
(५) उपसंहार।

भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश है। धन-धान्य से भरा पूरा होने के कारण इसको सोने की चिड़िया कहा जाता है। इस देश की भूमि अत्यन्त उपजाऊ है तथा इसमें बहने वाली शत-सहस्र नदियाँ अपने जल द्वारा सदैव इसको सरस-सुहावा बनाए रखती हैं। किसी समय में यहाँ दूध की नदियाँ बहा करती थीं।

कृषि-प्रधान होने के फलस्वरूप भारतवर्ष की अधिकांश जनता गाँवों में निवास करती है। आधुनिक युग के पूर्व, मशीनों के आगमन के पूर्व भारतवर्ष में बड़े-बड़े शहरों का प्रायः अभाव ही था—यहाँ की जनता केवल गाँवों में ही निवास करती थी, क्योंकि जहाँ बड़े बड़े कारखाने होते हैं, वहीं उन्हीं के चारों ओर बड़े-बड़े नगर बस जाया करते हैं। अतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त ही है कि हमारी भारतमाता नगर-निवासिनी न होकर ग्राम-वासिनी ही है।

भारतवर्ष में लगभग पाँच लाख गाँव हैं और ८२ प्रतिशत के लगभग जन-समुदाय इन्हीं गाँवों में निवास करता है। हमें यदि भारतवर्ष को देखना हो तो हमें चाहिए कि उसके ग्रामीण जीवन अथवा गाँवों के निवासियों के जीवन को देखें। गाँवों में ही हमको भारत माता के सच्चे स्वरूप की झाँकी प्राप्त हो सकती है। देश के गाँवों को देखकर ही भारतवर्ष की वास्तविक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली आदिक विशालकाय नगरों को भारतवर्ष कहना वस्तुतः इन्द्रजाल है। जो लोग इन बड़े बड़े नगरों को देख कर दिखाकर हिन्दुस्तान का नक्शा समझना, समझाना चाहते हैं, वे लोग हमारे विचार से स्वयं अपने आपको धोखा देते हैं, साथ ही अन्य लोगों की आँखों में धूल डालने का असफल प्रयास करते हैं।

इस प्रकार भारतवर्ष की समस्या भारतवर्ष के पाँच लाख गाँवों की समस्या है। यदि हमें भारतवर्ष को देखना है, तो हमें उसके ग्राम-वासियों को देखना चाहिए। हमें यदि भारतवर्ष की उन्नति पर विचार करना है, तो हमें उसके गाँवों की समस्याओं और उनकी आवश्यकताओं पर विचार करना चाहिए। आज के दिन हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि हम दो-चार बड़े बड़े शहरों की बाहरी टीमटाम करके ही मन में यह गर्व करने लग जाते हैं कि हम भारतवर्ष की उन्नति में अपना सर्वस्व लुटाए दे रहे हैं। हम गाँवों की उन्नति के नाम पर संस्थायें तो खोलते हैं, परन्तु उनमें काम करने वाले व्यक्ति गाँवों से, गाँवों में रहने वालों से दूर ही रहना पसन्द करते हैं। वे न गाँवों से परिचित हैं, न गाँव की बोली

से परिचित हैं और न गाँव की आवश्यकताओं को ही समझते हैं। इतना ही नहीं, वे गाँव वालों के साथ बातचीत करने से भी परहेज करते हैं। कोट-पतलून पहिन कर और अंग्रेजी में गिटपिट करके गाँवों में जाने वाले व्यक्तियों के प्रति गाँव वाले सदैव सशंक बने रहते हैं। गाँवों के उत्थान के लिए केवल उन्हीं व्यक्तियों को आगे आना चाहिए जो गाँवों और गाँव वालों के साथ एक होकर रहना चाहते हैं अथवा उसी वातावरण में पाले पोसे गये हों! अस्तु।

"हमारा भारत गाँवों में बसता है"—यह आवाज लगभग ४० वर्ष पूर्व, सबसे पहले पूज्य बापू, महात्मा गांधी द्वारा उठाई गई थी और उसी समय से लोगों का ध्यान इस ओर गया है और तभी से सरकारी और गैर सरकारी सभी प्रकार के प्रयत्नों द्वारा गाँवों की उन्नति के हेतु अनेक प्रयत्न किए जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में दो बातें निवेदन कर देना अत्यन्त आवश्यक है। इन प्रयत्नों में व्यवस्थित, अव्यवस्थित, व्यक्तिगत, सामूहिक सभी प्रकार के प्रयत्न सम्मिलित हैं। उन्नति से अभिप्राय मुख्यतया आर्थिक उन्नति से है। और आर्थिक उन्नति से तात्पर्य कृषि-सम्बन्धी सुधारों से है। कृषि पर गाँव की सम्पन्नता अवलम्बित है और सम्पन्नता के ऊपर जीवन की समस्त उन्नति आधारित रहा करती है। भारतवर्ष के ग्राम-सुधार का इतिहास साधारणतया सन् १६१८ से आरम्भ होता है। इस अवधि को हम मोटे तौर पर निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। यथा—

ग्राम-सुधार का प्रथम युग—सन् १६१६ में पूज्य बापू ने इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। ग्रामोन्नति के नाम पर तथा भारतवर्ष के विकास के हेतु उन्होंने 'स्वदेशी' की आवाज उठाई और चर्खे का प्रचार किया। उनके द्वारा प्रवाहित वह 'स्वदेशी' की भागीरथी बीच में काफी क्षीणकाय हो गई थी। और उसने हमारे देश का विपुल कल्याण किया। हमारा दुर्भाग्य है कि स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् वह और भी क्षीणकाय हो गई है। परन्तु किसी प्रकार भी अभी तक जीवित है।

जिन दिनों महात्मा गांधी ने 'स्वदेशी' का आन्दोलन आरम्भ किया था, उन्हीं दिनों मि० ब्राइन नाम के एक अंग्रेज सज्जन जिला गुड़गाँव के कलक्टर थे। उन्हें ग्रामोन्नति के कामों में काफी रुचि थी। उन्होंने अपने जिले के किसानों को खेती सम्बन्धित बहुत कुछ सहायता प्रदान की थी। जैसे खाद का प्रबन्ध, अच्छी नस्ल के बीज बटवाना, खेती के लिए उपयोगी यन्त्रों एवं मशीनों की व्यवस्था करना, इत्यादि। राष्ट्रीय आंदोलन एवं जेल यात्राओं के कारण गांधी जी इस ओर अपनी शक्तियों का सीमित प्रयोग ही कर सके और ब्राइन साहब की जल्दी ही—उसी वर्ष—बदली हो गई और वह काम जहाँ का तहाँ रह गया।

ग्राम-सुधार के सम्बन्ध में एक अंग्रेज अधिकारी का नाम सुन कर चौंकने की आवश्यकता नहीं है। भारत माता के नेत्रों से बहने वाले आँसुओं की शतसहस्र-धारायें करुणा का संचार सदैव करती आई हैं—उसके आँसुओं ने देशी-विदेशी प्रत्येक व्यक्ति को, अपने आपको मनुष्य कहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित किया है। भारतवर्ष में आने वाले अंग्रेज ने भारतवर्ष की उन्नति से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक योजना में सक्रिय सहयोग दिया है। श्री ह्यूम साहब ने हमारी कांग्रेस की स्थापना की थी तथा श्रीमती ऐनीबीसेन्ट ने भारतवर्ष के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए थियोसोफीकल सोसाइटी का प्रधान कार्यालय भारतवर्ष में ही प्रतिष्ठित किया था। भारत माता और उसके ग्राम-वासी इन विदेशी हितैषियों के सदैव ऋणी रहेंगे।

ग्राम-सुधार का द्वितीय-युग—सन् १९३१ के बाद से अर्थात् गांधी इरविन समझौता के बाद से इस युग का आरम्भ माना जाना चाहिए। भारतवर्ष के वाइसराय लॉर्ड इरविन के साथ समझौता हो जाने के पश्चात् गांधी जी को राजनीति के क्षेत्र से कुछ आराम मिला और उन्होंने इस ओर फिर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने सरकार को भी इस ओर ध्यान देने के लिये विवश किया। फलतः सरकार ने ग्रामोन्नति के हेतु १ करोड़ रुपया देना स्वीकार किया। देखने में तो १ करोड़ रुपये की धनराशि बहुत होता है, परन्तु इतने बड़े देश की उन्नति के लिए, ५-६ लाख गाँवों

की आवश्यकता को देखते हुए, वह रकम ऊँट के मुँह में जीरे से भी कम थी। हाँ, आँसू पोंछने के लिए पर्याप्त थी।

सन् १९३७ में प्रान्तों में कांग्रेस सरकार की स्थापना हुई और देश के हितैषियों को इस ओर विशेष ध्यान देने का सुअवसर प्राप्त हुआ। सरकार ने ग्राम-विकास संघ जैसी संस्थाओं एव विभागों की स्थापना करके इस ओर सक्रिय सहयोग देने का प्रयास किया, परन्तु उसकी शक्तियाँ फिर भी सीमित ही थीं। अंकुर पौधा तो बन गया, परन्तु जब तक वह पल्लवित होकर फल देने योग्य बने, उसके पहले ही कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल को गद्दियाँ छोड़ देने के लिए बाध्य हो जाना पड़ा।

ग्राम-सुधार का तृतीय युग—इसे हम नवीन प्रयोगों का युग अथवा वर्तमान युग कह सकते हैं। यह युग सन् १९४८ से, अथवा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से आरम्भ होता है। पंचवर्षीय योजना, सामुदायिक योजना, गोरखपुर योजना, देवरिया योजना, बम्बई की सर्वोदय योजना, मद्रास का विकास कार्यक्रम, भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् की स्थापना, कोलम्बो योजना, आदि इन नवीन प्रयोगों के विभिन्न रूप हैं। थोड़े से हेर-फेर के अतिरिक्त, केवल ब्यौरे की थोड़ी बातों को छोड़कर, इन समस्त योजनाओं एवं प्रयोगों का वस्तुतः एक ही उद्देश्य है—ग्राम-सुधार द्वारा भारतवर्ष का आर्थिक विकास करना तथा देश की राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि करना। इन योजनाओं के चालू हो जाने से भारतमाता के आँसू कुछ समय के लिए रुक गए हैं। वह बड़ी ही आशा के साथ अपने मन को रोक कर मानो इन योजनाओं को देख रही है। बीच-बीच में वह अपने सूखे तन पर लिपटे हुए चिथड़ों की ओर भी देख लेती है। गाँवों में फैली हुई गन्दगी, अविद्या, बेकारी एवं भुखमरी आज भी हमको जता देती है कि भारतमाता के अच्छे दिन अभी काफी दूर हैं। वह गमगीन है, परन्तु साथ ही आने वाले अच्छे दिनों की उम्मीद में अपने आँसुओं को रोके हुए बैठी है।

इन विभिन्न योजनाओं अथवा प्रयोगों का सामान्य कार्यक्रम निम्न-लिखित प्रकार है—

(१) कृषि तथा उसके सहायक क्षेत्रों की उन्नति करना, ताकि खाद्यान्न का उत्पादन बढ़े। विभिन्न बाँधों की योजना, फर्टीलाइज़र कारखानों की स्थापना, ट्रैक्टरों की व्यवस्था आदि इसी उद्देश्य की पूर्ति के सहायक हैं।

(२) गांवों में यातायात एवं परिवहन के साधनों की सुविधा करना।

(३) ग्राम-वासियों के लिए प्राथमिक तथा प्रौढ़ शिक्षा का प्रबन्ध करना।

(४) कुटीर उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहित करना।

(५) ग्राम-वासियों के लिए मनोरंजन के विभिन्न साधन उपलब्ध करना तथा उन्हें स्वास्थ्य-विज्ञान की शिक्षा देना।

(६) ग्राम-वासियों के लिए आवास, निवास-स्थान, की व्यवस्था करना।

इन योजनाओं द्वारा उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए कई अरब रुपए व्यय करने की व्यवस्था है। इस धन-राशि को दो प्रकार से एकत्र किया जाएगा—देश-वासियों के ऊपर विभिन्न कर लगाकर तथा विदेशों से आर्थिक सहायता एवं ऋण प्राप्त करके।

ये योजनाएँ धन पर अवलम्बित हैं, भारत माता के लाड़िले लालों के सहयोग एवं पुरुषार्थ पर नहीं। इन योजनाओं का यही दोष है और इसी कारण देश के ग्राम-वासियों के हृदय में इनके प्रति उत्साह नहीं है। ग्राम-वासियों के हितार्थ आयोजनों की रूप-रेखा नगरों में बनाई जा रही है। भारत माता उस दिन की प्रतीक्षा कर रही है जब दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता आदि नगरों में नेता लोग बटन दबाएँगे और उनके अगणित गाँवों में पानी की धारायें बह उठेंगी, बिजली की रोशनी चमचमा उठेगी और उनके मुरझाए हुए मानस सुधा-सिंचित होकर लहलहा उठेंगे।

ये योजनाएँ ग्राम वासिनी भारतमाता को सुखी बनाने के लिए बनाई गई हैं। अतः इनके विषय में संक्षिप्त परिचय देना सर्वथा युक्तियुक्त एवं प्रासंगिक ही होगा। इन योजनाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य ज्ञातव्य हैं।

(१) पंचवर्षीय योजना की प्रेरणा रूस से प्राप्त हुई है। इसके पूर्व

हो जाने पर भारतवर्ष की खाद्यान्न समस्या सदा-सर्वदा के लिए हल हो जायगी।

(२) सामुदायिक योजना की प्रेरणा अमरीका से प्राप्त हुई है। यह वस्तुतः अमरीका वालों की देन है। इसके प्रमुखतः दो उद्देश्य हैं—(क) जनता द्वारा भूमि का सुधार, भूमि द्वारा जनता का सुधार। तथा (ख) विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करने वाली सहकारी संस्थाओं की देश भर में स्थापना करके प्रत्येक गांव को अपने में पूर्ण एवं आत्म-निर्भर बनाना और उनमें पारस्परिक सहयोग की भावना भरना। इस योजना के कार्यान्वित हो जाने पर भारतवर्ष में आदर्श समाज एवं जीवन अथवा रामराज्य की स्थापना हो जानी चाहिए। इस योजना को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए अमरीका सरकार ने आर्थिक सहायता के अतिरिक्त अपने कुछ विशेषज्ञ भी देने का वचन दिया है। इस योजना का श्रीगणेश इटावा जिले के महेवा गांव में हुआ था।

कोलम्बो योजना के अन्तर्गत एशिया के दक्षिणी और दक्षिणी पूर्वी देशों को आर्थिक सहायता प्रदान करने की व्यवस्था है। सहायता पाने वाले देशों में भारतवर्ष के अतिरिक्त चार अन्य देश भी हैं—पाकिस्तान, लंका, वीतनाम और ब्रिटिश गायना। इस योजना के अन्तर्गत १८६८ करोड़ रुपए व्यय किये जाएँगे।

देखने में व कहने को ये योजनाएँ बहुत ही आकर्षक एवं महात्वाकांक्षा पूर्ण हैं। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि इसके द्वारा भारत माता को, उसके हजारों ग्रामों को कितना लाभ हो रहा है। हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि इन योजनाओं के प्रति हमारे देश-वासियों में कोई उत्साह एवं आस्था नहीं है। इसके कई कारण हैं। यथा—

(१) इनमें धन का भरपूर प्रयोग है तथा जनशक्ति की उपेक्षा की गई है।

(२) ये कार्य सरकारी कर्मचारियों द्वारा पूरे किए जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि सरकारी कर्मचारी कम से कम अपने वेतन से अधिक अपेक्षाएँ रखते हैं।

(३) इन योजनाओं में भारतवर्ष के उत्पादन की वृद्धि पर विशेष बल है। परन्तु भारतवासियों की क्रय-शक्ति को बढ़ाने की कोई व्यवस्था नहीं है। भारत-माता के लालों को रोजगार दिलाने की कोई व्यवस्था नहीं है।

(४) ये योजनायें विदेशियों द्वारा बनाई गई हैं, इनके नाम विदेशी हैं, ये विदेशी सहायता एव विदेशियों की निपुणता पर अवलम्बित हैं। अतः भारतवर्ष का शिक्षित वर्ग इसके प्रति सशंकित है।

ग्रामवासिनी भारत माता का वास्तविक उपकार तभी सम्भव है जब इन योजनाओं के उपर्युक्त दोषों को दूर किया जाय। धन की अपेक्षा जन शक्ति पर भरोसा किया जाय तथा उन्नति करने की योजनायें शहरों में बैठकर बनाने की बजाय गाँवों में बनाई जायें। केवल धन के बलबूते पर योजनायें पूरी करने का सबसे अधिक भयंकर परिणाम यह हुआ है कि सरकार को भारतीय जनता के ऊपर भारी कर लगाने पड़े हैं। सरकार के इस प्रयोग से भारतमाता का अंचल भीग गया है। भारत के हितैषी अमरीका राजदूत श्री चेस्टर बोल्स ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा था कि—

I know no free government that has shown more political courage than has the Indian in squeezing its people to the very breaking point in order to secure the funds necessary for its own development without depending on others"

इन योजनाओं के द्वारा भारतमाता के मुख पर प्रसन्नता का विधान करने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना चाहिये—

(१) विदेशी धन एवं विदेशी सहायता को विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि हमारी गरीब माता फिर दासता की बेड़ियों में जकड़ जाए। भारतमाता के साधन सीमित हैं। इन्हीं के अनुरूप योजनाओं का स्वरूप निर्धारित किया जाना चाहिए। एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। ये योजनायें प्रायः उन देशों के अधिक अनुरूप पड़ती हैं जिनमें तानाशाही राज्य होता है। हमारे देश में प्रजातन्त्रात्मक राज्य है और यहाँ के निवासी शान्ति प्रिय एवं भाग्य के

भरोसे रहने वाले हैं। उनको एक विशेष प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करना देश के आर्थिक जीवन को अस्त व्यस्त करना है। यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि भारत के जीवन में हमारे गाँव एक बहुत ही महत्वपूर्ण इकाई हैं और उस इकाई को ध्यान में रखकर ही देश की उन्नति सम्भव है। चर्खा और खादी की योजना द्वारा ही हमारी ग्रामीण जीवन अधिक सुखी एवं सम्पन्न बन सकती है। चर्खा का प्रचलन गांधीवादी आर्थिक व्यवस्था का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अङ्ग है। हमारे विचार में गांधीवादी आर्थिक व्यवस्था ही हमारे देश की उन्नति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। ग्रामवासिनी भारतमाता हमसे यही आशा करती है कि हम भारतवर्ष के पाँच लाख गाँवों के हिताहित को ध्यान में रखकर ही अपनी विकास योजनाओं का निर्माण करें।

---

(४१) चाँदनी रात

जब आकाश में राकापति उदित होते हैं और व्योम में अपनी किरणों का वितान तान देते हैं, तभी चाँदनी रात प्रकट हो जाती है। चन्द्रिका मण्डित रजनी के आगमन के साथ मन में नई-नई आशायें उठने लगती हैं और आतप से संतप्त जन-समुदाय को एक विशेष प्रकार के सुख और सन्तोष का अनुभव होने लगता है—

हुए कुमुदिनी नाथ उदित प्राची में ऐसे,
सुधा कलस रत्नाकर से उठता हो जैसे ॥
धीरे धीरे उठे नई आशा से मन में।
क्रीड़ा करने लगे स्वच्छ स्वच्छन्द गगन में ॥

—'प्रसाद'

चाँदनी रात वैसे तो अमावस्या के आस पास के ४ दिनों को छोड़कर लगभग प्रत्येक दिन होती है, परन्तु शुक्ल पक्ष में उसकी छटा निराली ही

होती है। पूर्णिमा की राका-रजनी का तो कहना ही क्या है? समस्त विश्व क्षीर-सागर में अवगाहन करता हुआ प्रतीत होता है। ऐसा लगता है मानो चारों ओर दूध के फुहारे छूट रहे हों। चकोर चन्द्रमयूष चुगने लगता है और प्रेमी अपने हृदय की प्यास बुझाते हैं। संसार के प्रत्येक पदार्थ में, कण-कण में चन्द्र और चन्द्र किरणें परिव्याप्त प्रतीत होती हैं। पादपों के पल्लव रजत-पत्र-वत् प्रतीत होने लगते हैं, चन्द्रमा जलाशयों के भीतर अठखेलियाँ करता हुआ दिखाई देता है। नदियों एवम् उपत्यकाओं के मध्य चन्द्रमा क्रीड़ा करता हुआ प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों भूतल पर स्वर्ग अवतरित होगया है। ऐसे हृदयग्राही दृश्य का वर्णन करते हुये कविजन अघाते नहीं हैं। चाँदनी रात की यह माधुरी निराली ही होती है; उसकी रूप-सुधा का अनुभव दो ही व्यक्तियों को हो सकता है—जिनका प्रेमपात्र मिल गया है अथवा जिनका प्रियतम बिछुड़ गया है। कालिदास का पक्ष कहता है कि—

मिलिहैं हम कातिकी रातन में लखिहैं हम चाँदनी चारु खरी।
मिटि जायत हौंस सबै जिय की बिरहा दुख जो दिन दूरी करी॥

इसके विपरीत जायसी की नागमती विरहातप के कारण चाँदनी रात को जी भर कर कोसती है। यथा—

कातिक सरद चन्द उजियारी।
जग सीतल हौं विरहा जारी।
सोलह कला चाँद परगासा।
जनहुँ जरै सब धरति अकासा।
तन मन सेज करै अभिडाहू।
सब कहँ चंद, एइ मोहि राहू।
चहूँ खण्ड लागै अँधियारा।
जो घर नाहीं कन्त पियारा।

संयोग के समय सुखदायी वस्तुएँ एवम् पदार्थ वियोग के समय दुःखदायी प्रतीत होने लगते हैं। अनुकूल परिस्थिति में जो वस्तु जितनी सुखदायी

होती है, प्रतिकूल परिस्थिति में वह उतनी ही दुःखदायी प्रतीत होनेलगती है। विरह के समय चाँदनी के दुःखद प्रभाव को देखकर संयोग के समय उसके द्वारा प्राप्त सुख-चैन का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। सूरदास की गोपियाँ चाँदनी रात में अपने प्रियतम के साथ रास-रङ्ग में मस्त बनी रहती थीं। कृष्ण के वियोग में चाँदनी का उदय होना उनको समस्त पूर्व सुखों का स्मरण करा देता है। वह सुखद कसक उनको बेहाल कर देती है। यथा—

पिया बिनु साँपिनि कारी रात
कबहुँ जामनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात।

यह तो हुआ चाँदनी रात का निषेधात्मक वर्णन। इसका प्रत्यक्ष वर्णन भी अनेक कवियों ने किया है। चाँदनी रात का मनोरम वातावरण किस सहृदय को आनन्द विभोर नहीं कर देता है? शुक्ल पक्ष की शुभ्र ज्योत्स्ना देवों के आनन्द हास की द्योतिका है, निर्मल चन्द्र की निर्मल चाँदनी सुधा-वर्षिणी मानी जाती है, नक्षत्र पुञ्ज एकत्र होकर चाँदनी रात में ही आकाश गङ्गा के नाम पर स्वर्गलोक में क्षीर सागर का निर्माण करते हैं। तथा चन्द्रिका की स्निग्धता मन्मथ भगवान् को अपने पंचशर का स्मरण करा देती है। देखिए—एक चाँदनी रात की अद्भुत छटा की झाँकी की झलक—

प्यारी प्रभा रजनि-रञ्जन की नगों को;
जो थी असंख्य नव हीरक से लसाती।
तो बीचि में तपन की प्रिय कन्यका को;
थी चारु चूर्ण मणि-मौक्तिक के मिलाती।

\+ \+ \+

जो मेदिनी रजत-पत्र-मयी हुई थी।
किंवा पयोधि-पय से यदि प्लाविता थी॥
तो पत्र-पत्र पर पादप-बेलियों के;
पूरी हुई प्रथित पारद-प्रक्रिया थी॥

\+ + +

पूरी समुज्ज्वल हुई सित यामिनी थी ।
होता प्रतीत रजनी-पति भानु-सा था ॥
पीती कभी परम मुग्ध बनी सुधा थी ।
होती कभी चकित तो चतुरा चकोरी ॥

—'हरिऔध'

चाँदनी रात की ऐसी शोभा को देखकर किस सहृदय का मन-मयूर उन्मत्त होकर नृत्य न करने लग जायगा। ऐसे अवसर पर शीतल, मन्द, सुगन्ध एवम् पुष्प-सौरभ तथा पय-सीकरों से सिक्त वायु सोने में सुहागे का काम करती है। ऐसी ही स्निग्ध चाँदनी में अवगाहन करके प्रेम के आदर्श का अमर प्रतीक ताजमहल अपने कण-कण से एक-एक चन्द्र किरण को प्रतिफलित करता हुआ सुशोभित होता है।

चाँदनी का शुभ्र वर्ण सत्वगुण का प्रतीक माना जाता है। सत्वगुण के अवतार राम-जन्म के समय प्रत्येक व्यक्ति को प्रसन्नता हुई थी। कतिपय दुष्ट ही दुःखी हुये थे। गोस्वामीजी ने इन दुष्टों की तुलना उन तस्करों से की है, जिनको चाँदनी रात का उजाला अपने व्यवसाय में व्याघात रूप प्रतीत होता है—

तिन्हहिं न भावै अवधि बधावा। चोरहि चाँदनि नींद न आवा॥

चाँदनी रात की चर्चा करते हुए हमको, शरद की निर्मलतम चाँदनी का बरबस स्मरण हो आता है। इस ऋतु, क्वार और कार्तिक के महीनों की चाँदनी रातों की शोभा एवं शीतलता का कहना ही क्या है?

शरद कमल ऋतु सोहई
निर्मल नील प्रकाश।
निशानाथ पूरब उदित,
सोलह कला प्रकाश॥

शरद पूर्णिमा की स्निग्ध कौमुदी-युक्त निशा को ही गोपियों की मनोकामना पूर्ण करने का उपयुक्त अवसर समझ कर पीताम्बरधारी नटवर ने बाँसुरी में स्वर संयोग किया था।

भगवान पितारात्रीः शरदोत्फुल्ल मल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे, योगमाया मुपश्रितः ॥
(श्री मद् भागवत् १२।२६।१)

शरद् की चाँदनी से भीगी हुई गोपिकाएँ वंशी की टेर सुनकर बेसुध हो गई थीं। इस रास लीला के वर्णन में भक्तजनों ने अपना हृदय ही उँडेल दिया है।

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर नर नाग निरन्तर,
ब्रज-बनिता सब धाई ।
जमुना-तीर प्रवाह थकित,
भयो पवन रह्यो उरझाई।
खग मृग मीन अधीन भए,
सब अपनी गति बिसराई।
द्रुम बल्ली अनुराग पुलक,
तनु ससि रह्यो निसि न घटाई।
सूर स्याम वृन्दावन बिहरत
चलहु-चलहु सुधि पाई ।

श्रीकृष्ण की वंशी बज उठी, उसकी हृदयस्पर्शी स्वर-लहरियाँ दसों दिशाओं में व्याप्त सुधा-वर्षिणी चन्द्र-किरण में समा गईं। उस आनन्द में निमग्न होकर समस्त सृष्टि एक बारगी झूम उठी। 'अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्' भगवान् का महारास सच्चिदानन्द का स्वरूप बन कर उमड़ पड़ा। ऐसा कौन है जो इस आनन्द का सम्यक् निरूपण कर सके?

यह अद्भुत रस-रास कहत
कछु कहि नहिं आवै ।
+ + +
सिव मन ही मन ध्यावै,
काहूँ नाहिं जनावै ।
—(नन्ददास)

इस रास को देखकर आकाश झूम उठा था। चाँदनी ने उसमें चार चाँद लगा दिए। शरद् चन्द्र के मृदु हास की स्निग्ध अरुणिमा की झलक ने जीव-जन्तु, मानव और देव, सबको चकित कर दिया। यथा—

\+ \+ \+

चकित सचीश रजनीश हूँ चकित भए,
तुरत स्वयंभू मोह-जाल बीच भरिगे।
शम्भु हू को भूली आधे अंग की बिराजी गौरि,
गौरि हू को गोद के गजानन बिसरिगे॥

आप चाँदनी रात में किसी पीपल के पेड़ को देखिए। उसके पत्ते चाँदनी में झलमल करते हुए आपका मन अपनी ओर खींच लेंगे। आप इस दुविधा के आनन्द में बह जायँगे कि पीपल के पत्तों से होकर चाँदनी झर-झर झर रही है अथवा वृक्ष के ऊपर अनेक झिलमिलाते हुए दीपक जड़ दिए गए हैं। आप चाँदनी रात में नदी के किनारे खड़े हो जाइए। चारों ओर उड़ते हुए पतङ्गों को देखकर आपको भ्रम होने लगेगा कि वे चाँदनी की धारा में तैर रहे हैं। आप चाँदनी रात में नौका-विहार कीजिए। सुरम्य प्रकृति का मौन निमन्त्रण आपके कर्ण-कुहरों में गुञ्जार करने लगेगा।

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन ?

—(सुमित्रानन्दन पन्त)

चाँदनी रात में आप किसी पर्वत प्रदेश का निरीक्षण करने के लिए निकल जाइए। हिम खण्ड रजत-शिलाएँ बनकर आपको भ्रमित कर देंगी और आपके लोभी मन को कठिन परीक्षा देनी पड़ जायगी।

चाँदनी रात में सागर की शोभा का तो कहना ही क्या है। वह

आनन्दातिरेक के कारण फूला नहीं समाता है। वह आत्मज चन्द्र से मिलने के लिए उमड़ पड़ता है, उसमें ज्वार आने लगता है और वह अपनी मर्यादा का अतिक्रमण सा कर उठता है। उस समय जहाज तो मौका पाकर चुपके से किनारे की ओर बढ़ आते हैं, और सागर की गोद में शत-सहस्र चन्द्रमा अठखेलियाँ करते हुए दिखाई देते हैं।

चाँदनी रात में आकाश और पृथ्वी दुग्ध फेन सदृश श्वेत चादर-सी ओढ़े हुए दिखाई देते हैं। जिसने इस चन्द्रिका का एक बार आनन्द प्राप्त कर लिया, उसके लिए अन्य पदार्थ नीरस बन जाते हैं। यथा—

चित है देखु चकोर ज्यों तीजैं भजै न भूख।
चिनगी चुगै अंगार की, पियै कि चन्द मयूख॥
—(बिहारी)

चाँदनी सात्विकता के अतिरिक्त शुभ्र वर्ण मृदु मुसकान निर्मल मन एवम् ज्ञान की द्योतिका है। उसके दर्शन मात्र से सब अन्धकार अथच अज्ञान के छक्के छूट जाते हैं। देखिए, उत्प्रेक्षा से पुष्ट अपन्हुति के द्वारा व्यवस्थित चन्द्रिका का यह चमत्कार—

जान्ह नहीं यह तम वहै, किये जु जगत निकेत।
होय उदय ससि के भयो, मानो ससहरि सेत॥
—(बिहारी)

(४२) भारतीय पोशाक

रूप-रेखा—

(१) पोशाक की आवश्यकता।
(२) जलवायु के अनुसार पोशाक का निर्माण।
(३) संस्कृति की प्रतीक।
(४) भारतीयों द्वारा विदेशियों की नकल।
(५) पोशाक का अनावश्यक महत्व।
(६) उपसंहार—पूज्य बापू का आदर्श तथा भारतीय पोशाक का स्वरूप-निर्धारण।

वस्त्र हमारी मौलिक आवश्यकता है। तन ढकने के लिए हमें कुछ चाहिए ही ! इसके दो कारण हैं—सर्दी-गर्मी से बचाव के लिए तथा लज्जा निवारण के लिए। भगवान् ने पशुओं को बालों वाली मोटी खाल तथा पक्षियों को पङ्ख इसी उद्देश्य से प्रदान किए हैं। उत्पत्ति स्थान के जलवायु के अनुरूप प्रत्येक पशु-पक्षी के बाह्य आवरण हुआ करते हैं। गङ्गा-यमुना के दोआब में रहने वाली गाय और हिम प्रदेश में विचरण करने वाले श्वेत रीछ की खालों के अन्तर को कौन नहीं जानता है ?

आदिम युग में मानव पेड़ों की छाल, पेड़ों के पत्ते अथवा पशुओं की खाल के वस्त्र बनाकर अपने शरीर को ढांकता था। आज दिन भी संसार के अनेक प्रदेशों में पाई जाने वाली जङ्गली जातियों के लोग पेड़ों की छाल तथा जानवरों की खाल के वस्त्र बनाकर विचरण करते हैं। शीत कटिबन्धु के निवासी जिन्हें हम ऐस्किमो कहते हैं, अभी भी सील मछली की खाल के वस्त्र बनाते तथा उसकी चर्बी को जलाकर शीत से अपनी रक्षा करते हैं।

मानव ने खेती करना, पशुओं को पालना आदि सीखा और वह सभ्यता की ओर अग्रसर हुआ। सभ्य होने के साथ-साथ उसने अपने तन को आच्छादित करने के साधनों पर भी ध्यान दिया। वह दिन मानव-समाज की एक बहुत बड़ी घटना होगा जिस दिन मानव ने वस्त्र का उपयोग सीखा होगा।

कपड़े का प्रयोग हाथ लगते ही वस्त्रों का स्वरूप निर्धारित हो गया होगा। भौगोलिक परिस्थितियों ने वस्त्र के स्वरूप को निश्चित कर दिया होगा। हम भली प्रकार देख सकते हैं कि 'जैसा देश वैसा वेश' वाली लोकोक्ति परिधान-व्यवस्था के आधार पर ही निर्मित हुई होगी। ठण्डे देशों के निवासी इस प्रकार के वस्त्र पहिनते हैं जिनके द्वारा उनका अङ्ग-प्रत्यंग ढका रहे और उनको गर्मी का अनुभव हो। इसके विपरीत गर्म देशों के निवासी अपने परिधान की इस प्रकार व्यवस्था करते हैं कि उनके अंगों को हवा लगती रहे और गर्मी के कारण उनको बेचैनी न हो। उदाहरणतः यूरोप के निवासी ऊन तथा खाल के वस्त्र पहिनते हैं

और भारत चीन आदि देशों के निवासी सूती तथा रेशमी वस्त्र धारण करते हैं।

जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप समाज विशेष की धारणाओं एवं मान्यताओं का निर्माण होता है। इन मान्यताओं के आधार पर उस समाज के व्यक्तियों के शील के संस्कार बनते हैं। इन्हीं के समुच्चय को संस्कृति कहा जाता है। संस्कृति हमारी मान्यताओं एवं समाजगत विशेषताओं की प्रतीक बन जाती है। इस प्रकार हमारी आवश्यकताओं को निश्चित करने में भौगोलिक परिस्थितिया के अतिरिक्त हमारी सांस्कृतिक आवश्यकतायें भी महत्वपूर्ण योग देती हैं। विभिन्न समाज अथवा देश के निवासियों द्वारा पहनी जाने वाली पोशाकों के स्वरूप पर इसी दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिए। सारांश यह है कि अपनी पोशाक का स्वरूप निश्चित करते समय हम दो बातों का ध्यान रखते है—(१) उसके द्वारा हमारे शरीर की रक्षा हो और (२) वह हमारी सांस्कृतिक मान्यताओं की प्रतीक हो। भारतवासियों की पोशाक भी इस नियम का अपवाद नहीं है।

भारतवासियों की प्राचीन कालीन पोशाक आज कल की पोशाक से सर्वथा भिन्न है। पहले केवल अपनी आवश्यकता को ध्यान में रख कर ही कपड़े पहने जाते थे। आप प्राचीन कालीन ऋषि-मुनि, और राजे आदि की पोशाकों के चित्र देखिए। आपको एक यह सामान्य तथ्य दिखाई देगा कि उनका वक्ष-स्थल प्रायः खुला रहता था। इसके दो कारण थे। एक तो इस देश का जलवायु और दूसरे उन लोगों का स्वास्थ्य। उन लोगों के शरीर का गठन इस प्रकार का दिखाई देता है कि उसके ऊपर सर्दी-गर्मी का सहज प्रभाव भी नहीं पड़ सकता था तथा वह प्रदर्शन की वस्तु भी थी। स्त्रियों की पोशाक सदा से ऐसी रही है कि वह उनके अङ्गों को ढक कर उनकी लज्जाशीलता की रक्षा कर सके।

धीरे-धीरे समय बदला, भारतवर्ष में विदेशी आए और उनके साथ भारतवासियों के सम्बन्ध बढ़े। सम्पर्क के साथ आदान-प्रदान की भावना आई। फलतः पोशाक को अधिक आकर्षक बनाने के लिए आवश्यक

परिवर्तन कर दिए गए। सिकन्दर आदि के आक्रमण के पश्चात् भारतवर्ष के सम्राटों एवं सैनिकों की पोशाक में काफी परिवर्तन दिखाई देता है। वीरों एवं सैनिकों की पोशाकें बहुत कुछ युद्ध के साधनों पर अवलम्बित होती हैं।

मुसलमानों का शासन स्थापित हो जाने के पश्चात् भारतवासियों की स्थिति सर्वथा भिन्न हो गई। वे शासित अथवा गुलाम बन गए और शासकों का अनुकरण करने को विवश हो गए। अपने शासकों की रजा में राजी होकर उनको उनकी तरह के वस्त्र भी धारण करने पड़े। यद्यपि मुसलमानों की पोशाक उनके उस निवास-स्थान के अनुरूप थी, जहाँ सदैव अंधड़ चला करते हैं, तथापि शासक होने के नाते भारतवासियों को भी वही पोशाक धारण करनी पड़ी। अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम एवं विजेता-पन के गर्व के कारण मुसलमान अपनी पोशाक को छोड़ते ही क्यों? इसका फल यह हुआ कि भारतवर्ष में धोती, उपर्नी, कुर्ता आदि के स्थान पर अँगरखा, चूड़ीदार पाजामा, अचकन आदि का चलन हो गया। अचकन आदि की सभ्यता की निशानी, शासक-वर्ग के साथ निकटता की निशानी बन गई। भारतवासियों की पोशाक के इतिहास में यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण अध्याय है। हमारा महिला-वर्ग भी इस प्रभाव से अछूता न रह सका। मुसलमान नारियाँ बुर्का ओढ़ती थीं। हमारे यहाँ चद्दर ओढ़ना जारी हो गया तथा घूँघट खींचने का रिवाज चल गया।

भारत में मुसलमानों का शासन लगभग ५०० वर्षों तक रहा। उसके बाद १९वीं शताब्दी में अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ तथा उनके साहित्य, उनकी सभ्यता, एवं उनकी संस्कृति ने भारतवर्ष और भारतवर्ष के निवासियों को प्रभावित किया। फलतः अंग्रेजी पोशाक हमारी सभ्यता का अंग बन गई। कोट, पतलून, नेकटाई, टोपी आदि को शिक्षा, सभ्यता राज-भक्ति, बड़प्पन आदि की निशानी समझा जाने लगा।

अंग्रेजी शासन का अन्त करने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन उठाया गया। उस आन्दोलन को भारतीय परिधान पहिनाने के विचार से कुर्ता-धोती को देश की प्रतिनिधि पोशाक माना गया। आन्दोलन राष्ट्रीय था

और राष्ट्र में हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही थे। अतः मुसलमानों की पोशाक अचकन एवं पाजामा को भी राष्ट्रीय पोशाक के रूप में मान लिया गया। इस प्रकार स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों में हमारी राष्ट्रीय पोशाक के प्रायः दो रूप निर्धारित हो गए—(१) कुर्त्ता धोती तथा (२) अचकन और पाजामा। यह बात दूसरी है कि कुछ लोगों ने इन पोशाकों के सुविधानुसार कुछ मिश्रित रूप भी बना लिए, जैसे कुर्त्ता-पाजामा, अचकन धोती।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् अन्य समस्याओं के साथ हमारे सामने एक यह भी समस्या उत्पन्न हुई कि हम भारतीयों की राष्ट्रीय पोशाक क्या हो अथवा हमको एक भारतवासी के रूप में क्या पहिनना चाहिए। हमारे कर्णधारों को प्रजातन्त्र स्थापित करना था तथा उनके लिए देश का प्रत्येक नागरिक परम प्रभुत्व सम्पन्न था। इस कारण उन्होंने इस ओर बहुत ही उदार दृष्टिकोण से विचार किया। उन्होंने राजनीतिक दलों, सरकारी कर्मचारियों और जनता के लोगों को पृथक् पृथक् देखा। कौंग्रेस की पोशाक तो वही पुरानी पोशाक रहने दी, अर्थात् कुर्त्ता-धोती अथवा अच-कन-चूड़ीदार पाजामा। सरकारी कर्मचारियों की पोशाक तय करते समय दो बातें सामने आई—(१) अधिकांश सरकारी कर्मचारी अंग्रेज एवं अंग्रेजी के भक्त होने के कारण कोट पतलून प्रेमी थे, तथा (२) उनकी पोशाक ऐसी होनी चाहिए थी जिसे पहिन कर वे नेताओं, मिनिस्टरों आदि से अलग ही दिखाई दें, साथ ही वे भारतीय भी लगें और चुस्ती के साथ काम भी करते रहें। इन सब बातों पर विचार रखते हुए यह निर्णय किया गया कि वे बन्द गले का छोटा कोट तथा पतलून पहिनें। ऐसा करके प्रभू की प्रभुता भी रह गई, साथ ही भारतमाता के पातिव्रत की भी रक्षा करने का संतोष मिल गया। सरकारी कर्मचारियों के पतलून-प्रेम का निर्वाह भी हो गया, बन्द गले के कोट के रूप में भार-तीयता भी रह गई और अचकन और कुर्त्ता से बचाकर नेता के पृथकत्व की भी रक्षा हो गई।

अब रह गई जनता! उसके लिए सबसे बड़ा अवलम्बन धर्म-निरपे-क्षता (Secularism) है। वह जो चाहे, सो पहिने। धोती, बुशशर्ट से

लेकर कुर्ता और घुटन्ना तक धारण करने को वह स्वतन्त्र है। यही कारण है कि आजकल आपको भाँति-भाँति के परिधान दिखाई देते हैं। यहाँ एक बात विशेष रूप से समझ लेनी चाहिए। कुर्ता-धोती कांग्रेस की पार्टी की उसी तरह पोशाक है जिस प्रकार पल्टन के लिए खाकी कमीज पतलून या नेकर। पार्टी के उत्सवों के अतिरिक्त वे लोग विदेशी कपड़े, पैण्ट, कोट, सभी कुछ पहिनने को स्वतन्त्र हैं। यही बात सरकारी कर्मचारियों के सम्बन्ध में भी है। औपचारिक अवसरों पर उनको बन्द गले का कोट और पतलून पहिनना पड़ता है। अन्यथा वे भी घुटन्ना, आवारा बुशशर्ट, कमीज पैण्ट आदि पहिनने को स्वतन्त्र हैं।

इस प्रकार पोशाक के क्षेत्र में अराजकता-सी फैली हुई है। हर व्यक्ति अपनी इच्छानुसार चाहे जो कुछ पहिन लेता है और इस क्षेत्र में राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व समाप्त हो गया है। यहाँ तक कि, शादी-विवाह आदिक सामाजिक, जातीय, सांस्कृतिक अवसरों पर पोशाक की औपचारिकता लुप्त प्रायः हो गई है। श्मशान यात्रा, बरात, भोजन, पूजन, आदिक प्रत्येक अवसर पर हमको पतलून, कमीज, बुशशर्ट का साम्राज्य दिखाई देता है। राष्ट्रीयता की प्रतिनिधित्व कुर्ता-धोती वाली पोशाक जनता से बहुत दूर जा पड़ी है। वह केवल राजनीति की अमलदारी के रूप में प्रश्रय प्राप्त करके अपना अस्तित्व बनाए हुए है।

इस सम्बन्ध में एक निवेदन कर देना परम आवश्यक है। वर्तमान वातावरण ने हमारे स्वास्थ्य पर बहुत ही गम्भीर प्रभाव डाला है। पुरुष वर्ग अपेक्षाकृत दुर्बल और नारी वर्ग अपेक्षाकृत सबल हो गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि पुरुष तो ऐसी पोशाकें पहिनते हैं जिनके कारण उनका प्रत्येक अंग ढका रहे और नारियाँ ऐसी पोशाकें पहिनती हैं जिनमें होकर उनके अंग प्रत्यंग झाँकते हुए दिखाई दें। प्राचीन काल में पुरुष अपने सुडौल शरीर का प्रदर्शन करते हुए वस्त्र धारण करते थे, आधुनिक काल में नारियाँ अपने सुगठित अंगों को दिखाने की इच्छुक हैं।

इतनी विभिन्न विचार धाराएँ और इतने ज्यादा रिवाज होने की

दशा में अब हमारे सामने समस्या यह है कि हम क्या पहिनें, हमारी पोशाक क्या और कैसी हो ?

पूज्य बापू हमारे राष्ट्र-पिता कहे जाते हैं। जनता और नेता, सभी बात पीछे उनकी दुहाई देते हैं। हमारे विचार से इस दिशा में भी उनके ही आदर्श द्वारा अपना पथ प्रशस्त किया जाना चाहिए। पूज्य बापू केवल एक धोती पहिना करते थे। सर्दी लगने पर कन्धे के ऊपर आवश्यकतानुसार सूती या ऊनी चद्दर ओढ़ लिया करते थे। उनका विचार था कि देश के जलवायु एवं देश की आर्थिक स्थिति के अनुसार ही हमारा परिधान होना चाहिए। यही कारण था कि वह अपनी उसी पोशाक में इंगलैण्ड के सम्राट एवं भारत के शाहन्शाह पंचम जार्ज से मिलने चले गए थे। इंगलैंड के राजनीतिक नेताओं ने भले ही उनको अर्द्धनग्न भिखारी (Half naked Fakir) कह कर पुकारा था, परन्तु उनका दृढ़ निश्चय था कि भारतवर्ष का हर निवासी फकीर है, वह इससे अधिक कपड़े पहिन ही नहीं सकता है तथा व्यक्ति का व्यक्तित्व पोशाक पर नहीं बल्कि उसके गुणों पर आधारित होता है। सारांश यह कि अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी वह दम्भ एवं दिखावे के विरोधी थे। हमें चाहिए कि हम बापू के इन विचारों से प्रेरणा प्राप्त करके अपने देश की परिस्थितियों के अनुरूप अपनी पोशाक के स्वरूप को निश्चित करें।

कुछ लोग कह सकते हैं कि कमीज-पतलून का पहिनना सस्ता रहता है। वे बहुत दिनों तक चलते हैं और धोती-कुर्त्ता की अपेक्षा उनकी धुलाई में भी कम खर्च होता है। हमारा निवेदन है कि यह केवल कहने भर की बातें हैं। धोती कुर्त्ते को अपने हाथ से धोया जा सकता है, पतलून, कमीज की अपेक्षा उन पर लोहा करने का व्यय बहुत कम आता है और उनकी सिलाई के खर्चे का तो कोई मुकाबला ही नहीं है। सबसे बड़ी परेशानी यह है कि मशीन और आराम तलबी के इस युग में हम 'चर्खा' चलाने की बात को एकदम भूल गए हैं। वरना बापू ने तो वह मन्त्र बताया था कि न हल्दी लगे, न फिटकिरी और रंग चोखा आए। अस्तु

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सरकारी कर्मचारियों के लिए औपचारिक परिधान के रूप में बन्द गले का कोट बिल्कुल ठीक है, उसके साथ धोती, पाजामा, अथवा पैंट पहिना जा सकता है। सार्वजनिक जीवन में नेता और जनता का भेद भाव व्यर्थ है। सबको यथाशक्ति कुर्ता धोती अथवा कुर्ता-पाजामा पहिनने पर जोर देना चाहिए। इतना ही नहीं सरकारी पोशाकें तो केवल खद्दर की ही होनी चाहिए ताकि विदेशों के निवासी तुरन्त यह समझ लें कि वे चर्खा-धारी महात्मा गाँधी के देश से आए हुए हैं। हमारी पोशाक हमारी मान्यताओं एवं परम्पराओं की प्रतीक होनी चाहिए।

---

(४३) निबन्धकार शुक्ल जी

रूप-रेखा

(१) निबन्ध की व्याख्या।
(२) हिन्दी के निबन्ध साहित्य का संक्षिप्त परिचय।
(३) शुक्ल जी का युग एवं उनकी निबन्ध-कृतियाँ।
(४) शुक्ल जी की निबन्ध-शैलियाँ।
(५) शुक्ल जी की शैली की विशेषताएं।
(६) उपसंहार—शुक्ल जी का निबन्ध-साहित्य में स्थान।

रचना, प्रबन्ध, संदर्भ, गद्य-विधान और लेख, ये शब्द समान अर्थी हैं। भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपनी रुचि के अनुसार इन शब्दों को निबन्ध के पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया है।

'निबन्ध' शब्द अंग्रेजी के 'Essay' शब्द के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। स्वतन्त्रता, संक्षिप्तता, प्रसाद-गुणयुक्तता आदि सभी विशेषताएँ उसके अन्तर्गत आ जाती हैं।

निबन्ध विचार-प्रधान गद्य-रचना है और उसका विचार-तत्व, भाव-तत्व को संयत रखता है। प्रयत्नशीलता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता और स्वतन्त्रता निबन्ध के प्रमुख गुण हैं। जिस तत्व के द्वारा हम लेखक के

साथ एक प्रकार के तादात्म्य, भावात्मक साहचर्य का अनुभव करने लगते हैं, वह 'वैयक्तिकता' कहलाता है।

'निबन्ध' की व्याख्या करते हुए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत ही महत्वपूर्ण शब्द लिखे हैं। यथा—

"निबन्ध एक ऐसी रचना है जिसमें किसी विषय से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञात और अज्ञात तथ्यों का संकलन उसकी बौद्धिक प्रतिपत्ति के लिए किया जाता है।"

निबन्ध गद्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। हिन्दी के गद्य-साहित्य को अंग्रेजी साहित्य एव अंग्रेजी शासन की देन माना जा सकता है—वह शतप्रतिशत आधुनिक युग की वस्तु है। इसी कारण हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल को इतिहासकारों ने 'गद्य-काल' कहा है। निबन्ध के लिए हिन्दी संस्कृत साहित्य की बिल्कुल ऋणी नहीं है, क्योंकि संस्कृत में निबन्ध लेखन की परम्परा अप्राप्य है। हिन्दी का निबन्ध-साहित्य अंग्रेजी के 'Essay' के अनुकरण पर विकसित हुआ है।

हिन्दी का निबन्ध साहित्य लगभग १०० वर्ष पुराना है। वह भारतेन्दु युग से आरम्भ होता है। यद्यपि उसके पहले भी एक दो अव्यवस्थित निबन्ध पाए जाते हैं तथापि निबन्ध की व्यवस्थित परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ ही आरम्भ होती है।

निबन्ध-साहित्य को विकास क्रम के अनुसार तीन भागों में विभक्त किया जाता है। आरम्भ का युग भारतेन्दु युग कहा जाता है। इस युग में विषय और भाषा दोनों ही दृष्टियों से निबन्ध अपनी आरम्भिक अवस्था में था। निबन्धों के विषयों में गम्भीरता का अभाव था, वे प्रायः मनोरंजक एवं चलते हुए विषयों पर ही लिखे जाते थे, और उनकी भाषा दोषपूर्ण हुआ करती थी।

भारतेन्दु युग में यद्यपि पर्याप्त निबन्ध लिखे गए और हिन्दी साहित्य के एक अंग विशेष की पूर्ति भी हो गई, तथापि विषयों में गम्भीरता एवं शैली में शुद्धि लाने की आवश्यकता बनी हुई थी। इस आवश्यकता की पूर्ति आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा की गई। द्विवेदी जी ने भाषा

की अशुद्धियों की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया और नए-नए विषयों पर निबन्ध लिखने का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार उन्होंने निबन्ध-शिशु को एक नवीन जीवन प्रदान किया और उसको अपने पैरों पर खड़े होने योग्य बना दिया। मध्यकाल को द्विवेदी युग कहने का यही तात्पर्य है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल इसी युग की देन हैं।

द्विवेदी युग के पश्चात् सन् १९३६ से वर्तमान युग आरम्भ होता है। इस युग में भाव और भाषा सभी दृष्टियों से निबन्ध साहित्य परिपक्व और परिष्कृत हो गया है, तथा उच्चकोटि के अनेक लेखक माता भारती का भाण्डार भर रहे हैं।

शुक्ल जी ने समीक्षात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक निबन्ध लिखे हैं। समीक्षात्मक निबन्धों में उनके द्वारा लिखी गई सूरदास, तुलसीदास तथा मलिक-मोहम्मद जायसी की आलोचनाएँ आती हैं। इन आलोचनाओं के फलस्वरूप ये कविगण अमर हो गए हैं। इतना ही नहीं, ये आलोचनाएँ इतनी पूर्ण एवं विश्लेषणात्मक हैं कि आजतक हिन्दी का कोई अन्य लेखक इनसे अधिक श्रेष्ठ आलोचनाएँ प्रस्तुत नहीं कर सका है। इनके मनोवैज्ञानिक एवं साहित्यिक निबन्धों का संग्रह 'चिन्तामणि' में संग्रहीत है। इनका निबन्ध 'काव्य में रहस्यवाद' एक स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित है। इनके द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि है।

आचार्य शुक्ल के निबन्धों का विभाजन एक अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है—आलोचनात्मक, गवेषणात्मक और मनोविकार सम्बन्धी। ये निबन्ध 'चिन्तामणि' के दो भागों में संग्रहीत हैं। प्रथम भाग में १७ निबन्ध हैं, जिनमें दस भावात्मक या मनोवैज्ञानिक हैं—भाव या मनोविकार का सामान्य परिचय, लज्जा, भय, क्रोध आदि विषयों पर। शेष ७ निबन्धों में कविता की परिभाषा, काव्य में लोक-मंगल की साधना, साधारणीकरण, रसात्मक बोध-सिद्धान्तों पर चार, तुलसी और मानस पर दो और एक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर, हैं। भाग दो में तीन निबन्ध हैं—काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद तथा काव्य में प्राकृतिक दृश्य।

निबन्ध-रचना की विभिन्न शैलियों के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने लिखा है कि "निबन्ध या गद्य विधान के कई प्रकार होते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, और वर्णनात्मक। प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का सुन्दर मेल भी करते हैं। लक्ष्य-भेद से कई प्रकार की शैलियों का व्यवहार भी देखा जाता है। जैसे, विचारात्मक निबन्धों में व्यास और समास रीति भावात्मक निबन्धों में धारा, तरंग और विक्षेप की रीति। × × × शैलियों के अनुसार गुण दोष भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं।"

शुक्ल जी ने निबन्धों के अनुरूप ही शैलियाँ अपनाई हैं। यथा—

(क) गहन समीक्षात्मक शैली—यह गंभीर, संयत और मार्मिक है। वाक्य छोटे-छोटे हैं। विषय का प्रतिपादन बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है। भाव समझने में कोई कठिनाई नहीं होती है। इस प्रकार के निबन्धों में जब व्यंग्य का मिश्रण हो जाता है, उस समय निबन्ध निखर उठता है। 'तुलसी का भक्ति मार्ग' और 'मानस की धर्म-भूमि' इसी कोटि के निबन्ध हैं।

(ख) गवेषणात्मक शैली—इस प्रकार की शैली किसी हद तक पुष्ट हो गई है। यथा—"सौंदर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं। कलापक्ष से देखने में जो सौंदर्य है, वही धर्म पक्ष से देखने में मंगल है।"

उक्त उदाहरण के द्वारा शैली की एक बहुत ही महत्वपूर्ण विशेषता सामने आ जाती है। विषय भी स्पष्ट हो जाता है, साथ ही प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में लेखक का मन्तव्य भी स्पष्ट हो जाता है।

(ग) भावात्मक शैली—इस शैली के निबन्धों में विषय सरल हैं परन्तु विचार-संगठन घनीभूत हो जाता है। छोटे वाक्य इस शैली की विशेषता है। शैली का रूप कुछ व्याख्यात्मक है। इस कोटि के निबन्धों में शुक्ल जी ने अपने व्यक्तित्व की छाप के साथ विषय के आंतरिक पक्ष का विशेष रूप से उद्घाटन किया है।

शुक्ल जी के निबन्धों में उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, अतलदर्शी प्रतिभा एवं नवोन्मेषशालिनी बुद्धि का परिचय प्राप्त होता है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पग पग पर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

शुक्ल जी अध्यापक थे। अतः उनकी शैली में अध्यापकोचित समस्त विशेषताएँ पाई जाती हैं। वह एक कुशल अध्यापक की भाँति इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखते हैं कि पाठक के सम्मुख प्रतिपाद्य विषय सर्वथा स्पष्ट हो जाए। इसके लिए वे कई साधनों का प्रयोग करते हैं। जैसे—वह पैराग्राफ के अन्त में 'सारांश' दे देते हैं, उनका प्रत्येक पैराग्राफ एक प्रकार से किसी एक वाक्य का भाष्य होता है, उस वाक्य को वह सूत्र रूप में पैराग्राफ के आरम्भ में लिख देते हैं, विषय अस्पष्ट होने पर वह सजीव उदाहरण देकर पाठक को किसी प्रकार की उलझन में नहीं पड़ने देते हैं, वह विषय को स्पष्ट करने वाले सर्वाधिक उपयुक्त शब्द का प्रयोग करते हैं। ऐसा करते हुए उन्होंने संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी, देशज आदि शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया है। विषय को रुचिकर एवं गतिशील बनाने के लिए वह लोकोक्तियों, मुहावरों तथा हास्य का उपयोग करते चलते हैं।

शुक्ल जी के हास्य के सम्बन्ध में यह निवेदन करना है कि वह शिष्ट एवं स्मित हास होता है, वह बड़े आदमियों का मजाक होता है। उसके द्वारा पाठक की हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल जाती है और विषय दुरूह होने पर भी नीरस नहीं हो पाता है, पाठक का चित्त ऊबता नहीं है।

शुक्ल जी ने मनोविज्ञान-सम्बन्धी निबन्धों को साहित्यिक ढाँचे में ढाल कर अपने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। मनोविज्ञान जैसे नीरस एवं शास्त्रीय विषय को सरस साहित्यिक रूप में प्रस्तुत करना केवल उन्हीं जैसे जीवन-द्रष्टा की सामर्थ्य थी। उनके निबन्धों में वस्तुतः हृदय और बुद्धि का पूर्ण सामंजस्य पाया जाता है। 'चिन्तामणि' की भूमिका के अन्तर्गत लिखे हुए उनके ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

"इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति अनुसार कुछ कहता

गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।"

इस कथन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि निबन्ध लिखते समय जहाँ शुक्ल जी का आलोचनात्मक मस्तिष्क आन्तरिक भावों का साक्षात् कराने में समर्थ होता है, वहाँ उनका हृदय भी सक्रिय बना रहता है, अथवा प्रतिपाद्य विषय पर उनके व्यक्तित्व की छाप पड़ती चलती है।

शुक्ल जी पहले सिद्धान्त निर्धारित कर लेते हैं, फिर उसके बाद अपना मत स्थापित करते हैं। उदाहरण के लिए, कविता की परिभाषा करते हुए वह लिखते हैं कि "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"

कविता की इस परिभाषा के अन्तर्गत भावपक्ष और कलापक्ष, दोनों ही स्पष्ट होकर कविता का स्वरूप साकार हो उठता है।

शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में विषय और व्यक्तित्व दोनों को समान स्थान प्रदान किया है। यही कारण है कि उनके निबन्धों का विशिष्ट महत्व है। विचारात्मक होने के कारण इनके निबन्ध विषय-प्रधान तो हैं ही, पर साथ ही उनके ऊपर लेखक के व्यक्तित्व की गहरी छाप भी है।

शुक्ल जी के निबन्धों में उनके विचारों के साथ, भावुकता, हास्य, व्यंग्य, विनोद का पुट उनकी बहुत बड़ी विशेषता है। विचारों के शुष्क तन्तुवाय के पीछे से उनका कोमल एवं भावात्मक हृदय झाँकता हुआ दिखाई देता है।

उन जैसा गम्भीर अध्ययन एवं विषय का सांगोपांग विवेचन परवर्ती निबन्धकारों में बहुत कम पाया जाता है।